डाक-पंजीयन म.प्र./भोपाल/4-472/2021-23
पोस्टिंग दिनांक : प्रतिमाह दिनांक 2 से 3, पृष्ठ सं. 142
प्रकाशन दिनांक : 1 से 1 प्रतिमाह

आर.एन.आई क्र. : 38470/83
आई.एस.एस.एन. क्र. : 2456-7167

अक्षरा

217

साहित्य की मासिकी

मूल्य 50/-

41 वाँ वर्ष

अप्रैल 2023

साधो सबद साधना कीजै
अजित वडनेरकर

स्तंभ
रामेश्वर मिश्र पंकज,
कुसुमलता केडिया

अनुवाद
विभा खरे

पुण्य स्मरण
प्रकाश मनु, शैवाल सत्यार्थी

आलेख
अरविंदाक्षन, सुषमा मुनीन्द्र,
रंजना अरगड़े, अरविंद त्रिपाठी,
सूर्यकांत नागर, आनंद सिंह,
सुधीर कुमार शर्मा, स्मृति शुक्ल,
आनंद प्रकाश त्रिपाठी, नीरज खरे आदि

आत्मकथ्य
उर्मिला शिरीष

संस्मरण
रमेश दवे

अक्षरा
अंक-217
मूल्य 50/- रुपये

वरिष्ठ छायाकार
जगदीश कौशल

माखनलाल चतुर्वेदी

जन्म 4 अप्रैल 1889
प्रयाण 30 जनवरी 1969

श्री माखनलाल चतुर्वेदी का जन्म 4 अप्रैल 1889 को मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले के बाबई गाँव में हुआ था। आपने प्राथमिक शिक्षा के बाद घर पर ही अंग्रेजी, संस्कृत, बांग्ला, गुजराती भाषाओं का अध्ययन किया। लेखक, साहित्यकार, कवि एवं पत्रकार श्री चतुर्वेदी जी ने महात्मा गाँधी के नेतृत्व में आज़ादी के लिए किए गए राष्ट्रीय आंदोलनों में भी सक्रिय भाग लिया, जिसके कारण उन्हें अनेक बार जेल की यात्राएँ करना पड़ीं। आपने वर्ष 1913 में प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'प्रभा' और बाद में खण्डवा से प्रकाशित 'कर्मवीर' साप्ताहिक समाचार पत्र का सम्पादन किया। आप 1934 में हिंदी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष बने। युगचरण, समर्पण, साहित्य देवता, हिमतरंगिणी, वेणु लो गूँजे धरा जैसी साहित्यक कृतियों की रचनाकार हिंदी साहित्य जगत में नये कीर्तिमान स्थापित किए।

हिंदी साहित्य में अभूतपूर्व योगदान के लिए आपको 1955 में साहित्य अकादमी पुरस्कार, 1959 में सागर विश्वविद्यालय द्वारा डी. लिट्. की उपाधि और 1963 में भारत सरकार द्वारा पद्मभूषण से सम्मानित किया गया। आपको 'एक भारतीय आत्मा' के सम्बोधन से भी स्मरण किया जाता है। आपके नाम पर भोपाल में माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय की स्थापना की गई है। मध्यप्रदेश साहित्य अकादमी द्वारा देश की किसी भी भाषा के योग्य कवि को माखनलाल चतुर्वेदी पुरस्कार प्रदान किया जाता है। 4 अप्रैल 1977 को आपके 88 वें जन्म दिन पर भारत के डाकतार विभाग द्वारा आपके सम्मान में विशेष डाकटिकट भी जारी किया गया है।

अक्षरा

217

यू.जी.सी. द्वारा मान्यता प्राप्त
41 वाँ वर्ष

मनोज श्रीवास्तव
प्रधान सम्पादक

जवाहर कर्नावट
प्रबंध सम्पादक

जया केतकी
सम्पादन सहयोग

सुधा बाथम
अक्षर–संयोजन

वार्षिक सदस्यता शुल्क : 500 रुपए
दस वर्षीय सदस्यता शुल्क : 5000 रुपए
एक प्रति 50 रुपये
विदेशों के लिए : एक अंक : 10 डॉलर, वार्षिक : 120 डॉलर
चेक या ड्राफ्ट 'म.प्र. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति- 'अक्षरा' के नाम देय
ऑनलाइन पेमेंट के लिये- इंडियन बैंक, हिन्दी भवन शाखा, भोपाल
Ac/ No. 50413818696, IFSC- IDIB000T610

सम्पर्क : म.प्र. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, हिन्दी भवन, श्यामला हिल्स, भोपाल - 462002 (म.प्र.)
दूरभाष : 0755- 2660909, 2661087, ई-मेल - myakshara18@gmail.com
hindibhawan.2009@rediffmail.com
वेबसाइट - www.akshara.page, www.madhyapradeshrashtrabhasha.com

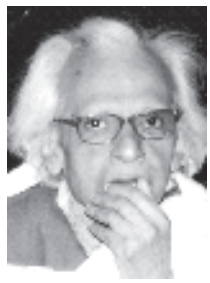

पद्मश्री से सम्मानित साहित्यकार डॉक्टर कृष्ण बिहारी मिश्र जी का 7 मार्च 2023 को निधन हो गया। श्री मिश्र ने 90 साल की उम्र में कोलकाता स्थित आवास पर आधी रात को अंतिम साँस ली। उनके निधन की जानकारी उनके बड़े बेटे कमलेश मिश्र ने दी। वे पिछले एक महीने से अस्वस्थ थे। कृष्ण बिहारी मिश्र को अस्पताल से डिस्चार्ज किए जाने के बाद परिजन घर ले आए थे। 1 जुलाई 1936 को बलिया बिहार में जन्मे श्री कृष्ण बिहारी जी की पत्रकारिता पर जातीय चेतना और खड़ी बोली साहित्य की निर्माण भूमि, बेहया का जंगल और मकान उठ रहे हैं जैसे ललित निबंध संग्रह समेत दस से अधिक पुस्तकें प्रकाशित और प्रशंसित हैं। वे नश्वर संसार से अनन्त की यात्रा पर निकल पड़े, अपने ठाकुर यानी रामकृष्ण परमहंस की खोज में। कृष्ण बिहारी मिश्र के गाँव बलिहार (बलिया) में उनकी स्मृतयों को सँजोने के लिए एक सभागार का निर्माण करवाया जाएगा। (कृष्ण बिहारी जी ने रामकृष्ण परमहंस की जीवनी पर 'कल्पतरु की उत्सव लीला' पुस्तक लिखी।)

वरिष्ठ पत्रकार डॉ. वेदप्रताप वैदिक भारत के ऐसे पहले विद्वान हैं, जिन्होंने अपना अंतरराष्ट्रीय राजनीति का शोध-ग्रंथ हिंदी में लिखा। उन्होंने अपनी पीएचडी के शोधकार्य के दौरान न्यूयॉर्क की कोलंबिया यूनिवर्सिटी, मॉस्को के 'इंस्तीतूते नरोदोव आजी', लंदन के 'स्कूल ऑफ ओरिंयटल एंड अफ्रीकन स्टडीज़' और अफगानिस्तान के काबुल विश्वविद्यालय में अध्ययन और शोध किया। 78 साल की उम्र में। 14 मार्च, 2023, मंगलवार को उनका निधन हो गया। डॉ. वैदिक पत्रकारिता ने राजनीतिक चिंतन, अंतरराष्ट्रीय राजनीति, और हिंदी के क्षेत्र में लंबे समय तक काम किया। उनका जन्म 30 दिसंबर 1944 को इंदौर में हुआ था। अंतरराष्ट्रीय मामलों में जानकार होने के साथ ही उनकी रूसी, फारसी, जर्मन और संस्कृत भाषा पर पकड़ रही। डॉ. वैदिक ने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के 'स्कूल ऑफ इंटरनेशनल स्टडीज' से अंतरराष्ट्रीय राजनीति में पीएचडी की उपाधि प्राप्त की। वे भारत के वरिष्ठ पत्रकार, राजनैतिक विश्लेषक, पटु वक्ता, हिन्दी एवं भारतीय भाषाओं के पक्षधर थे। वे हिन्दी को भारत और विश्व मंच पर स्थापित करने की दिशा में सदा प्रयत्नशील रहे। भाषा के सवाल पर स्वामी दयानन्द सरस्वती, महात्मा गाँधी और डॉ. राममनोहर लोहिया की परम्परा को आगे बढ़ाने वालों में डॉ. वैदिक का नाम अग्रणी है। वैदिक जी अनेक भारतीय व विदेशी शोध-संस्थानों एवं विश्वविद्यालयों में 'विजिटिंग प्रोफेसर' रहे। भारतीय विदेश नीति के चिन्तन और संचालन में उनकी भूमिका उल्लेखनीय है। अपने पूरे जीवन काल में उन्होंने लगभग 80 देशों की यात्रायें कीं।

सूर्यप्रकाश चतुर्वेदी क्रिकेट समीक्षक, लेखक और इतिहासकार थे। वे हिन्दी में क्रिकेट पर लिखने वालों में अग्रगण्य लेखक थे। सूर्यप्रकाश चतुर्वेदी का जन्म 7 नवम्बर, 1937 को इंदौर (मध्य प्रदेश) में हुआ। वे इंदौर के गवर्नमेंट आर्ट्स एंड कॉमर्स कॉलेज में अंग्रेजी के प्रोफेसर थे। वहाँ उन्होंने पैंतीस साल तक पढ़ाया। उन्होंने कॉलेजियम स्तर पर क्रि केट खेला, इंदौर विश्वविद्यालय और क्रिश्चियन कॉलेज, इंदौर में मध्य क्र म के बल्लेबाज के रूप में प्रतिनिधित्व किया। उन्होंने इंदौर संभागीय क्रिकेट एसोसिएशन के लिए आठ साल तक मानद सचिव तथा इंदौर स्पोर्ट्स राइटर्स एसोसिएशन के अध्यक्ष के रूप में पाँच साल तक काम किया। वे आकाशवाणी और दूरदर्शन पर एवं यू.जी.सी. के कार्यक्रमों में उद्घोषणा के अतिरिक्त क्रिकेट का विश्लेषण भी करते रहे। पेशे से प्राध्यापक होने के बावजूद क्रिकेट के प्रति अपनी विशिष्ट अभिरुचि के कारण प्रो. सूर्यप्रकाश चतुर्वेदी विगत लगभग चार दशकों से देश के विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में क्रिकेट पर हिन्दी में प्रामाणिक तौर पर लिखते रहे। आरम्भ में खेल-रिपोर्टों के बाद उन्होंने धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान, रविवार (पत्रिका) जैसी प्रसिद्ध पत्रिकाओं के लिए और जनसत्ता, नवभारत टाइम्स और दैनिक भास्कर जैसे अखबारों के लिए भी लिखा। उन्होंने विजय हजारे की पुस्तक 'मैं और मेरे समकालीन' के हिन्दी अनुवाद के साथ शुरुआत की। प्रो. चतुर्वेदी के लेखन से पूर्व क्रि केट जैसे लोकप्रिय खेल के इतिहास और विकास पर हिन्दी में कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं थी। उन्होंने इस लोकप्रिय खेल से सम्बद्ध इतिहासनुमा पुस्तकों के अतिरिक्त विभिन्न खिलाड़ियों एवं अंपायरों के जीवन एवं उपलब्धियों पर केंद्रित पुस्तकें भी लिखीं। सी के नायडू - 1995 (प्रकाशन विभाग, भारत सरकार) मुश्ताक अली-1997,

आजाद भारत में क्रिकेट –2000, हमारे आज के क्रिकेट सितारे–2003, नंबर एक कौन और क्यों ? सचिन, वॉ या लारा –2003, विश्व क्रिकेट और भारत–2005, भारतीय स्पिन गेंदबाजी की परम्परा –2007, ऑलराउंडर्स –2007, हमारे कप्तान : नायडू से धोनी तक–2010 , भारत के विकेटकीपर्स –2011, क्रिकेट अंपायर्स–2012, बाईस गज की दुनिया–2015। उन्हें विभिन्न एसोसिएशन और सोसायटी द्वारा सम्मानित किया गया है। उनमें से प्रमुख हैं द इंदौर डिविजनल क्रिकेट एसोसिएशन। अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा साहित्य प्रचार समिति। 2016 में एमपीसीए का माधवराव सिंधिया लाइफटाइम अचीवमेंट अवार्ड। 23 फ रवरी 2023 को उन्होंने अंतिम साँस ली।

हजारों पत्रकारों के पीपी सर अब नहीं रहे। 7 मार्च 2023 देर रात हार्ट अटैक आने के बाद उन्हें तत्काल अस्पताल में भर्ती कराया गया जहाँ डॉक्टरों ने उन्हें बचाने की कोशिश की लेकिन उन्हें बचाया नहीं जा सका। माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय में पत्रकारिता विभाग के विभागाध्यक्ष रह चुके 2015 में वह मध्यप्रदेश जनसंपर्क विभाग में मुख्यमंत्री के ओएसडी नियुक्त हुए थे। मध्य प्रदेश शासन के जनसंपर्क विभाग में आने के पहले उन्होंने माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय में 21 वर्षों तक अध्यापन किया। पहले लेक्चरर रहे, फिर रीडर, उसके बाद एसोसिएट प्रोफेसर। पत्रकारिता विभाग में वे वर्ष 2005 से 2015 तक अध्यक्ष रहे। वे अपने विद्यार्थियों में एक जिंदादिल इंसान के तौर पर बहुत प्रिय रहे। उन्होंने वर्ष 2011 में विज्ञान भारती की पत्रिका साइंस इंडिया का संपादन किया। इधर प्रकाशित हुई उनकी तीन किताबें जनसंपर्क : बदलते आयाम, पर्यटन लेखन, देश समाज और गाँधी चर्चा में रहीं। पुष्पेन्द्र पाल के परिवार में माता–पिता के अलावा बेटी शान और बेटा शिवपाल हैं। उनकी पत्नी का पहले ही निधन हो गया था। पीपी सर के निधन से पूरा पत्रकारिता जगत सदमे में है। उनके पढ़ाए हुए छात्र आज देश दुनिया के सभी प्रमुख पत्रकारिता संस्थानों में अहम पदों पर हैं। कई ने प्रशासकीय सेवा भी ज्वाइन की है। पुष्पेंद्र पाल सिंह बच्चों की मदद के लिए हमेशा खड़े रहते थे। कई बार उन्होंने विद्यार्थी के पास फीस के पैसे नहीं होने पर फीस भी भरी है। वे इस समय एक किस्म के प्रशासनिक सह राजनीतिक काम में व्यस्त थे। अगर ईमानदारी से कहा जाए तो वह सच में 18 घंटे काम करते थे और हमेशा मुस्कुराते हुए। सार्वजनिक कायक्रमों में वह जहाँ जाना नहीं भी चाहते थे, आयोजक का लिहाज कर चले जाते थे।

दुष्यंत कुमार स्मृति पांडुलिपि संग्रहालय के संस्थापक निदेशक, रेडियो उदघोषक और साहित्यकार राजुरकर राज का मंगलवार रात बैतूल के जिला अस्पताल में निधन हो गया। वह 62 वर्ष के थे और बीते कुछ महीनों से बीमार चल रहे थे। उन्हें पैंक्रियाज में ट्यूमर था, जिसका पाँच बार आपरेशन करवा चुके थे और अब आयुर्वेद से इलाज करवा रहे थे। पिछले दो माह से उनकी तबियत काफी बिगड़ गई थी और लगातार खराब होते स्वास्थ्य के कारण वे बैतूल के पास अपने पैतृक गाँव में ही रहकर अपना इलाज करवा रहे थे। इलाज के दौरान 15 फरवरी 2023 रात को उनका देहांत हो गया। कवि और गजलकार दुष्यंत कुमार के अनन्य भक्त राजुरकर राज ने अपना पूरा जीवन उनकी कीर्ति को स्थापित करने में लगा दिया। भोपाल के साउथ टीटी नगर में दुष्यंत संग्रहालय की स्थापना की थी। वे कवि और स्तंभकार भी थे। पड़ाव नामक मासिक पत्रिका का संपादन करते थे। 25 वर्ष पहले अपने घर के दो कमरों में इन्होंने यह संग्रहालय शुरू किया था। वे कहते थे कि, इस जगह से मेरे जज़्बात जुड़े हैं। मैं सिर्फ अपने चाहने वालों और दुष्यन्त कुमार स्मृति संग्रहालय के नियमित दानदाताओं की हिम्मत से ही जिंदा हूँ। अब मेरी जिंदगी की आखिरी ख्वाहिश है कि यह संग्रहालय किसी तरह अपने पैरों पे खड़ा हो जाये। हिंदी के अप्रतिम, अतुलनीय गजलकार, कवि, कथाकार दुष्यंत कुमार की स्मृति को अक्षुण्ण बनाये रखने का बेहद जरूरी काम करते रहे। आज भोपाल में स्थित दुष्यंत कुमार स्मारक पांडुलिपि संग्रहालय देश के नक्शे पर अपने होने का जगमग सितारा है। जहाँ दुष्यंत कुमार की हस्तलिपि में उनकी कई गजलें तो हैं ही कालजयी कथाकार कमलेश्वर का बहुचर्चित उपन्यास काली आँधी भी उनकी हस्तलिपि में सुरक्षित रखा है।

अक्षरा एवं हिंदी भवन परिवार की विनम्र श्रद्धांजलि

'अक्षरा' का यह अंक वरिष्ठ कहानीकार उर्मिला शिरीष पर केन्द्रि है। यों उर्मिला जी ने उपन्यास भी लिखे हैं पर उनका प्रमुख जोर कहानी पर है और यह बात सिद्ध करती है कि कहानी का आत्मसम्मान रखने वाले लोग हमारे हिंदी साहित्य में हैं। उपन्यास लिखे बिना एक कहानीकार पूर्ण नहीं, यह हिंदी में नहीं माना जाता। प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद के कारण हिंदी साहित्य में संभव हुआ कि कहानी को किसी हाशिये पर धकेलने की कोशिश नहीं हुई जबकि अंग्रेजी साहित्य में उसे 'अ फार्म अट द मार्जिन्स' के रूप में दिखाया गया। वहाँ शार्ट स्टोरी उपन्यास की बहुत बड़ी छाया के भीतर सकुचाई–सी रही परंतु हिंदी साहित्य में वह एक ऐसी विधा की तरह आई जिसे न केवल अस्मिता–बोध है बल्कि उसका गौरव भी है। दरअसल अंग्रेजी साहित्य में कहानी के लिए कोई स्वतंत्र नाम भी नहीं है, वहाँ उसे 'शार्ट स्टोरी' कहकर काम चलाया जाता है जिसका हिंदी अनुवाद लघुकथा होगा और वह एक दूसरी ही विधा है। जैसे कहानी नाटा उपन्यास नहीं है, वैसे ही लघुकथा नाटी कहानी नहीं है। सब अपनी–अपनी महिमा में प्रतिष्ठित हैं।

कई बार हम कथा को कहानी से फर्क न करके उन्हें एक दूसरे के पर्याय की तरह बरतते हैं। पर उर्मिला शिरीष की कहानियाँ बताती हैं कि वे कहानी क्यों हैं। इनका जो कथावस्तु के साथ बर्ताव है, उनकी अनुक्रम के साथ स्वच्छंद मैत्री है और जो एक 'मूल' को अंतिम पृष्ठ पर पहले लिखकर फिर पहले पृष्ठ से वहाँ आखिर तक पहुँचने की एक यात्रा है जिसमें बीच में कहीं भाषा को नृत्य भी करना है और कहीं किसी तथ्य की छाया तले आलाप भी लेना है, वे सब कहानी को कथा से अलग धरातल पर रखते हैं। जो कहते हैं कि कहानी जीवन का एक टुकड़ा होती है, जीवन नहीं, वे कृपया उर्मिला शिरीष की कहानी '**आशिक अली**' तो पढ़ें? क्या उसमें जीवन के किसी एक एपिसोड का वर्णन है या उस एपिसोड की पूरी पृष्ठभूमि का? और वह पृष्ठभूमि सिर्फ उसके पात्रों की व्यक्तिगत पृष्ठभूमि नहीं है। उसमें इस युग के सारे सामाजिक–राजनीतिक सदमे हैं। वह इन्सान को न देखकर उसके कोष्ठक देखने की त्रासदी है? पर वह एक अकहानी–सी कहानी है, जो किसी आसान–से फार्मूले में उन तनावों का समाधान भी नहीं ढूँढ़ती जो अस्तित्विक–से हुए जा रहे हैं और सदा साक्षी और निरपेक्ष रहने वाली आत्मा को भी अब चुभने लगे हैं। कोई जागतिक चेतना नहीं बची। जो भी कुछ बचा है, उस पर कोई न कोई लेबल लगा है। मुसीबत है उस मनुष्य की जो वर्गीकृत नहीं हो सकता।

दंगों पर अकादमिक शोध बहुत हो जाते हैं, कठोरकंठ जिन्दा प्रसारण भी, लेकिन कोई उस अनुभव में वैसे नहीं ठहरता जैसे आशिक अली का लाठी खाकर हमेशा को झनझना गया मस्तिष्क ठहर गया है। और उर्मिला जी का कहानीकार भी वहाँ रुकता है, वह तेज–तेज स्वर में रिपोर्टिंग कर मीडिया वैन में वापस नहीं हो जाता। वहाँ रुकना न विराम है, न विश्राम। बस उस अनुभव को अपने भीतर भर लेना है, खींच लेना है अपनी साँसों में उस

गंध को। आशिक अली यदि एक विडम्बना की तरह लिखी कहानी है तो सांप्रदायिकता का वह पूरा सच नहीं है। सच के आगे का एक और सच है जिसे हम इस कठिन दौर में भी साँस लेता हुआ आशावाद कह सकते हैं। इसलिए यदि आशिक अली में कोई प्रच्छन्न–सा टैग आरोपित होने की शिकायत भी करता तो '**सच के आगे का सच**' कहानी उसकी भी क्षति पूर्ति कर देती है। यह कहानी जिस शहर की है, उसका नाम कहानी में लिया ही नहीं गया है। पर जिस तरह के ब्यौरे हैं, उससे वह कहानीकार का अपना शहर भोपाल लगता है। नाम न लेना शायद इसलिए है कि यह भारत के किसी भी शहर की कहानी हो सकती है। इसलिए भी है कि पढ़ने वाले इसे कोई स्थानीय समस्या न समझ लें। दंगों पर ये कुछ बहुत महत्त्व की कथाएँ उर्मिला जी ने रची हैं। यहाँ दंगा प्रशासन की मुश्किल की तरह नहीं आया है, यह मानवीय रिश्तों की मुश्किल की तरह आया है। हम आजकल बड़े जोर से प्रतिवेशी प्रभाव (नेबरहुड इंपैक्ट) और पड़ोस–पुलिसिंग की बात करते हैं, विकेन्द्रीकरण के युग में पड़ोस–सरकार (नेबरहुड गवर्नमेंट) की भी बात होती है, लेकिन पड़ोस की गतिकी को जिस तरह से रिश्तों की बुनावट या उसकी उधड़न में उर्मिला जी ने अपनी इन कहानियों में पकड़ा है, वह हिन्दी कहानी के इतिहास में एक स्वागतेय घटना है। उनकी कहानियाँ बताती हैं कि वैश्वीकरण के इस दौर में भी पड़ोस का बचा रहना कितना जरूरी है और यह पड़ोस, जिसे बचाने के लिए उर्मिला जी की कहानियाँ इतनी व्यग्र नजर आती हैं, समावेशी होने की चिंता वाला पड़ोस है। इसकी वैधता इसके सह–अस्तित्व में है। यह पड़ोस Ghetto नहीं है। यह एक रंग वाला मोहल्ला आधुनिक समय में सुरक्षा का एक आश्वासन माना जाता है पर उर्मिला जी सुरक्षा की वास्तविक गारंटी उस भावना को मानती हैं जो इस ghetto feeling को लाँघती है। पड़ोस भी प्रतिवेशिता को, पड़ोसपन को लाँघ कर ही सार्थकता संभव कर पाता है, उर्मिला जी की कहानियाँ इस मधुर अन्तर्विरोध को सिद्ध कर दिखाती हैं। उनकी इन दोनों कहानियों में प्रमुख पात्र की शारीरिक मृत्यु नहीं होती है। पर एक कहानी में उसकी सामाजिक मौत (सोशल डेथ) हो जाती है और दूसरी में वही दुर्घटना प्रमुख पात्र को एक सामाजिक पुनर्जन्म–सा देती है और ये दोनों कहानियाँ उर्मिला जी की रेंज को बताती हैं।

उर्मिला जी अपने पाठक को हमेशा एक निश्चित गंतव्य तक पहुँचाने का बोझ लेकर नहीं चलतीं। जैसे उनकी एक कहानी '**पत्ते झड़ रहे हैं**' की सूत्रधार तो एक स्टेशन पर उतर जाती है पर उसका पाठक नहीं उतर पाता। उस कहानी के रोमांटिक नायक ने तो जीवन का अपना स्टेशन तय कर लिया पर उसके पाठक का मन आंदोलित ही रह गया। वह एक दुखांतिका है जिसने एक स्वस्थ पिता को एकदम दुबला–पतला और बेनूर कर दिया है। डॉक्टरी की पढ़ाई से कहीं ज्यादा, उसका यह नायक गणित पढ़ा हुआ लगता है। सूत्रधार स्वयं भी शब्द है पर हैं दोनों व्यावहारिक। उनके बीच में पिसकर रह गयी वह लड़की जिसके हाल का कोई पता इसलिए कहानीकार उर्मिला नहीं देतीं कि जैसे वह इस कहानी के इन दो असंवेदनशील भाई–बहनों के लिए कभी महत्त्व की थी ही नहीं, जैसे उर्मिला जी की कहानी भी कोई कविता है जो अपना पोयटिक जस्टिस करती है। ये दोनों भाई–बहन उस लड़की का पता पाने के कभी अधिकारी ही नहीं थे। पर उस पोयटिक जस्टिस से कहीं ज्यादा वह सूत्रधार के मन का चोर है जो अपने ही भाई के हाथों धोखा खाई सीमा के बारे में ज्यादा पूछताछ करने से उसे रोकता है, हालाँकि सूत्रधार के सामने बर्थ पर सीमा के पिता की जो हालत है, वह सीमा के बारे में किसी ज्यादा बड़ी त्रासदी की ओर इशारा करती है जिसे जानने का नैतिक प्राधिकार तो क्या, नैतिक साहस भी सूत्रधार में नहीं है। उर्मिला जी की कहानियों में कई बार अंत से ज्यादा वहाँ तक पहुँचने का रास्ता हौलनाक होता है। जैसे उनकी कहानी 'चीख' है। यह आँखों में आँसू

उतार देने वाली कहानी है? बलात्कार के हादसे से गुज़री हुई लड़की के इस मनोविज्ञान में एक लीक से हटकर बात यह है कि यहाँ विक्टिम खुद को दोषी ठहराने वाले मनोविज्ञान में नहीं ग्रस्त बताई गई और समाज भी उसके प्रति असहनशील नहीं बताया गया। इसके बावजूद इस कहानी का एक एक वाक्य रुला देने वाला है। यहाँ कोई बलात्कारी को किसी तरह से उचित या नार्मलाइज़्ड करने की कोशिश, लड़की के व्यवहार पर बहुत हृदयहीन टिप्पणी करके, नहीं कर रहा। तब भी पीड़िता लड़की और उसके परिवार के एक एक सदस्य का संत्रास पाठक को भीतर तक हिला देता है। यह कहानी पाठक को सभ्य बनाने वाली कहानी है। उस समाज को भी जो चोरी या डकैती के लिए तो कभी उस व्यक्ति को निजी तौर पर जिम्मेदार नहीं बताता जिसके यहाँ चोरी या डकैती हुई। परन्तु बलात्कृता के बारे में उसकी निजी जिम्मेदारी का आकलन जरूर ही करने लगता है। इस कहानी का अंत बस अंत के लिए किया गया अन्त है। अन्यथा इस कहानी की वशिमा इसके अंत से पहले के ब्यौरों में है। वे ब्यौरे जो जरा-से भी फार्मूलाई नहीं हैं। अमेरिकी लेखक जे एसर के 2007 के उपन्यास 'थर्टी रीज़न्स व्हाय' की बलात्कृता नायिक हाना बेकर तो आत्महत्या कर लेती है, पर 'चीख' की नायिका लड़की भय के नरक से गुजरने के बाद उठ खड़ी होती है।

'**बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु**' शीर्षक कहानी तो मैंने बहुत पहले वागर्थ में पढ़ी थी और इसे पढ़कर मुझे रामचंद्र शुक्ल की 'उसने कहा था' कहानी पर टीप बेसाख्ता याद आई थी- 'घटना इस की ऐसी है जैसे बराबर हुआ करती है, पर उसमें से भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झाँक रहा है-केवल झाँक रहा है, निर्लज्जता के साथ पुकार या कराह नहीं रहा। कहानी भर में कहीं प्रेम की निर्लज्जता, प्रगल्भता, वेदना की वीभत्स विवृत्ति नहीं है। सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुँचता। इसकी घटनाएँ ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।' लेकिन मुझे यह खयाल भी आए बिना नहीं रहा कि 1915 से लेकर 21 वीं सदी तक के इस प्रहर तक आते -आते बहुत कुछ बदल भी गया है। तब तो फिर भी परंपरा थी, सात्त्विक संस्कार थे, पवित्रता थी लेकिन हमारे समय में जहाँ ऐसे अशरीरी प्रेम की कल्पना कर पाना भी संभव नहीं है, वहाँ उर्मिला जी ने इतनी नाजुक, संवेदना वाली कहानी कैसे लिख ली? कभी जब मैं इस कहानी की तुलना '**पत्ते झड़ रहे हैं**' से करता हूँ तो यह फ़र्क़ और भी तुर्श होकर उभरा नजर आता है। वहाँ एक नई पीढ़ी का जयन्त है जिसे किसी के प्यार को अपने कैरियर के लिए रौंदना तब भी जरूरी लगता है जब वह अपनी प्रेमिका के साथ थोड़ा फिज़िकल भी हो गया हो और उधर 'बाँधो न नाव इस ठाँव, बन्धु' के पिता जी और मौसी हैं जो एक कोमल भावना को और उससे उपजने वाले दायित्व को पूरे जीवन भर निबाहते हैं। जयन्त तो बहुत बोल लेता है, लेकिन बाबूजी और मौसी के बीच की कोमलता अकथित है। क्या बाबूजी 1915 की कहानी पढ़कर बड़े होने वालों की पीढ़ी के हैं। क्या जयन्त चैनल-स्विचिंग पीढ़ी का है। उर्मिला जी की ये दोनों कहानियाँ एक-दूसरे पर अपनी-अपनी रौशनी डालती हैं और अपने पाठक के चेहरे को कुछ ऐसे ही सवालों से दीप्त कर जाती हैं। एक कहानी को प्रेम का यथार्थ और दूसरी को प्रेम का यूटोपिया कहकर इन प्रश्नों को निराकृत नहीं किया जा सकता। जयन्त यथार्थवादी है या क्या है, भगवान जाने, पर **बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु** के बाबू जी बिना किसी दंभ, घोषणा या प्रयत्न के सच्चे रोमांटिक हैं, जिनका कभी न आया मधुमास जैसे हमेशा जारी रहा। लेकिन जैसे कि पीढ़ीगत सामान्यीकरण भी अन्यायी न हो जाए तो इसी कारण इस बंधु वाली कहानी में एक सूत्रधार बेटा जैसे उन भावनाओं को जीता और समझता है। वह जैसे उन संवेदनाओं और संवेगों का वास्तविक उत्तराधिकारी है।

ऐसी बातें उम्र के बारे में कोई फ़ार्मूला नहीं बनातीं, यह उर्मिला जी अपनी एक और लंबी कहानी '**उसका अपना रास्ता**' की दो बहनों के दो भिन्न तरह के आचरण से भी सिद्ध करतीं हैं। मॉडलिंग की दुनिया बाहर से जितनी चकाचौंध भरी है, अंदर उतना ही अँधेरा है। उसमें जितना सेंसुअलिटी है, उतनी सिगरेट है। जितनी 'गेज़' है, उतनी दृष्टिहीनता है। लेकिन सौंदर्य-प्रतियोगिता पुरुषों की नहीं होती। हद से हद तक उनकी बॉडी-बिल्डिंग के आधार पर उन्हें मिस्टर फलाँ या ठिकाना। पर उन्हें निर्णीत करने के लिए 'स्त्री जज' भी नहीं होतीं। एक 'गेज़' वहाँ पैदा नहीं होती? पुरुष ही पुरुष का मूल्यांकन करते हैं, इसके पीछे की असमानता और परतंत्रता समझने की बुद्धि ठोकर खाने के बाद ही आती है। ड्रग्स वहाँ इसलिए जरूरी हैं कि चेतना और प्रज्ञा की उपस्थिति आपत्तिजनक मानी जाती है। वरण-स्वातंत्र्य के नाम पर 'उसका अपना रास्ता' निकल तो आता है पर मंजिल नहीं मिलती। वे लड़कियाँ रास्ते पर चलती तो है, पहुँचती कहीं नहीं। वरण की आजादी में फँसकर उस जगह आ खड़े होती हैं जहाँ कोई आपका वरण ही न करना चाहे। सुपर मॉडल होना और रोल मॉडेल होना-दो अलग-अलग बातें हैं। यह कहानी आधुनिक लड़की के मोहभंग की कहानी है।

ऐसा नहीं है कि उर्मिला जी व्यवस्था की आलोचना से कोई परहेज करती हैं। उनकी **कुर्की** या **एम. एल. सी.** जैसी कई कहानियां हैं जो व्यवस्था पर ही हैं पर उनसे यह अपेक्षा करना त्रुटिपूर्ण है कि वे व्यवस्था की खबर लें और उससे जुड़ी हुई सामाजिकताओं पर कोई टिप्पणी न करें। अब एम. एल. सी. थाने में FIR कराने की प्रक्रिया पर ही नहीं है, वह इस पर है कि क्या स्त्री की अपनी स्पेस नहीं है। अवमानवीकृत (dehumanised) तो हो ही चुकी है वह मानवी। उस अंचल के हालात ही अफीम ने ऐसे बना दिये हैं। नशे की लत में अपनी ही औरत के के पास गैरमर्दों को भेजने वाले मर्द। यह एक गलाज़त भरी दुनिया है जिसमें नशाखोरी की वास्तविक उजरतें पीने वाले के द्वारा नहीं बल्कि उसकी पत्नी होने का दुर्भाग्य ढोने वाली स्त्रियों के द्वारा अदा की जा रही हैं। उनका शरीर भी जैसे पति की संपत्ति है जिस पर इतना भी हक़ स्वयं स्त्री को नहीं है कि वह किसी अपनी पसंद के मर्द को आहूत कर सके। यहाँ नैतिकता और सामाजिक मर्यादा के प्लेटफार्म भी टूट चुके हैं तब सवाल स्त्री के आत्म-स्थापन का ही रह जाता है, उसकी आस्तित्विक स्वायत्तता का। कहानी में थानेदार, डॉक्टर सब व्यवस्था के नुमाइंदे हैं, पर कहानी उनकी नहीं है, इस स्त्री की है जो अपने भीतर का लोहा खोज रही है। यही बात '**कुर्की**' कहानी की है जिसमें यों तो कुर्की की सरकारी प्रक्रियाओं तथा ऋण की औपचारिक व्यवस्थाओं की निर्वैयक्तिताओं का संदर्भ है, लेकिन ये सब चीजें व्यक्ति के धरातल पर ही घटती हैं और वहाँ इनकी रासायनिक प्रतिक्रियाएँ अपनी तरह की दुखांतिकाएँ रचती हैं।

जिसमें रिश्तों की विश्वसनीयताएँ दाँव पर लग जाती हैं? एक पारंपरिक समाज में जहाँ सम्बन्धों का आज भी बड़ा मान है, अविश्वास के कुछ कड़वे शब्द आज भी प्राणघातक सिद्ध होते हैं। पर असल कटुताएँ उस संदर्भ से पैदा होती हैं जहाँ कर्जदार किसान आत्महत्या करने पर मजबूर हो रहे हैं। यहाँ आत्महत्या नहीं है, ग्लानि है और मृत्यु का कारण भी वही है पर यह मृत्यु भी ऐसी मार्मिकता से वर्णित हुई है कि हत्या जैसी लगती है। इसी के साथ-साथ यदि 'बिवाइयाँ' कहानी पढ़ लें तो किसानों की वर्णित आत्महत्या में वह मृत्यु-चक्र पूरा होता है। एक में औपचारिक व सरकारी कर्ज है तो दूसरे में साहूकारी कर्ज। पर जो भारतीय किसान के कर्ज में ही जन्म लेने और कर्ज में ही मर जाने वाली दुर्गति है, वह दोनों में है और यह भी एक सवाल है कि हमारे यहाँ इन दोनों ही ऋणदाता सरणियों का सह-अस्तित्व अभी तक कैसे बना हुआ है। क्यों

साहूकार के यहाँ भी आज तक उतनी ही भीड़ लगी रहती है, कम नहीं होती। इन दोनों ही पर कहानी लिखी जाना ही तो वास्तविक विडम्बना है, क्योंकि बैंक तो साहूकारी का विकल्प होने का दावा करते थे। यह 'रामाय स्वस्ति रावणाय स्वस्ति' का सर्वोदय ही यह बताता है कि कुछ तो गड़बड़ है। साहूकारी शोषण के विरुद्ध अधिनियम भी बने हुए हैं पर वे ऐसी कहानियों की सचाई को निरस्त नहीं कर पाये, यही समस्या है। उधर बैंकों की औपचारिक व्यवस्था को एक यांत्रिक तरह से चलना है, वहाँ तो एक लोन के लिए क्षेत्र के बाकी सारे बैंकों की शाखाओं से नो ड्यूज़ लाते लाते ही बिवाइयाँ फट जाती हैं। यह '**बिवाइयाँ**' कहानी यों तो एक अखबारी खबर से खत्म होती है, लेकिन वहाँ से नैरेटिव अदृश्य न हो जाये, इसलिए उसे एक निजी अनुभव की तरह प्रस्तुत किया गया है, हालाँकि वह निजी अनुभव भी मात्र एक साक्षी की तरह है, दखल की तरह नहीं, तब लगता है कि 'जाके पैर न फटे बिवाई' वाली बात भी सच ही है। सामान्यत: कहानी में जो एक केन्द्रीय फ़िगर है, वह प्राय: प्रभावी होता है, लेकिन इस नायिका के बस में कुछ नहीं है। पर शायद वही दर्द है जो इस कहानी को विश्वसनीयता देता है। वह पीर पराई जानने वाली तो है, भले ही उस पीड़ाका कोई सरलीकृत भी समाधान उसके पास न हो। लेकिन यह कहानी अपने किसी चरित्र की कहानी भी नहीं है बल्कि वे किसान पति-पत्नी भी वैयक्तिक नहीं हैं, प्रातिनिधिक हैं। यह कहानी एक दृश्य है, कोई कथानक भी नहीं। वह दृश्य जो अखबार की कतरनों में घुल जाता है। कथा नहीं, बस उसका एक लैंडस्कैप।

और ऐसा नहीं है कि व्यवस्था की आलोचना करने वाली उर्मिला जी स्वयं साहित्यिक दुनिया में तेजी से घुसपैठ कर रही उत्सवप्रियता को दुर्लक्ष्य करती हैं। उनकी एक बड़ी लंबी कहानी है '**संयोजक**'। वह कोई फ्लैश-फिक्शन नहीं है। जिस तरह से 'उसका अपना रास्ता' में उन्होंने सौंदर्य प्रतियोगिताओं की असली असुंदरता दिखाई थी, उसी तरह से यह 'संयोजक' कहानी साहित्य में बढ़ती जा रही फेस्ट संस्कृति पर एक टिप्पणी है। यह कहानी अन्तत: व्यावसायिकता पर सच्चे सृजन की विजय की कहानी है और वह यह भी बताती है कि जो लोग साहित्यिक प्रोत्साहन-कार्यक्रमों को किसी सौंदर्य प्रतियोगिता की तरह आयोजित करते हैं। वे अपने भाषण को तैयार करने में स्वयं को लगाने की जगह अपने मेकअप-लिपस्टिक में व्यस्त नजर आते हैं। कई बार तो 'संयोजक' कहानी की महिमा और अचला मुझे उर्मिला शिरीष के रचनाकार के भाषिक चुनाव की प्रतीक नज़र आती हैं। यानी एक तरफ अचला है जो बहुत शानो-शौकत से, बहुत सजावट और अलंकृत 4 5 6 तरह से सामने आती है जबकि दूसरी ओर महिमा है जो सिर्फ अपने रचनात्मक काम से काम रखती है।

उर्मिला जी की कहानियों में वह भाषा-रति नहीं मिलेगी जो 'रेत-समाधि' जैसे उपन्यासों में मिलती हैं। उनकी कहानियाँ भाषा की मदमत्तता की कहानियाँ नहीं हैं। वह दैनिक जीवन के प्रवाह की भाषा है और बहुत मेक अप करके नहीं आती। वह सादगी से एक ऐसी पार्टी में आ खड़ी हुई है जहाँ बहुत-सी लिपी-पुती आधुनिकाएँ हैं। लेकिन यदि सादगी का सौंदर्य न पहचान कर किसी को उथले ही, सतही ही प्रभावों में लिप्त रहना है तो वह दूसरी ओर ही देखे। यह सरलता बहुत कठिनता से कमाई गई है। और इसमें इतनी ईमानदारी है कि भाषा के जरिये अपने पाठक को मैनिप्युलेट करना भी इसे नैतिक नहीं लगता है। यहाँ इसे अदा नहीं दिखाना है, न रिझाना है। वह आ गई है इस महफिल में एक परिपक्व बुद्धि के साथ और शोहदों या लफंगों की दाद उसे चाहिए भी नहीं है। वह विशेष रूप से प्रायोगिक भाषा भी नहीं है, लेकिन उसमें पारदर्शिता है और अपने कथ्य के प्रति सम्पूर्ण समर्पण है। इन कहानियों में ही नहीं, उनके उपन्यासों में भी भाषिक

नवाचारों का आग्रह नहीं है। वह अनलंकृत गद्य है। उसमें कोई अतिशयोक्ति भी नहीं देखने मिलती। यह उनकी कमजोरी की तरह नहीं है। यह वह गरिमा है जो भाषिक भावुकतावाद से चमत्कृत नहीं है। इसकी लिपि 'आब्जर्वेशन' में है, ब्यौरों और बारीकियों को पकड़ने में। जैसे कविता को उसके छन्द, उसके अलंकार में न पकड़कर उसकी लय में पकड़ा जाता है, उसी तरह से उर्मिला जी की भाषा की लय को पकड़िए तो उनकी कहानियों-उपन्यासों को पढ़ने का ज्यादा आनंद उठा पाएँगे। आपको लगेगा कि वह एक परिचित भाषा है पर दरअसल वह परिचय कराने में व्यस्त भाषा है। उस भाषा का कोई अपना आंतरिक मनोविश्लेषणवादी जीवन नहीं है। वह तो ऐसी दुनिया में निकली हुई है जहाँ तरह- तरह के चरित्र हैं, भाँति-भाँति के हालात। और उन सबकी स्मृति ही उर्मिला जी की भाषिक स्मृति है। इसलिए उनकी अधिकतर कहानियाँ और उपन्यास 'था' या 'थी' या 'थे' में चलते हैं, पास्ट-टेंस में। इससे उन्हें अपने कहे हुए को एक क्रोनोलॉजिकल तरह से देखने-दिखाने की सुविधा हो जाती है।

इससे यह भी पता लगता है कि उर्मिला जी ने भले ही बहुत ज्यादा कहानियाँ लिखी हों और उपन्यास तीन ही हों, पर उन्हें सदा ही उपन्यासकार होना ही होना था क्योंकि उनके भीतर वह एक क्रोनोलॉजी पकती ही रहती है। उनकी कहानियाँ भी 'क्षण' की दीप्ति-सी नहीं लगतीं। इसका यह अर्थ यह नहीं कि उनकी विवरणात्मक भाषा में सारस्वत अर्थ नहीं निकाले जाते। यों देखें तो संयोजक कहानी की 'अचला' वह है जो यों तो बड़ी प्रगतिशील, बड़ी प्रोग्रेसिव है पर जैसा कि कहानी से पता चलता है कि वास्तव में वह जड़ है और कहानी के अंत में महिमा का यश देखकर उसे काठ मार भी जाता है। दूसरी ओर इसी कहानी की 'महिमा' है जो अपनी सहज महिमा से ही प्रतिष्ठित है। इसलिए भाषा की रूपकात्मकता उर्मिला जी की कहानियों में नहीं है, यह कहना भी ठीक नहीं। पर वह कहीं भी सायास नहीं लगती। उर्मिला जी प्रयत्नसाधित रूपकों वाली कहानियाँ नहीं लिखतीं।

उर्मिला जी के उपन्यासों में उनकी वही बारीक दृष्टि बनी हुई दीख पड़ती है। '**खैरियत है हुजूर**' नामक उपन्यास का शीर्षक प्रथमदृष्टया किसी व्यंग्य उपन्यास का आभास देता है, पर है वह न्याय की धीमी रफ्तार वाली चक्की में पिसते निर्दोषों की कथा। यह वैसा कोर्टरूम ड्रामा नहीं है जिसे हम आए दिन चलचित्रों में देखते हैं। यह कोई कानूनी थ्रिलर भी नहीं है। यह कानून की चक्की की सामाजिकता वाला उपन्यास है। कहते हैं कि विलम्बित न्याय अन्याय है, लेकिन विलंबित न्याय की कीमतें परिवार चुकाते हैं। अन्त में दशकों बाद कभी मुक्त हो भी गये तो भी उन व्यंग्यों, उपहासों, संदेहों, आत्म-संशयों की कोई भरपाई नहीं है। यहाँ उर्मिला शिरीष जी की कहन के कुछ राज़ और खुलते हैं। वे किसी ज्ञान को अनुभव में बदलती हैं। यह बात तो कहावत की तरह सबको ज्ञात है कि न्याय में देरी न्याय का निषेध है। लेकिन वह पति-पत्नी के सम्बन्धों का भी निषेध है। वह उस मुकदमे में फँसे हुए व्यक्ति की अस्मिता और विश्वसनीयता का भी निषेध है। वहाँ अपनी ही संतान के साथ सच बोलने का भी निषेध है और जरा बड़े स्तर पर देखें तो वह देश की प्रगति और विकास का भी निषेध है। बिना कोई बड़े-बड़े भाषण दिये और बिना किसी तर्कों और आंकड़ों में उलझे उर्मिला जी इस पूरी बात को अपने पात्रों पर गुजार कर देखती हैं। यह अकादमिकता से बाहर आकर दुनिया को देखना है। यह न्याय-कक्षों और उनके कटहारों से बाहर निकलकर दुनिया को देखना है। और यह इसलिए देखना है कि उनके बाहर भी दुनिया है और उसका इस तरह से खानों और खाँचों में वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। इसलिए यह उपन्यास किसी तरह से-पाठ्यगत परिधि में जुड़ने (textual engagement) का उपन्यास नहीं है (यह

समस्या के साथ ज्यादा भावनात्मक निवेश के साथ, ज्यादा मानवीय होकर जुड़ने का उपन्यास है। यहाँ जो व्यक्ति हैं। वे आरोपी भर नहीं हैं। वे किसी–के पति हैं, भाई हैं। पिता हैं, बेटे हैं, दोस्त हैं, सहकर्मी हैं, पर इन सब पहचानों पर हावी हो जाती है वह एक पहचान जो आरोपी को अभियुक्त बना चुकी होती है। सच्चाइयाँ तो यही हैं पर हम इन्हें 'फिक्शन' कहते हैं। इन परिसरों में 'लीगल फिक्शन' की अनुमति है पर इन क्षतियों और घावों को जो सच में होते हैं, जिन्हें लीगल फिक्शन तक के रूप में भी अंदर आने की इज़ाज़त नहीं है। उर्मिला जी अपने फिक्शन, अपने उपन्यास का अंग बनाती हैं। अदालतों में वकीलों और न्यायाधीशों के काले कोट हैं, अभियोजन और बचाव पक्ष के लोग हैं, मुंशी जी हैं। चपरासियों की पुकारें हैं–बहुत बहुत से मामले और मुकदमों की चहलपहल है। पर इस रेलमपेल में आरोपी का अकेलापन कहीं नजर से खो गया है। उर्मिला जी की निगाहें वहीं टिक जाती हैं। उस बाहरी 'केऑस' के बीच से वे उस भीतरी तूफान के स्नैप शाट्स खींच ही लेती हैं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि उर्मिला जी की कहानियों या उपन्यासों से कभी असंतुष्टि नहीं होती। यों तो कोई भी सर्वथा दोषमुक्त नहीं। उर्मिला जी की कहानियाँ सचाई से दो चार तो कराती हैं पर कभी कभी वे वहीं जड़–सी हो जाती हैं। तब वे एक आँखों देखा हाल तो बताती हैं, पर कहानी नहीं बतातीं। अब जैसे–'ऐ देश बता तुझे हुआ क्या है' के सारे ब्यौरे बहुत मार्मिक हैं–कोरोना की अवधि के समय देश की हालत सबने देखी ही थी। तब इस कहानी में कुछ रहस्य–सा नहीं खुलता। कहानी तो अज्ञान से ज्ञान की ओर ले जाती है, पर यहाँ ज्ञात से ज्ञात की ओर ही जाना है। कोई कहानी मुझे तभी संतुष्ट करती है जब वह किसी साधारण वृत्त या वर्णन के भीतर से किसी नयी ऊर्जा को उन्मुक्त करती है और किसी बाहरी दृश्यावली को अंत में भीतर तक ऐसे धँसा देती है कि हमें लगता है ओह! इस दृश्य के लिए यह भी दृष्टि थी एक। जरूरी नहीं कि ओ' हेनरी की तरह ही इन कहानियों का ऐसा अन्त हो कि आखिरी पंक्ति, आखिरी शब्द पर पाठक का मुख खुला का खुला रह जाये। कहानियों पर यह भी तो जरूरी है कि– टी. एस. इलियट के शब्दों में इसे किसी रिरियाहट में खत्म नहीं होना चाहिए। उस अंत तक पहुँचते–पहुँचते कोई तनाव तो शिखर तक पहुँचना चाहिए। कोई पंच, कोई ट्रिक भी न हो तो कहानी या उपन्यास का अन्त एकदम अहिंसावादी लगने लगता है। तो कभी कभी जैसे विष्णु खरे के यहाँ कुछ असफल कविताएँ भी मिलती हैं, वैसे ही उर्मिला शिरीष के यहाँ कुछ असफल कहानियाँ भी हैं। जैसे वाइक्लिफ ए. हिल की एक कहानी को सेसिल बी. डिमेल ने यह कहकर खारिज कर दिया था कि–'इट हेड अ गुड नैरेटिव बट नो ड्रामा, वैसे ही उर्मिला जी के कुछ प्रयासों के बारे में कहा जा सकता है। वैसे शुक्र है कि ऐसे उदाहरण उनके यहाँ कम ही हैं।

बहरहाल हम इस अंक को हिन्दी की इस और ऐसी कहानीकार पर एकाग्र करते हुए आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं जिसका संज्ञान लिये जाने का समय कब का आ चुका था। देर आयद दुरुस्त आयद।

(मनोज श्रीवास्तव)

राम–रज, 3–पारिका–फेज 2, चूना भट्ठी, कोलार रोड, भोपाल–462016 (म.प्र.)

मो –9425150651

ईमेल–shrivastava_manoj@hotmail.com

अनुक्रम - अंक 217 अप्रैल 2023

सम्पादकीय

साधो सबद साधना कीजै

घूरे के दिन फिरना यानी अच्छे दिन आने वाले हैं / **अजित वडनेरकर/12**

धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित समाज शास्त्र -2

मानवधर्म का संरक्षण विश्व के सभी राज्यों का कर्तव्य है/**रामेश्वर मिश्र पंकज/14**

राजसूय महायज्ञ का अनुष्ठान/**कुसुमलता केडिया/17**

अनुवाद

पुलपल्ली की सीता कुटि **(मूल : इंदु चिंता)** / **अनु. विभा खरे/20**

पुण्य स्मरण

बड़े अनुभवों के बड़े कथाकार : शैलेश मटियानी / **प्रकाश मनु/23**

हिंदी के हास्य-पितामह : जी.पी. श्रीवास्तव / **शैवाल सत्यार्थी/35**

आलेख

यथार्थ का समतल बनाम यथार्थ का खुरदरापन / **अरविंदाक्षन/38**

सशक्तीकरण की ओर बढ़ते स्त्री पात्र / **सुषमा मुनीन्द्र/44**

खूबसूरत मोड़ पर पहुँचा अफ़साना-बयाबां में बहार/ **रंजना अरगड़े/48**

उर्मिला शिरीष के उपन्यास में स्त्री मुक्ति की अवधारणा / **अरविंद त्रिपाठी/53**

जटिल यथार्थ का सुलझा शिल्प / **सूर्यकांत नागर/59**

उर्मिला शिरीष की कहानियों में जीवन का वैविध्य / **आनंद सिंह/61**

उर्मिला शिरीष के उपन्यासों में भारतीय समाज का ग्लोबल संदर्भ / **बिभा कुमारी/68**

साहित्य और संस्कृति को समर्पित व्यक्तित्व : डॉ. उर्मिला शिरीष / **सुधीर कुमार शर्मा/72**

उर्मिला शिरीष की कहानियों का आयतन/ **स्मृति शुक्ल/74**

उर्मिला शिरीष की कहानियाँ : मानवीयता के उत्स की खोज / **आनंद प्रकाश त्रिपाठी/79**

गुजरना सजा से इंसाफ के लिए / **नीरज खरे/87**

चाँद गवाह की हरितभाषा / **के. वनजा/92**

चाँद गवाह उपन्यास में वैयक्तिक स्वातंत्र्य/ **पद्मा शर्मा/97**

यथार्थ के धरातल पर मर्म उकेरतीं : उर्मिला शिरीष की कहानियाँ / **हिदायत अहमद खान/101**

परिवार, प्रेम और गृहस्थी के सवालों का गवाह चाँद / **अरुणाभ सौरभ/105**

शोध आलेख

उर्मिला शिरीष की कहानियों में आधुनिकता बोध/ **गोविंद सिंह मीना/108**

चाँद गवाह : स्त्री मुक्ति का संघर्ष / **सुनीता अवस्थी/112**

आत्मकथ्य/

मेरे लिए साहित्य ही सर्वोपरि है / **उर्मिला शिरीष/114**

साक्षात्कार

उर्मिला शिरीष से जया केतकी की बातचीत/**118**

लेखक की कलम से

बाबू की पूजा/ **उर्मिला शिरीष/122**

संस्मरण

उर्मिला शिरीष : आत्मीयता का कथा-राग/ **रमेश दवे//129**

उर्मिला जी प्रथम भेंट में ही व्यक्ति की रचनात्मकता को भाँप लेती हैं / **अशोक मनवानी/135**

पत्रांश/136

घूरे के दिन फिरना यानी अच्छे दिन आने वाले हैं

– अजित वडनेरकर

जन्म – 1962।
शिक्षा – हिंदी साहित्य में स्नातकोत्तर उपाधि।
रचनाएँ – पाँच पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – राजकमल प्रकाशन का विद्यानिवास मिश्र कृति पांडुलिपि सम्मान।

कूड़ा यानी बेकार का ढेर :– हिन्दी क्षेत्रों में आमतौर पर घूरा का आशय कचरा फेंकने का स्थान है। किसी स्थान पर एकत्रित कचरा या कूड़ा–कर्कट भी घूरा कहलाता है। कूड़े की बात चली है तो जान लिया जाए कि इसमें मूलत: ऊँचाई, शिखर, चोटी जैसे भाव हैं। किसी तय जगह बेतरतीबी से फेंके पदार्थों का अम्बार अन्तत: ऊँचा उठता जाता है। बेकार अथवा खराब हो चुकी चीज़ें आख़िरकार त्याग दी जाती हैं। ऐसी वस्तुओं का ढेर ही कूड़ा कहलाता है। मगर मूल भाव है ढेर। थोड़ी देर के लिए अट्टालिका शब्द पर विचार करें। इसका अर्थ है गगनचुम्बी भवन। अट्ट यानी ऊँचा, शिखर। प्रकारान्तर से अम्बार। बेकार वस्तुओं को कबाड़ भी कहते हैं और अटाला भी। यहाँ भी ऊँचे ढेर का आशय ही है। 'अटाल' में ऊँचाई का बोध कराने वाले अट्ट पर ग़ौर करना चाहिए। सामन अटा पड़ा है में ठूँस–ठूँस कर एक के ऊपर एक रखे जाने का आशय है।

अटाला यानी बेकार का अम्बार :– संस्कृत में पर्वत, पहाड़, शैल, शिखरों के लिए कूट शब्द प्रचलित है जैसे– त्रिकूट, आम्रकूट, हिमकूट, इन्द्रकूट, ऋषभकूट, भस्मकूट आदि। ग़ौर करें, उपयोगी पदार्थों का संचय किया जाता है। उन्हें व्यवस्थित सहेजा जाता है। अट्टाल की तरह ऊँचा ढेर नहीं बनने दिया जाता। ज़ाहिर है, अनुपयोगी पदार्थ सीमित, संकुचित जगह पर बेपरवाही से छोड़ दिए जाते हैं जो धीरे–धीरे ढेर बनते जाते हैं। कूट में निहित ऊँचाई का आशय इसी मुकाम पर कूड़ा में तब्दील होता है। कूट पर ध्यान दें। आर्यभाषाओं में स्थानीयता के अनुसार 'ट' का रूपान्तर ड़ में और 'ड़' का रूपान्तर 'र' में होता है। जैसे कलश के अर्थ में 'घट' से 'घड़ा' और कहीं–कहीं 'घरा' हो जाता है। यही बात कूट से कूड़ में तब्दीली में नज़र आ रही है। यानी 'कूट' से 'कूड़ा'। कहीं–कहीं 'कूरा' भी उच्चारा जाता है। ठीक इसी तरह हिन्दी क्षेत्रों में 'क' का रूपान्तर 'ग' और 'घ' भी होता है। 'कूट' से कहीं 'कूड़ा' बना और कहीं 'घूड़ा'। इसी तरह कहीं 'कूरा' बना और कहीं 'घूरा' भी। यह तो रही बात कूड़ा से घूरा बनने की।

तत्ता–गरम वाला घूरा :– घूरे के दिन भी फिरते हैं।

इसके लिए कई बार इसमें आग लगाई जाती है। कई बार इससे खाद बनाई जाती है। कई बार अनजाने में आग लग जाती है तब बड़ा नुकसान होता है। मगर यह न समझ लिया जाए कि जिस घूरा पर हाथ सेंके जाते हैं, वह यही घूरा है। घूरा के शब्दकोशीय अर्थों में सिगड़ी के आशय वाला और कूड़ा के अर्थ वाला घूरा एक ही प्रविष्टि में दर्ज हैं। हक़ीक़त में ये दो स्वतन्त्र शब्द हैं और भिन्न दिशाओं से आ रहे हैं। घूरा का रिश्ता उसी तत्ता गरम से है जो ताप से और ग्रीष्म से आ रहा है। भाषाविज्ञानियों के मुताबिक वैदिक क्रियारूप 'घृ' में चमक, कान्ति, प्रज्ज्वलन, तपन का भाव है जो अग्नि का विशिष्ट स्वभाव है। संस्कृत में घर्म का अर्थ है ताप, अग्नि। घर्म्य का अर्थ है वह पात्र जिसमें अग्नि रखी जाती है। इसी तरह हर्म्य भी है जिसका आशय भी अग्निस्थान है। वैदिक होम, इसी का रूपविकास हो सकता है।

महिमा अग्निस्थान की :- फ़ारसी का गर्म, वैदिक घर्म का प्रतिरूप है। हिन्दी में घाम यानी धूप, गर्मी इससे ही बना है। गर्मी में शरीर पर आने वाली जलनभरी फुन्सियों को घमोरियाँ कहते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा यहाँ दिलचस्प संकेत करते हैं। वे कहते हैं, हिन्दी में प्रचलित घर का मूल गृह है जिसका आशय पूर्ववैदिक युग में अग्निस्थान रहा होगा। यूँ कहें कि अग्निमहिमा से परिचित होने के बाद जहाँ इस ज्योति को मनुष्य ने सुरक्षित रखा, दरअसल उसे ही घर (गृह) कहा। रसोई ही अग्निस्थान है। मोनियर विलियम्स ने ठीक सुझाव दिया है कि इसका सम्बन्ध 'घृ' और हर्म्य से होगा जिसका मूलार्थ है पारिवारिक अग्निस्थान। प्रचलित अर्थों में रसोई। हर्म्य के पूर्वरूप घर्म्य के 'र्घ' से हिन्दी का 'घर' बना। घर्म्य वह स्थान है जहाँ 'र्घ'अर्थात् अग्नि रखी जाती है। प्राचीन काल से घर में अग्नि का होना, अग्नि अनुष्ठान अर्थात् अग्नि के आह्वान के साथ भोजन निर्माण होने से ही घर को 'घर' का महत्व मिलता था। जिस घर में रसोई न हो, वह 'घर' नहीं होता। इसे अगियारी अथवा फ़ायरप्लेस के अर्थ में ही देखें।

घाम, गर्मी वाला घूरा :- कुल मिला कर 'घृ' क्रिया में ताप, अग्नि, चमक का आशय है। घर्म यानी घाम का मूल यही घृ क्रिया है। घृ का एक रूप र्घ भी है। आशय आग या ताप ही है। इसी कड़ी में हर्म्य, घर्म्य या घर जैसे रूप भी हैं जिनका अर्थ है अग्निस्थान। तो स्पष्ट है कि अजित अंजुम और तमाम अंगिकाभाषी शीत में जो घूरा तापते हैं वह दरअसल कूड़ा-कर्कट वाला घूरा नहीं, अलाव के अर्थ वाला घूरा है। जिसकी रिश्तेदारी घर, घर्म्य, हर्म्य से है और जिसमें फायर पैन, अँगीठी, अग्निष्ठिका, अग्निशकट, चूल्हा, भट्ठी जैसे आशय हैं। तो घूरा तापना यानी आग तापना।

जी-37 , फेज-1, ग्रीन मीडोज
भोजपुर रोड, पी.ओ. मिसरोद,
भोपाल-462047 (म.प्र.)
मो.- 6265739044

मानवधर्म का संरक्षण विश्व के सभी राज्यों का कर्तव्य है

- रामेश्वर मिश्र पंकज

रीवा मध्य प्रदेश में जन्मे प्रसिद्ध दार्शनिक, समाजवैज्ञानिक एवं इतिहासविद, समाजवादी एवं गाँधीवादी आंदोलनों में सक्रियता, विभिन्न महत्त्वपूर्ण पदों से सेवा निवृत्त। वर्तमान में निरंतर सृजनरत। आपकी बाइस पुस्तकें प्रकाशित हैं।

धर्मशास्त्रों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानवधर्म का संरक्षण विश्व के सभी राज्यों का कर्तव्य है क्योंकि स्वयं राज्य का कल्याण इसी में है कि वह मानवधर्म का संरक्षण करे और सभी नागरिकों के द्वारा मानवधर्म का पालन सुनिश्चित करे। इसे ही धर्मशास्त्र की पदावली में कहा गया है कि 'वर्णाश्रम धर्म प्रतिपालन राज्य का सर्वोपरि कर्तव्य है।'

भारतीय धर्मशास्त्रों में समाज की अत्यन्त विस्तृत और गहन विवेचना है तथा राज्य संबंधी विचार भी विश्व में सर्वाधिक प्राचीनकाल से केवल भारत में ही हुआ दिखता है। अन्यत्र यदि रहा भी हो तो रेलिजस या मजहबी उन्माद में उन्हें नष्ट कर डाला गया है और विश्व के विषय में अंग्रेजी भाषा के माध्यम से जो कुछ जानकारी प्राप्त है उसमें राज्य और राजनीतिशास्त्र संबंधी अधिक प्राचीन विवरण कहीं भी नहीं मिलते।

प्राचीनतम राजशास्त्र एवं नीतिशास्त्र : - भारतवर्ष में प्राचीनतम समय से राजशास्त्र और दंडनीति के शास्त्र विद्यमान रहे हैं। इन्हें ही अर्थशास्त्र भी कहा गया है। समस्त धर्मशास्त्रकारों ने राजधर्म का सांगोपांग विवेचन किया है क्योंकि राजधर्म एक विशिष्ट महत्व का विषय है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र और बौधायन धर्मसूत्र में राजा के अनेक कार्यों एवं कर्तव्यों का उल्लेख मिलता है। महाभारत के अनुशासन पर्व एवं शांतिपर्व में विस्तार से राजधर्म की विवेचना है। ब्रह्मा जी ने धर्म की रक्षा के लिये एक लाख अध्यायों वाला एक महाग्रंथ लिखा जिसमें धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र एवं मोक्षशास्त्र चारों की विस्तृत विवेचना थी, ऐसा शांतिपर्व में अध्याय 59 में श्लोक 29 से 52 तक बताया गया है, जिसका सार निम्नानुसार है -

'ब्रह्माजी ने अपनी बुद्धि से एक लाख अध्यायों वाला एक वृहद नीतिशास्त्र रचा। उसमें धर्म, अर्थ और काम का विस्तृत विवेचन है। इसीलिये इन्हें त्रिवर्ग कहा जाता है। चौथा वर्ग मोक्ष है, जिसके प्रयोजन और गुण इन तीनों से नितांत भिन्न हैं। मोक्ष का त्रिवर्ग है-सत्व, रज और तम। किन्तु दंडनीति के त्रिवर्ग हैं-स्थान, वृद्धि और क्षय। अर्थात् सम्पन्न प्रजा की स्थिति, धर्म की वृद्धि और दुष्टों का क्षय, यह दंडनीति का कार्य है।

उस नीतिशास्त्र में आत्मा, देश, काल, उपाय, कार्य और सहायक इन छः वर्गों का विशद विवेचन है। नीति द्वारा संचालित होने पर इन सबकी उन्नति होती है। इसके साथ ही कर्मकांड एवं ज्ञानकांड से सम्पन्न वेदत्रयी तथा आन्वीक्षिकी, वार्ता अर्थात कृषि, गौरक्षा एवं वाणिज्य व्यापार तथा दंडनीति की विद्याओं का ब्रह्मा जी ने उस ग्रंथ में निरूपण किया है। मंत्रियों की रक्षा, राजपुत्रों के लक्षण, गुप्तचरों और राजदूतों के गुण और लक्षण तथा साम, दान, भेद, दण्ड और उपेक्षा इन पाँचों उपायों का समग्र प्रतिपादन किया है। मंत्रणा की सिद्धि और असिद्धि के फल भी ब्रह्मा जी ने वर्णित किये हैं। उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन भेदों वाली संधि का और वित्त, सत्कार तथा भय से किये गये। इन तीनों के भेदों का अर्थात् नौ प्रकार की संधियों का विशद विवेचन ब्रह्मा जी ने किया है।

शत्रुओं पर चढ़ाई करने (यात्रा) का काल, त्रिवर्ग के विस्तार और धर्म विजय, अर्थ विजय तथा आसुर विजय का भी विवेचन ब्रह्मा जी ने किया है। राष्ट्र, मंत्री, दुर्ग, सेना और कोश –इन पाँच वर्गों के उत्तम, मध्यम और अधम भेद विवेचित किये हैं। प्रकट सेना और गुप्त सेना का विवेचन किया है। जिनमें से प्रकट सेना आठ प्रकार की होती है और गुह्य या गुप्त सेना बहुत प्रकार की होती है। सेना के आठों अंगों की विवेचना ब्रह्माजी ने की है। सर्प आदि की जंगम गुप्त सेना, पेड़-पौधों का प्रयोग करने वाली अजंगम गुप्त सेना और विष आदि चूर्ण योगों के प्रयोग में निपुण गुप्त सेना का विस्तृत विवेचन प्रजापति ब्रह्मा ने किया है। शत्रुपक्ष के लोगों के भोजन में विष आदि मिलाना अथवा वस्त्रों से ही स्पर्श कराके विष का प्रसार करना इन सबका उक्त नीतिशास्त्र में वर्णन है।

भूमि के गुण, मार्गों के गुण, आत्मरक्षा के उपाय, रथ आदि के निर्माण और हाथी, घोड़ा आदि के पालन और चिकित्सा की विधियाँ तथा इन सबसे रचे जाने वाले व्यूहों और युद्धकौशल का विवरण भी ब्रह्मा जी ने दिया है। सैनिकों का हर्ष और उत्साह बढ़ाना तथा विपत्तियों से उनकी रक्षा करना और आपत्ति के समय उनकी निष्ठा की परीक्षा करना-इनकी विधियाँ भी उक्त नीतिशास्त्र में वर्णित हैं। दुर्गों का निर्माण, उनके चारों ओर खाइयाँ खुदवाना, सेना की युद्ध सज्जा और रणयात्रा, शत्रुओं को और शत्रु के राष्ट्र को चोरों और लुटेरों से प्रेरित करना, विष देने वाले तथा अन्य छद्म वेशधारी लोगों द्वारा शत्रु को हानि पहुँचाना और शत्रु के प्रधान लोगों में भेद उत्पन्न करना, शत्रु की फसल और पौधों को काट लेना, हाथियों को भड़काना, जनसामान्य में आतंक उत्पन्न करना, भेद एवं फूट फैलाना, शत्रु पक्ष के लोगों में अपने प्रति विश्वास पैदा करना, आदि उपायों से शत्रु के राष्ट्र को पीड़ा देने के प्रत्ययों का भी ब्रह्मा जी ने वर्णन किया है।

सप्तांग राज्य की वृद्धि और ह्रास के कारण, राष्ट्र की वृद्धि के उपाय, बलवान शत्रुओं को कुचल डालने की विधियाँ तथा उनसे टक्कर लेने की विधियाँ और शत्रु, मित्र तथा उदासीन या मध्यस्थ राज्यों और राजाओं का विस्तृत विवेचन ब्रह्मा जी ने किया है। राजा के गुण, सेनापति के गुण, धर्म, अर्थ और काम के साधन और गुण दोष तथा शासन संबंधी सूक्ष्म व्यवहार और कंटक शोधन के उपायों की विस्तृत विवेचना प्रजापति ने की है। इस प्रकार वह अत्यन्त विशद एक लाख अध्यायों वाला नीतिशास्त्र है।' इस प्रकार ब्रह्माजी ने उक्त ग्रंथ में चारों पुरुषार्थों की विवेचना की है और दंडजनित त्रिवर्ग की भी विवेचना की है।

बाद में भगवान शंकर ने इस नीतिशास्त्र को कुछ संक्षिप्त किया। उसके बाद इंद्र ने उसे और संक्षेप करके देवताओं के शासन की विधि प्रतिपादित की तथा राजाओं के लिये भी निर्देश दिये। इस प्रकार राजशास्त्र प्रणेताओं की बहुत विस्तृत सूची हमारे धर्मशास्त्रों में है जो अत्यन्त प्राचीनकाल से दंडनीति और राजशास्त्र के भारत में प्रतिष्ठित होने का प्रमाण है।

भगवान शिव के बाद उस महान राजशास्त्र को देवराज इन्द्र ने ग्रहण किया। फिर उन्होंने उसे और संक्षेप कर 5000 अध्यायों का ग्रंथ कर दिया जिसे 'बाहुदन्तक राजशास्त्र' नाम दिया गया। फिर महान सामर्थ्यशाली बुद्धिवाले देवगुरु ब्रहस्पति ने उसे और संक्षिप्त कर 3000 अध्यायों का 'ब्राहस्पत्य राजशास्त्र' रचा। तदुपरान्त महायोगी शुक्राचार्य ने अपनी अमित प्रज्ञा से उसे 1000 अध्यायों में संक्षिप्त कर दिया। तब से इसका नाम 'शुक्रनीति' हुआ। देवताओं ने भगवान विष्णु से अनुरोध किया कि कोई एक श्रेष्ठ राजपुरुष दीजिये जो राजा बनने का अधिकारी हो। भगवान ने अपने मानस पुत्र 'विरजा' की सृष्टि की। परंतु विरजा ने संन्यास का निश्चय किया। उसके पहले भगवान की आज्ञा से विरजा का पुत्र कीर्तिमान हुआ और फिर कीर्तिमान के पुत्र कर्दम हुये। ये दोनों ही संन्यास मार्ग में आगे बढ़ गये। तब कर्दम के पुत्र अनंग को राजपद दिया गया। वहाँ से राजपद की परंपरा चली। अनंग महान दंडनीति विशारद थे। उनके पुत्र अतिबल भी दंडनीति के महान ज्ञाता हुये। परंतु दंडबल से राज्यश्री को भोगते हुये वे इंद्रियों के वश में हो गये। तब उनकी पुत्री के पुत्र वेन को राजपद दिया गया। परंतु वह राग और द्वेष के वश होकर स्वधर्म से विचलित हो

गया। वेदज्ञ ऋषियों ने प्रजा की रक्षा का ध्यान कर, हाहाकार कर रही प्रजा को उसके अत्याचार से बचाने के लिये उसे मार डाला। शास्त्र की दृष्टि से यह वध परम अहिंसक कर्म था। ऋषियों ने व्हेन की दक्षिण जंघा का मंथन कर निषाद नामक एक व्यक्ति को उत्पन्न किया। उसे विंधगिरि में रहने भेज दिया, जिसके वंशज निषाद तथा अन्य जातियाँ हुईं।

पृथु द्वारा शासित समस्त भूमंडल पृथ्वी कहलाया : – तदुपरान्त ऋषियों ने एक और पुरुष को व्हेन की दाहिनी भुजा से मथ कर प्रगट किया। वे पृथु नाम से प्रसिद्ध हुये और वे पूर्णत: धर्मनिष्ठ राजा हुये। उन्होंने समस्त पृथ्वी का पालन किया और उनके द्वारा पालित होने से ही यह भूमि पृथ्वी कहलाने लगी। सभी देवताओं और ऋषियों ने राजपद पर पृथु का अभिषेक किया और समस्त पृथ्वी पर पृथु ने शासन किया। संम्पूर्ण जगत में धर्म की प्रधानता स्थापित करने के कारण महाराज पृथु को महात्मा कहा गया और प्रजा को प्रसन्न करने वाले तथा आनन्द का वर्धन करने वाले होने के कारण उन्हें राजा कहा गया। ब्राह्मणों एवं प्रजा को क्षति से बचाने के कारण वे क्षत्रिय कहे गये। इस प्रकार क्षत्रिय शिरोमणि महात्मा राजा पृथु लोक में पूजित हुये। भगवान विष्णु ने उन्हें आदेश दिया कि हे नरेश्वर तुम चारों ओर गुप्तचर नियुक्त करके राज्य की रक्षा करो जिससे कि कोई भी आसुरी शक्तियाँ इसका घर्षण न कर सकें –

तेन धर्मोत्तरश्चायं कृतो लोको महात्मना।
रंजिताश्च प्रजा: सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते।।125।।
ब्राह्मणानां क्षतत्राणात् तत: क्षत्रिय उच्यते।
प्रथिता धर्मतश्चेयं पृथिवी बहुभि: स्मृता।।126।।
स्थापनं चाकरोद् विष्णु: स्वयमेव सनातन:।
नातिवर्तिष्यते कश्चिद् राजंस्त्वामिति भारत।।127।।
दण्डनीत्या च सततं रक्षितव्यं नरेश्वर।
नाधर्षयेत् तथा कश्चिच्चारनिष्पन्ददर्शनात्।।129।।

पितामह भीष्म कहते हैं कि हे युधिष्ठिर, राजा के वश में लोक क्यों रहता है, यह समझना चाहिये। चित्त और क्रिया द्वारा सदा सम भाव रखने वाले तथा समस्त प्रजा के प्रति शुभ कर्म ही करने वाले दैवी गुणों के कारण प्रजा राजा को अपना स्वामी मानती है। अन्यथा और कोई कारण नहीं है कि लोग एक व्यक्ति की अधीनता स्वीकार करें।

धर्म से ही श्री है : – धर्म की ही संगिनी है श्री। श्री देवी से अर्थ की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार राज्य में धर्मनिष्ठ और धर्मज्ञ राजा के शासन के कारण धर्म, अर्थ और श्री प्रतिष्ठित होते हैं। कोई महान पुण्यात्मा व्यक्ति पुण्यों का थोड़ा क्षय होने के बाद स्वर्गलोक से पृथ्वी पर आकर दंडनीति विशारद राजा के रूप में प्रतिष्ठित होता है और बुद्धि सम्पन्न शासन के कारण महात्मा कहलाता है –

अथ धर्मस्तथैवार्थ: श्रीश्च राज्ये प्रतिष्ठिता।
सुकृतस्य क्षयाच्चैव स्वर्लोकादेत्य मेदिनीम्।।
पार्थिवो जायते तात दण्डनीतिविशारद:।
महत्त्वेन च संयुक्तो वैष्णवेन नरो भुवि।।
बुद्धया भवति संयुक्तो माहात्म्यं चाधिगच्छति।

भीष्म कहते हैं कि राजा अन्य मनुष्यों के समान ही होता है परंतु उसमें दैवी सम्पत्ति और धर्म तथा शुभकर्म की प्रधानता के कारण लोग उसकी आज्ञा मानते हैं।

आगे कहा गया है कि दंड के महत्व के कारण और स्पष्ट लक्षणों वाली नीति तथा न्याय को सम्पन्न करने वाले आचरण के कारण यह सारा जगत सहज गतिशील रहता है –

महत्त्वात् तस्य दण्डस्य नीतिर्विस्पष्टलक्षणा।
नयचारश्च विपुलो येन सर्वमिदं ततम्।।138।।

पितामह भीष्म बताते हैं कि राजशास्त्र में इन विषयों का समावेश है–इतिहास, वेद, न्याय, तप, ज्ञान, अहिंसा, सत्य और असत्य तथा दोनों से परे का तत्व, वृद्धजनों की सेवा, दान, आंतरिक और बाहरी पवित्रता, उत्कर्ष, समस्त प्राणियों पर दया, पुराणशास्त्र, चारों आश्रमों और चारों वर्णों तथा चारों विद्याओं का शास्त्र एवं नक्षत्रों आदि का ज्ञान और तीर्थों का ज्ञान एवं यज्ञ कर्मों का विशद ज्ञान। **(क्रमश:)**

ए 141, आकृति हाईलैण्ड
डाकघर–फंदा, भोपाल–462030 (म.प्र.)
मो. 8349350267

राजसूय महायज्ञ का अनुष्ठान

– कुसुमलता केडिया

इतिहास, समाज विज्ञान और अर्थशास्त्र की गहरी अध्येता और तर्कपूर्ण विवेचना में सिद्धहस्त विदुषी प्रो. कुसुमलता केडिया के वैचारिक आलेखों का शृंखलाबद्ध रूप से प्रकाशन किया जा रहा है ताकि हमारे पाठकों में बौद्धिक उत्तेजना उत्पन्न हो और वे हमारी ज्ञान परंपरा को तार्किक ढंग से आत्मसात कर मौलिक लेखन की ओर प्रवृत्त हों। प्रस्तुत है इस लेखमाला की अगली किश्त 'राजसूय महायज्ञ का अनुष्ठान।'

पाठकों की प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा रहेगी।

– सम्पादक

स्वदेशी अर्थचेतना की संवाहक।

जन्म – 2 जुलाई 1954।

जन्म स्थान – पडरौना (उ.प्र.)।

शिक्षा – एम.ए., पीएच.डी।

रचनाएँ – अनेक पुस्तकें प्रकाशित।

शिशुपाल के वध के उपरांत युधिष्ठिर ने अपने भाइयों से कहा–'दमघोष के पुत्र वीर राजा शिशुपाल का अन्त्येष्टि संस्कार बड़े सत्कार के साथ करो, इसमें देर न लगाओ।' पाण्डवों ने अपने अग्रज के आदेश का यथार्थ पालन किया। उसी समय महाराज युधिष्ठिर ने वहाँ आये हुये सभी राजाओं के साथ शिशुपाल के पुत्र को चेदिदेश के राजसिंहासन पर अभिषिक्त कर दिया। इस प्रकार सनानत परंपरा का निर्वाह किया और अधर्मपरायण या युद्ध में सम्मुख आये शत्रु राजा का वध करने के बाद भी और उसकी सेना को पूरी तरह पराजित करने के बाद भी उनके राज्य का हरण नहीं करने की भारतीय परंपरा का स्वाभाविक पालन किया। राज्य को सदा वहाँ के परंपरागत शासक के वंशजों को ही सौंप देने की ही सनातन भारतीय परंपरा है। अन्याय या किसी दोष का आरोपण कर दूसरे का राज्य छीनने को सनातन धर्म में कभी भी वीरता नहीं माना जाता। अपितु उसे राज्य का लोभ और अनुचित कार्य ही माना जाता है। युद्ध सप्रयोजन होता है। प्रयोजन किसी अन्य की भूमिका हरण नहीं अपितु वहाँ धर्ममय शासन स्थापित करना ही होता है। इसीलिये सदा उस राज्य को वहाँ की प्रजा के द्वारा सर्वमान्य राजकुल को ही सौंप दिया जाता है। हिरण्यकश्यप के वध के बाद प्रह्लाद को और रावण के वध के बाद विभीषण को जिस प्रकार भगवान के अवतारों ने शासन सौंपा, वही भारत के चक्रवर्ती सम्राटों के लिये मान्य सनातन आदर्श है।

इसके उपरांत महातेजस्वी कुरुराज युधिष्ठिर का संपूर्ण समृद्धियों से भरा राजसूय यज्ञ तरुण राजाओं की प्रसन्नता को बढ़ाता हुआ अनुपम शोभा पाने लगा। विघ्न के शांत हो जाने से यज्ञ सुखपूर्वक सम्पन्न हुआ। भगवान श्रीकृष्ण से सुरक्षित होने के कारण उस यज्ञ में अन्न की कमी कभी नहीं हुई। उत्तम विधिविधान के साथ यज्ञ सम्पन्न हुआ।

उस यज्ञमण्डप में सुवर्णमय तालवृक्ष के बने हुए फाटक दिखायी देते थे, जो अपनी प्रभा से तेजस्वी सूर्य के समान देदीप्यमान हो रहे थे। उन तेजस्वी द्वारों से वह विशाल यज्ञमण्डप ग्रहों से आकाश की भाँति प्रकाशित हो रहा था।

वहाँ शैया, आसन और क्रीड़ाभवनों की संख्या बहुत थी। उनके निर्माण में प्रचुर धन लगा था। चारों ओर घड़े, भाँति-भाँति के पात्र, कड़ाहे और कलश आदि सुवर्णनिर्मित सामान दृष्टिगोचर हो रहे थे। वहाँ राजाओं ने कोई ऐसी वस्तु नहीं देखी, जो सोने की बनी हुई न हो।

उस महान् यज्ञ में राजसेवकगण ब्राह्मणों के आगे सदा नाना प्रकार के स्वादिष्ट भात तथा चावल की बनी हुई बहुत-सी दूसरी भोज्य वस्तुएँ परोसते रहते थे। वे उनके लिये मधुर पेय पदार्थ भी अर्पण करते थे।

भोजन करने वाले ब्राह्मणों की संख्या जब एक लाख पूरी हो जाती थी, तब वहाँ प्रतिदिन शंख बजाया जाता था।

जनमेजय! दिन में कई बार इस तरह की शंख-ध्वनि होती थी। वह उत्तम शंखनाद सुनकर लोगों को बड़ा विस्मय होता था।

इस प्रकार सहस्त्रों हृष्ट-पुष्ट मनुष्यों से भरे हुए उस यज्ञ का कार्य चलने लगा। राजन्! उसमें अन्न के बहुत से ऊँचे ढेर लगाये गये थे, जो पर्वतों के समान जान पड़ते थे। लोगों ने देखा, वहाँ दही की नहरें बह रही थीं तथा घी के कितने ही कुण्ड भरे हुए थे।

महर्षि वेदव्यास बताते हैं कि महाराज युधिष्ठिर के उस महान यज्ञ में नाना जनपदों से युक्त सारा जम्बूद्वीप ही एकत्र था। उस यज्ञ में कोई भी मनुष्य दीन, दरिद्र, दुःखी, भूखा-प्यासा अथवा मूढ़ नहीं था -

न तत्र कृपणः कश्चिद् दरिद्रो न बभूव ह।
क्षुधितो दुःखितो वापि प्राकृतो वापि मानुषः।।

(महाभारत, सभापर्व, अध्याय 45, श्लोक 38 के बाद दक्षिणात्य पाठ)

आगे वे बताते हैं-'इस जगत् में रहनेवाले समस्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, सब प्रकार के म्लेच्छ तथा अग्रज, मध्यज और अन्त्यज आदि सभी वर्णों के लोग उस यज्ञ में उपस्थित हुए थे। अनेक देशों में उत्पन्न विभिन्न जाति के लोगों के शुभागमन से युधिष्ठिर के उस राजभवन में ऐसा जान पड़ता था कि यह समस्त लोक वहाँ उपस्थित हो गया है।'

'उस राजसूययज्ञ में भीष्म, द्रोण और दुर्योधन आदि समस्त कौरव, सारे वृष्णिवंशी तथा सम्पूर्ण पांचाल भी सेवकों की भाँति यथायोग्य सभी कार्य अपने हाथों में करते थे।' इस प्रकार महाबुद्धिमान सम्राट युधिष्ठिर का वह यज्ञ अत्यधिक शोभा पा रहा था।

महाराज यज्ञ में सतत् दान देते रहते थे। महर्षि वेदव्यास का कहना है -

वस्त्राणि कम्बलांश्चैव प्रावारांश्चैव सर्वदा।
निष्कहेमजभाण्डानि भूषणानि च सर्वशः।
प्रददौ तत्र सततं धर्मराजो युधिष्ठिरः।।
यानि तत्र महीपेभ्यो लब्धं वा धनमुत्तमम्।
तानि रत्नानि सर्वाणि विप्राणां प्रददौ तदा।।

(सभापर्व, अध्याय 45, श्लोक 38 के बाद दक्षिणात्यपाठ)

अर्थात् महाराज युधिष्ठिर सतत् वस्त्रों का, कम्बलों का, चादरों का तथा स्वर्णपात्र और आभूषणों का दान करते रहते थे। विभिन्न राजाओं ने जो कुछ भी उपहार में लाकर दिया था, उसका लगभग सर्वांश महाराज ने ब्राह्मणों को दान में दे दिया। इस प्रकार राजसूय यज्ञ सांगोपांग सम्पन्न हुआ।

यज्ञ की समाप्ति के बाद महाराज युधिष्ठिर ने व्यास, धौम्य, देवर्षि नारद, सुमन्तु, जैमिनि, पैल, वैशम्पायन, याज्ञवल्क्य, कठ तथा कलाप आदि सभी ऋषियों का तथा यज्ञ सम्पन्न कराने वाले सभी ब्राह्मणों का पूर्ण मनोयोग के साथ सत्कार एवं पूजन किया और फिर भगवान श्रीकृष्ण, श्रीबलदेव तथा कुरुश्रेष्ठ भीष्म आदि का भी पूजन किया। वस्तुतः उस यज्ञ की रक्षा आरंभ से अंत तक भगवान श्रीकृष्ण ने ही की थी।

धार्मिक विधिविधान से महाराज युधिष्ठिर ने अवभृथस्नान किया। उसके उपरांत जब वे सिंहासन पर विराजे तो समस्त

राजाओं ने सम्मिलित स्वर में कहा कि 'हे धर्मज्ञ महाराज, आपका अभ्युदय हो रहा है। आपने सम्राट का पद प्राप्त कर लिया है। आपने हमारा सबका बड़ा सम्मान किया है। अब हम जाने की अनुमति चाहते हैं।'

इस पर धर्मराज युधिष्ठिर ने सभी राजाओं का यथायोग्य सत्कार करके अपने भाइयों को निर्देश दिया कि वे सबको अपने राज्य की सीमा तक आदरपूर्वक पहुँचाकर आयें। ऐसा ही किया गया। किसने किसको आदरपूर्वक विदा किया और सीमा तक पहुँचाया इसका भी विवरण महाभारत में दिया हुआ है। उदाहरण के लिये अर्जुन ने महाराज द्रुपद को विदा किया। भीमसेन ने भीष्म और धृतराष्ट्र को विदा किया। सहदेव ने गुरु द्रोणाचार्य और वीर अश्वत्थामा को विदा किया। नकुल ने सुबल और उनके पुत्र को विदा किया। अभिमन्यु तथा उनके पाँचों भाइयों (द्रोपदी पुत्रों) ने पर्वतीय महारथियों तक राज्य की सीमा तक जाकर विदा किया।

सबके विदा होने के उपरान्त भगवान श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से विदा माँगी। युधिष्ठिर ने हाथ जोड़कर अनुनय-विनय कर फिर उन्हें विदा किया। तब भगवान श्रीकृष्ण बुआ कुंती के पास गये और वहाँ बहन सुभद्रा और द्रौपदी से भी मिले और मधुर वचनों से उनका सत्कार किया और विदा ली।

तदुपरान्त स्नान और जप के बाद ब्राह्मणों से भगवान श्रीकृष्ण ने विदा ली। ब्राह्मणों ने स्वस्तिवाचन किया और गरुड़ध्वज से सुशोभित सुन्दर रथ पर चल पड़े। महाराज युधिष्ठिर उस रथ के पीछे-पीछे पैदल ही चलने लगे। तब भगवान श्रीकृष्ण ने अपने रथ को रोक कर प्रेमपूर्वक युधिष्ठिर से कहा कि राजन आप सदा सावधान रहकर प्रजापालन में तत्पर रहें। क्योंकि प्रजा सदा राजा का ही आश्रय लेती है। जैसे सब प्राणी मेघ का आश्रय वर्षा के लिये लेते हैं और पक्षी वृक्ष का आश्रय लेते हैं तथा देवतागण देवराज इन्द्र का आश्रय लेते हैं, इसी प्रकार आपकी प्रजा आपका आश्रय ले।

इस प्रकार प्रेमपूर्ण संलाप कर भगवान श्रीकृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर से विदा ली और द्वारकापुरी को चल दिये। परन्तु दुर्योधन और शकुनि इसके बाद भी सभाभवन में रुके रहे।
(क्रमशः)

ए 142, आकृति हाईलैण्ड
डाकघर-फंदा, भोपाल 462030 (म.प्र.)
मो. 8989931954

विशेष अनुरोध

सम्मानित सदस्यों से विनम्र अनुरोध है कि सदस्यता शुल्क मनीआर्डर, आर.टी.जी.एस / एन.ई.एफ.टी, आदि ई-बैंकिंग माध्यमों से भेजने के पश्चात् एक पोस्ट-कार्ड पर अपना पूरा नाम-पता, पिन कोड नम्बर सहित लिखकर 'अक्षरा' कार्यालय को अवश्य सूचित करें। ताकि पत्रिका प्रेषित करने / मिलने में होने वाली असुविधा से बचा जा सके।

बैंक, खाता संख्या निम्नवत् है-

Ac/ No. 50413818696, IFSC- IDIB000T610

इंडियन बैंक, हिन्दी भवन शाखा, भोपाल

पुलपल्ली की सीता कुटि

मूल – इंदु चिंता
अनु. – विभा खरे

शिक्षा – एम.एच.एस.सी., एम.ए.।
रचनाएँ – पत्र-पत्रिकाओं में लेखन।
विशेष – अनुवाद में विशेष कार्य ।

सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करना एक ऐसा काम है जिसमें इंदु पूरी तरह से विश्वास करती हैं और यह उनके दिल के करीब है। उन्होंने थेय्यम को अपने ध्यान का विषय बनाया, विशेष रूप से इसकी कलात्मक समृद्धि के लिए। अपने लेखन और तस्वीरों के माध्यम से, वह कला की प्रामाणिकता, कलाकार की प्रतिबद्धता और भावना की ईमानदारी को चित्रित और प्रलेखित करती हैं।

जन्म – 1987।
जन्मस्थान – आंध्रप्रदेश
शिक्षा – बी.ई.
सम्मान – केरल कला अकादमी सहित अनेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित।
विशेष – थेय्यम की विशेषज्ञ।

इंदु पर्यावरणविद से संरक्षणवादी बनीं। उन्होंने अरबाना-शैंपेन में इलिनोइस विश्वविद्यालय में पर्यावरण इंजीनियरिंग में मास्टर की पढ़ाई की। बाद में, वह द एनर्जी एंड रिसोर्सेज इंस्टीट्यूट (टीईआरआई), नई दिल्ली और वसुधा फाउंडेशन जैसे पॉलिसी थिंक-टैंक के साथ काम करने के लिए भारत लौट आईं। प्रतिनियुक्ति पर, वह रियो +20, या सतत् विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन (यूएनसीएसडी) का हिस्सा बनने के लिए केंद्रीय पर्यावरण और वन मंत्रालय गई। उनका अंतिम पेशेवर असाइनमेंट भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (III), मद्रास में था। 2017 के अंत से, इंदु ने खुद को थेय्यम में डुबो दिया। आगे बढ़ते हुए, वह कम ज्ञात सांस्कृतिक परंपराओं को पुनर्जीवित करना चाहती हैं और कलाकारों को, जो इस सांस्कृतिक राजधानी का हिस्सा हैं, स्पॉटलाइट में और कई लोगों के करीब लाना चाहती हैं। प्रस्तुत है उनका एक लेख –

पुलपल्ली, केरल के वायनाड जिले का, केरल-कर्नाटक की अंतरराज्यीय सीमा के किनारे बसा एक वर्णनातीत शहर है जो उन अकल्पनीय स्थलों का संरक्षक है जो सीता के दूसरे निर्वासन की कहानी को बुनते हैं।

हमारे मुखर और मिलनसार मेजबान, त्रिदीप कुमार, जयश्री हायर सेकेंडरी स्कूल में संस्कृत पढ़ाते हैं और अब वह जड़त्तिलम्मा मंदिर में, जो कि पुलपल्ली सीता यात्रा का हमारा अंतिम गंतव्य है, उसमें रोजमर्रा के कार्यों में भी सक्रिय रूप से सम्मिलित हैं।

हमने अपनी यात्रा वाल्मीकि आश्रम से

शुरू की, जो एक साधारण मिट्टी और पुआल की खुली संरचना है, यह माना जाता है कि सीता ने जुड़वाँ बच्चों-लव और कुश को यहीं जन्म दिया था। सीढ़ियों पर चढ़ते ही मैंने सबसे पहले एक बुजुर्ग महिला को देखा, जो उम्र के साथ कमजोर और गरिमामय झुर्रियों वाली थीं। उनको देखते हुए, हमारे दिमाग में और बातचीत में रामायण के संदर्भ के कारण ऐसा लगा जैसे हम सबरी की उपस्थिति में थे। एक विनम्र सूती -मुंडू पहने, वह दीपक जला रही थीं और सीता और उनके बच्चों को शाम की पूजा अर्पित कर रही थीं। दोनों जुड़वाँ बच्चों को पवित्र और समर्पित मानते हुए, आश्रम में दो बहुनिया के पेड़ हैं। त्रिदीप ने बताया, 'आम तौर पर इन पेड़ों में फूलों का मौसम अप्रैल से जून के बीच होता है। हालाँकि, यहाँ की दोनों बहुनिया में साल भर फूल आते हैं। यह एक चमत्कार है।'

आश्रम सड़क के दूसरी ओर मुनिप्पारा है-ये शब्द मुनि और पारा या ऋषि की चट्टान से निकला है-एक धान के खेत के बीच बसा हुआ है।'लोगों का मानना है कि यहीं पर वाल्मीकि ने रामायण लिखी थी और गर्भवती सीता और बाद में उनके जुड़वाँ बच्चों की देखभाल भी करी थी। हमारे पूर्वज हमें बताते थे कि यदि आप अपने कानों को चट्टान से लगाते हैं, तो आपको 'रामनाम' मंत्र सुनाई देगा।

ऋषि की चट्टान से, हमने शहर के बीच से थोड़ी दूरी तय की। ये जगह उत्कृष्ट स्थानीय व्यवसायों से भरी हुई थी और उस छोटे स्थान को एक विशिष्ट आकर्षण प्रदान करती है। दुकानें लोगों से खचाखच भरी थीं। महामारी के बाद, लोग बाहर रहकर ही खुश हैं।

सांकेतिक रूप से, जब तक हम जदायटु कावु पहुँचे तब तक सूर्य अस्त होना शुरू हो गया था। ब्रिटिश अभिलेखों में पुलपल्ली कावु के रूप में संदर्भित मामूली रूप से निर्मित मंदिर 200 साल से अधिक पुराना है। पुराने को बनाए रखते हुए, हाल ही में, एक नए मंदिर का निर्माण किया गया और उसमें देवता को प्रतिष्ठित किया गया।

त्रिदीप ने आगे कहा, 'यही वह जगह थी जब सीता ने राम की पत्नी के रूप में लौटने से इनकार कर दिया और इसके बजाय धरती माता से उन्हें वापस लेने के लिए प्रार्थना की-महाकाव्य के प्रतिष्ठित क्षणों में से एक, और एकमात्र ऐसा समय, जब इसके प्राथमिक पात्र-भगवान राम, लक्ष्मण, हनुमान, सीता, लव और कुश और वाल्मीकि-एक साथ आते हैं।' वह स्थान जहाँ कहा जाता है कि सीता धरती में चली गई थीं, मंदिर के पीछे एक पवित्र विश्वास स्तंभ के रूप में स्थित है। उस क्षण, भगवान राम ने उन्हें जाने से रोकने की कोशिश की थी, लेकिन उनके हाथ में केवल उनके बालों का एक गुच्छा आया। 'जैसा कि आप देख सकते हैं, प्रतीकात्मक रूप से, यहाँ देवता के बाल नहीं हैं। इसलिए, उन्हें चेदट्टिलम्मा के नाम से जाना जाता है। और, यह माना जाता है कि 'सप्तमातृकाल' भी उस समय मौजूद थे जब सीता ने पृथ्वी पर प्रवेश किया था। इसलिए हमारे यहाँ एक मंदिर है जो उन्हें समर्पित है।'

शाम के लिए हमारा आखिरी पड़ाव पुलपल्ली सीता-लव-कुश मंदिर था। जैसे ही रात हुई, मंदिर के अंदर तेल के दीपक तेज चमकने लगे, जिन्होंने देवी पर एक कोमल चमक डाली और दिव्यता की आभा बिखेर दी। सीता के मंदिर के बगल में, उनके बच्चों, लव और कुश का मंदिर था, जैसा कि त्रिदीप ने बताया कि शायद केरल में एकमात्र ज्ञात मंदिर है, जहाँ इन जुड़वाँ बच्चों की मूर्तियाँ स्थापित हैं।

इसके अलावा, भगवान शिव और भगवान

अय्यप्पा के दो सहायक मंदिर हैं। जबकि शिव को 'थलाचोलन' के रूप में जाना जाता है, अय्यप्पा की प्रतिनिधित्वात्मक विशिष्टता ही इसे विशेष बनाती है। 'सबरीमाला में भगवान अयप्पा एक ब्रह्मचारी हैं जिन्होंने ब्रह्मचर्य का पालन किया। वहीं, यहाँ इस मंदिर में आप उन्हें उनकी पत्नियों - पूर्णा और पुष्कल के साथ देख सकते हैं। हमारा मानना है कि अगर नि:संतान दंपति इन अयप्पा अवतार की पूजा करते हैं, तो उन्हें संतान की प्राप्ति होगी। मेरे पास वह विश्वास और अनुभव भी है, इसलिए मैं व्यक्तिगत रूप से इसके लिए आश्वासन दे सकता हूँ', त्रिदीप लावण्य और अपने भगवान के प्रति आभार व्यक्त करते हुए मुस्कुराते हैं।

आश्चर्यजनक रूप से, पुलपल्ली में जोंक बिल्कुल भी नहीं हैं। ऐसा कहा जाता है कि एक दिन जब सीता के बच्चे खेल रहे थे, उन्होंने देखा कि एक जोंक दोनों में से एक को परेशान कर रही है। क्रोधित होकर, जोंक को फिर कभी गाँव में दिखाई न देने का शाप दिया। यह श्राप इतना शक्तिशाली था कि भले ही जंगल गाँव से कुछ किलोमीटर की दूरी पर हों, फिर भी साल के किसी भी समय हमें इस क्षेत्र में जोंक दिखाई नहीं देती। अंत में, इस जगह की सत्यता के बारे में ज्यादा नहीं पता है, लेकिन इस स्थान का महत्व एवं इसमें लोगों की रुचि हमारे ऊपर इसके द्वारा पड़े भावनात्मक प्रभाव के द्वारा मापा जा सकती है, क्योंकि इनके डिजाइन इतने सम्मोहक हैं।

मैं त्रिदीप कुमार से बेहतर मेजबान की उम्मीद नहीं कर सकती थी, जो न केवल इस यात्रा के बारे में हर छोटी से छोटी जानकारी जानते थे बल्कि उस शाम को उनके बहुत ही धैर्यवान शैक्षणिक स्वरूप का परिचय मिला। जब उन्होंने सांस्कृतिक रूप से महत्त्वपूर्ण स्थलों में हमारा मार्गदर्शन किया और उससे जुड़ी हर कहानी को कुशलता से और कलात्मक स्वभाव के साथ सुनाया, जिससे मिथक और वास्तविकता के बीच की खाई कम होती दिख रही थी।

एच.आई.जी., 72,
हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, बागमुगलिया,
एक्सटेंशन, भोपाल-462043 (म.प्र.)
मो.- 9425079134

बड़े अनुभवों के बड़े कथाकार : शैलेश मटियानी

जन्म – 14 अक्टूबर 1931।
प्रयाण – 24 अप्रैल 2001

– प्रकाश मनु

जन्म – 12 मई 1950।
शिक्षा – एम.एस.सी., एम.ए.।
रचनाएँ – नब्बे पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – हिंदी अकादमी के साहित्यकार सम्मान सहित अनेक सम्मानों से अलंकृत।

शैलेश मटियानी जिंदगी के बड़े अनुभवों के बड़े कथाकार हैं। ऐसे दिग्गज कहानीकार, जिन्होंने प्रेमचंद की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए, एक के बाद एक ऐसी कालजयी कहानियाँ हमें दीं, जिन्हें विश्व कथा-साहित्य में पांक्तेय कहा जा सकता है। 'दो दुखों का एक सुख', 'इब्बू मलंग', 'मिट्टी', 'प्यास', 'मैमूद', 'वृत्ति', 'अंहिसा', 'भविष्य', 'रहमतुल्ला', 'छाक', 'अर्द्धांगिनी' जैसी दर्जनों असाधारण कहानियाँ मटियानी के यहाँ हैं, जो सिर्फ मटियानी की ही अद्वितीय और सिरमौर कहानियाँ नहीं हैं, बल्कि सच तो यह है कि हिंदी बड़े गर्व और गौरव के साथ उन्हें विश्व कथा साहित्य के आगे रख सकती है।

सचमुच मटियानी की कहानियाँ ठेठ हिंदुस्तानी कथा का उत्कर्ष हैं। उन्होंने जिन हालात में लिखना शुरू किया था और लेखक होने के लिए जिस तरह की अंतहीन तकलीफों से वे गुजरे, उन्हें शायद कहा ही नहीं जा सकता। शायद ही मटियानी के अलावा कोई और लेखक हो, जिसे ऐसे दुर्दिनों के नरक से गुजरना पड़ा हो। किशोरावस्था में उन्हें कसाई की दुकान पर कीमा कूटने का काम करने, जूठे बरतन माँजने, भिखारियों की पंक्ति में बैठकर भोजन पाने की जुगत लगाने, छोटे-मोटे अपराधों पर पुलिस के डंडे खाने और कभी-कभी तो पेट की भूख शांत करने के लिए खुद को पुलिस के हाथों गिरफ्तार करवा देने जैसे अकल्पनीय, थरथरा देने वाले हालात और मजबूरियों का सामना करना पड़ा। फिर भी यह विश्वास उनके भीतर से कभी नहीं डिगा कि उन्हें लेखक होना है और जितने ज्यादा कष्ट वे उठाएँगे, उतना ही उनकी रचनाओं में आंतरिक ताप, ऊष्मा और पाठकों को भीतर तक विचलित और विदग्ध कर देने वाला असर आएगा।

14 अक्तूबर 1931 को अल्मोड़ा जिले के बाड़ेछीना गाँव में जन्मे शैलेश मटियानी ने बचपन से ही अपने इर्द-गिर्द दुख के पहाड़ देखे। किशोर अवस्था में ही उनके माता-पिता और भाई-बहन चल बसे और जीवन एक झुलसाने वाले दाह और दुर्भाग्य के साथ उनकी आँखों के आगे पसर गया। जिन चाचा के घर उन्हें दो रोटी खाने को मिलती थी, उनके लिए उन्हें बकरियाँ चराने का काम करना पड़ता और बूचड़ की दुकान पर भी बैठना पड़ता। एक ओर भीतरी आर्द्रता और संवेदना और दूसरी ओर ऐसा कठोर और जुगुप्सापूर्ण कर्तव्य-निर्वाह। जब थोड़ा-बहुत लिखना उन्होंने शुरू किया तो घोर तिलमिला देने वाली उपेक्षा के साथ उन्हें सुनने को मिला, 'तो अब बूचड़ों के लड़के भी साहित्यकार बनेंगे!' और किशोर रमेश मटियानी 'शैलेश' (शुरू में यही उनका नाम था!) रात भर दीवार से सिर पटकते हुए, माँ सरस्वती से प्रार्थना करते रहे कि 'हे माँ, चाहे मुझे कितने ही कष्ट देना, लेकिन मुझे लेखक अवश्य बना देना!'

कोई आश्चर्य नहीं कि मटियानी लेखन को 'कागज पर खेती करना' कहते थे। जो जीवन उन्होंने जिया, उसने उन्हें एक ऐसी खुद्दारी दी और जीवन के अनुभवों को ऐसा सेंक भी कि 'जीवन की तलछट' कहे जाने वाले कोढ़ियों, भिखारियों, जुआरियों, वेश्याओं, झल्ली उठाने और रिक्शा चलाने वालों

की असाधारण मर्मस्पर्शी कहानियाँ उन्होंने लिखीं। सच तो यह है कि दलित और निम्न वर्ग की ऐसी मार्मिक और बेधक कहानियाँ लिखने वाला मटियानी जैसा कथाकार हमारे यहाँ कोई दूसरा नहीं हुआ।

मटियानी जिंदगी से इतने गहरे जुड़े हुए थे कि उन्हें किसी के अनुकरण की जरूरत नहीं थी। कहानी के तमाम आंदोलनों और फैशनों को एक ओर रखते हुए, अपनी कहानियों का मुहावरा उन्होंने खुद ईजाद किया और तराशा था। यों वे 'एक समूचे भारतीय कथाकार' हैं, जिनकी कहानियों में ठेठ हिंदुस्तानियत का ठाठ नजर आता है।

मटियानी जी से हुई निजी मुलाकातों को याद करूँ तो भीतर एक गहरी-गहरी सी पीड़ा और तृप्ति एक साथ महसूस होती है। बेशक मुझे अपनी जिंदगी के सबसे सौभाग्यशाली दिन वे लगते हैं, जो मटियानी जी के साथ गुजरे, उनके हृदयद्रावक अनुभवों की अंतहीन कथा का श्रोता और कुछ-कुछ 'सहयात्री' बनकर। हालाँकि उनके साथ जो कुछ गुजरा, उसकी याद से ही रूह काँपती है! उससे यह भी पता चलता है, हम अपने बड़े लेखकों की कितनी घोर उपेक्षा करते हैं।

यों उनसे पहली मुलाकात ही बड़ी यादगार है। खूब अच्छी तरह याद है, मटियानी जी से मेरी मुलाकात राजेंद्र यादव ने करवाई थी। मैं 'हंस' के दफ्तर गया था राजेंद्र जी से मिलने। उन्होंने सामने सोफे पर विराजमान एक भव्य 'काया' की ओर इशारा करते हुए कहा, 'इनसे परिचय है आपका?'

'नहीं!' मैंने अचकचाकर कहा।

'आप शैलेश मटियानी!'

'ओह!' मैं खड़ा हुआ। दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार किया और शायद बेतुके ढंग से हाथ भी मिलाया।

मेरी खुशी ऐसी थी जैसे इस अपार संसार में किसी को एकाएक किसी मोड़ पर अपना हमसफर—नहीं-नहीं, 'हमशक्ल' मिल जाए।

'इधर आप लगता है, साहित्य के मैदान की सफाई में जुटे हैं—बड़े-बड़े युद्ध लड़ रहे हैं, एकदम खड्गहस्त होकर!' मैंने उनके इधर के लेखों को याद करते हुए कहा।

'अच्छा...तो पढ़ लिया आपने?' वे हँस रहे हैं। किसी भोले-भाले गोलमटोल बच्चे की तरह, जो जरा सी बात पर खुश हो जाता है, जरा सी बात पर तुनक जाता है, लेकिन अपने भीतर कुछ नहीं रखता।

मुझे वह हँसी बड़ी प्यारी मालूम देती है—एकदम निर्मल, निष्कलुष। जैसी बेलाग बातें, वैसी बेलाग हँसी। क्षण भर में जैसे हम 'संवाद' की स्थिति में आ गए हों।

इतनी लंबी-चौड़ी बातचीत के बाद उन्हें खयाल आता है, 'आप क्या लिखते हैं?'

'थोड़ा बहुत लिखता हूँ—कुछ कविताएँ, लेख!' मैं संकोच से कहता हूँ।

'देवेंद्र सत्यार्थी पर इनकी किताब आई है, 'देवेंद्र सत्यार्थी : चुनी हुई रचनाएँ'।' राजेंद्र यादव जो हमें भिड़ाकर उत्सुकता से सुन रहे थे, किताब के साथ-साथ बातचीत का एक सिरा पकड़ा देते हैं मटियानी जी को।

'अच्छा, यह तो बहुत अच्छा काम है।' पुस्तक पलटते हुए मटियानी जी कह रहे हैं।

'आपने पढ़ा है सत्यार्थी जी को, मिले हैं उनसे?' मैं उत्सुकता से पूछ लेता हूँ।

'उन दिनों जब किशोरावस्था में साहित्य के संस्कार हम बटोर रहे थे, तब सत्यार्थी जी की बहुत पुस्तकें पढ़ी थीं। हमारे शहर के पुस्तकालय में उनकी बहुत सी किताबें थीं। 'धरती गाती है', 'बेला फूले आधी रात', 'बाजत आवे ढोल', 'ब्रह्मपुत्र'...' मटियानी याद करके बताते हैं। अब तक मटियानी जी पुस्तक उलट-पुलट चुके हैं और वह फिर से राजेंद्र यादव की मेज पर

आ गई है।

'मैं पुस्तक की एक प्रति आपको भेंट करना चाहता हूँ। कैसे हो, बताइए? अभी तो मेरे पास है नहीं।' मैं अपनी समस्या बताता हूँ।

'यहाँ आप छोड़ दें तो मुझे मिल जाएगी।' कुछ देर बाद कहते हैं, 'वैसे हो सकता है, मैं आऊँ उधर दो-एक रोज में। खुद आकर ले लूँगा।' एक संक्षिप्त सी मुलाकात। लगभग बेमालूम सी। लेकिन मिलकर आया तो लगा, मटियानी मेरे भीतर आकर बैठ गए हैं। इसके दो-तीन रोज बाद की बात है। लंच में जब मैं दफ्तर में अकेला ही था और कोई पत्रिका उलट-पुलट रहा था, देखा दरवाजा खुला और वही भव्याकृति जो 'हंस' के कार्यालय में मिली थी, मुस्कुराती हुई मेरी मेज की ओर बढ़ी चली आ रही है। फर्क सिर्फ यही कि अब हाथ में एक छोटा सा काला ब्रीफकेस है। दाढ़ी कुछ-कुछ बढ़ी हुई। मुस्कुराहट में एक घना-घना सा अपनत्व।

'अरे, मटियानी जी, आप?' घबराहट, उत्सुकता और सम्मान के मिले-जुले भाव से मैं खड़ा हो गया और सम्मान से उन्हें बैठाया, 'आइए आइए!'

वे बैठ गए हैं, फिर भी देर तक मेरे भीतर खुदर-बुदर चलती रहती है। जैसे विश्वास न हो रहा हो कि जो शख्स सामने बैठा है, वह शैलेश मटियानी ही है। शैलेश मटियानी मुझे इतने सहज प्राप्त कैसे हो सकते हैं?

यह खुशी से अवाक या सन्न रहने की स्थिति थोड़ी ही देर रहती है। फिर एक छोटा सा विषाद आकर मुझे घेर लेता है, 'अरे, पुस्तक लेने खुद मटियानी जी आए, लेकिन पुस्तक की कोई प्रति इस समय तो है ही नहीं मेरे पास। एक प्रति थी, वह एक सज्जन आकर ले गए। उन्हें देते हुए मैंने सोचा था कि मटियानी जी ने कहा तो है, मगर वे कहाँ आएँगे। इतने बड़े लेखक हैं, क्या याद रहेगा?'

मैं मटियानी जी को बड़े संकोच सहित बताता हूँ तो वे हँसकर कहते हैं, 'कोई बात नहीं, फिर कभी आकर ले लूँगा। मैं तो आपसे मिलने चला आया।'

मैं उनकी इस सरल, सादगी पर मर मिट चला हूँ। क्या यह सच है? मुझसे मिलने आए हैं मटियानी जी? मुझ जैसे तुच्छ आदमी से! मैं महसूस करता हूँ, मटियानी जी का बड़प्पन और बड़ा हो गया है और मेरी 'तुच्छता' भी उनकी निकटता से कुछ-कुछ महिमा मंडित हो चली है।

इसके बाद तो उनसे लगातार मिलना हुआ। कभी-कभी हफ्ते में दो-दो बार भी। कोई भी विषय हम उठा लेते और उस पर मटियानी जी के विचार सुनने को मिलते। वे विचार, यह तय था कि सौ प्रतिशत मटियानी जी के ही विचार होते और पूरे हिंदी जगत में वैसा सोचने वाला लेखक शायद ही कोई और हो।

जल्दी ही पता चल गया कि बातचीत में मटियानी जी 'दीर्घसूत्री' हैं और उनसे बातचीत करते हुए न समय का अंदाजा आपको रहता हैं, न उन्हें। और अगर पंद्रह-बीस मिनट में आपको कोई बात करनी है तो हो सकता है, दो-ढाई घंटे हो जाएँ और बात फिर भी अधूरी ही रहे। फिर अचानक घड़ी पर आपकी नजर पड़े और आप अचकचा जाएँ, 'अच्छा, ढाई घंटे हो गए! कुछ पता नहीं चला, कमाल है।' मुझे अच्छी तरह याद है, एक बार दफ्तर का समय खत्म होने के बाद कोई आठ बजे चौकीदार के खटखटाने पर हम उठे थे।

इन्हीं दिनों उनके कहानी संग्रह 'बर्फ की चट्टानें' पर मैंने दैनिक हिंदुस्तान में एक लंबा आलोचनात्मक लेख लिया। इसमें संग्रह की अच्छी कहानियों, 'छाक', 'अर्द्धांगिनी', 'दो दुखों का एक सुख' और 'प्रेत मुक्ति' की विस्तार से चर्चा के साथ-साथ जो कमजोर कहानियाँ थीं, उन पर थोड़ी कठोर टीप थी कि ये कच्ची कहानियाँ हैं, इन्हें हरगिज इस संग्रह में नहीं होना चाहिए था। लेख छपा तो मुझे आशंका थी, हो सकता है, मटियानी जी बुरा मान जाएँ। उनके बारे में चारों तरफ इसी तरह की बातें कही-सुनी जाती थीं। पर मेरा अनुभव एकदम भिन्न निकला। जब उन्होंने लेख पढ़ा तो उस पर खुशी ही प्रकट की। बोले, 'इतने विस्तार से मेरी कहानियों पर कम ही लोगों ने लिखा है। जो लेख लिखे भी गए, वे छपे नहीं—किसी राजनीति के कारण। ऐसा भी हुआ कि लेख छपने गया

और आखिरी वक्त में रोक लिया गया। डॉ. रघुवंश का मुझ पर लिखा गया ऐसा ही एक लेख अब भी मेरे पास पड़ा होगा। तुमने जिन कहानियों को कमजोर बताया है, वे मेरी भी प्रिय कहानियाँ नहीं हैं। बस, आ गईं किसी तरह!'

ऐसी सरलता और ऐसी साफगोई भला मटियानी जी के सिवा और किस लेखक में मिलेगी?

मटियानी जी से हुई मुलाकातों को याद करूँ तो उसमें कहानी की मौजूदा हालत, लेखक के सरोकार और समाजिक प्रश्नों से लेकर मटियानी जी के अतीत, घर-परिवार, वर्तमान परिस्थितियाँ आदि तथा उनकी कहानियों की चर्चा की याद ही ज्यादा आती है। वे खुलकर और विस्तार से बात करते थे, अपनी एकदम सहज मुद्रा में। हालाँकि एक दफा 'हंस' के एक संपादकीय में छपे विचारों पर मैंने मटियानी जी को आगबबूला होते देखा। इस संपादकीय में राजेंद्र यादव ने पुराने लेखकों की तुलना गलित, क्षरित, बुढ़ियाई हुई अभिनेत्रियों से की है—दर्शक जिन्हें इस रूप में पर्दे पर बर्दाश्त करने को तैयार नहीं हैं। फिर इस पर यह टीप भी है कि हालाँकि कुछ लेखकों को यह तुलना बुरी लग सकती है, मगर इसमें गलत क्या है?

राजेंद्र यादव की इस टिप्पणी से तिलमिलाकर मटियानी जी ने कहा, 'किसी और भाषा में ऐसा होता—लेखकों के स्वाभिमान पर चोट पहुँचती तो क्या वे यह बर्दाश्त करते? सभी मिलकर पत्रिका का बायकाट कर देते और जब तक संपादक माफी न माँगता, कोई प्रतिष्ठित लेखक उसमें लिखने के लिए तैयार न होता। पर हिंदी में लेखक स्वाभिमान से कोरे हैं, उन्हें कुछ महसूस ही नहीं होता।'

मुझे 'सारिका' के 'गर्दिश के दिन' के लिए लिखी गई उनकी टिप्पणी 'लेखक की हैसियत से' याद आती है जिसमें उन्होंने दूसरों की तरह आत्मदया से ग्रस्त होकर अपने अतीत के दुखों को ग्लोरीफाई नहीं किया। इसके बजाय उन्होंने अपने भीतर की उस ताकत के बारे में लिखा है जो बुरे से बुरे हालात में उन्हें लड़ने की ताकत देती रही। साथ ही उनके संघर्षपूर्ण जीवन के भीतर तक थरथरा देने वाले बड़े कारुणिक चित्र उसमें हैं, जिन्हें मटियानी जी ने बिना किसी आत्मदया के, एक गहरी निस्संगता के साथ लिखा है— 'मुंबा देवी के मंदिर के सामने भिखारियों की कतार है और अन्न की प्रतीक्षा है? चर्च गेट, बोरिवली या बोरीबंदर से कुरला थाना तक की बिना टिकट यात्राएँ हैं और अन्न की प्रतीक्षा है। और इस अन्न की तलाश में भिखारियों की पंगत में बैठने से लेकर जान-बूझकर 'दफा चौवन' में भारत सरकार की शरण में जाना और जूते-चप्पलों तक का चुराना ही शामिल नहीं, राष्ट्रीय बेंतों और सामाजिक जूते-चप्पलों से पिटना भी शामिल है।'

और मैं सोचता हूँ, काश! मटियानी अपने उस दौर के अनुभवों पर विस्तार से कलम चलाएँ, ताकि वह 'महाभारत' जिससे वे निकलकर आए हैं और जो समय की ओट है, वह हम सबके सामने आ सके। वह किसी उपन्यास से ज्यादा सजीव और रोमांचक होगा। पर क्या मटियानी सब ओर से खुद को समेटकर लिख पाएँगे वह?

अब तक मन बन गया था कि मटियानी जी का एक लंबा इंटरव्यू लिया जाए? इतने बीहड़ आदमी को अपने सामने इतनी अंतरंगता के साथ खुलते देखकर बार-बार लगता था—मैं उनके गहरे अंतर्द्वंद्व का गवाह हूँ। उसे लिखना मेरी जिम्मेदारी है!

एक दिन बात करते-करते बीच में टोककर अपनी इच्छा कही तो बोले, 'हाँ, इच्छा मेरी भी है लेकिन वह आप बाद में कभी करें। उसके लिए टेपरिकार्डर होना जरूरी है। एक-एक शब्द टेप हो, फिर लिखा जाए। और कुछ मुद्दे तय कर लिए जाएँ। वे साहित्य के हो सकते हैं, लेखक और समाज के संबंध में या लेखक और सत्ता के संबंध में हो सकते हैं। मेरी रचनाओं पर भी अलग से बात ही सकती है, आज के लेखक के सामने खड़े संकट पर बात हो सकती है। रचना और पुरस्कार तथा रचना और पारिश्रमिक को लेकर भी बात हो सकती है। ऐसे ही और भी विषय लिए जा सकते हैं। कोई हफ्ता या पंद्रह दिन यह सिलसिला चले। फिर इस पर चाहे तो एक किताब ही हो सकती है। शर्त यह है कि उसकी रॉयल्टी आधी-आधी रहेगी!'

इस शर्त को मानने में तो भला क्या आपत्ति हो सकती थी? लेकिन उनकी इतनी बड़ी योजना सुनकर मैं भीतर से कुछ हिल गया। योजना मुझे बुरी नहीं लगी थी, लेकिन इसके पूरा होने की उम्मीद बहुत कम नजर आती थी। खासकर जिस तरह वे भागते हुए आते, भागते हुए जाते थे और तीन-चार घंटे का समय मुश्किल से मिलता था, उससे यह सपना भी देख पाना कि मटियानी जी कोई हफ्ता, पंद्रह दिन मेरे यहाँ आकर ठहरेंगे, असंभव लगने लगा था। और फिर अगली मुलाकात तो अनिश्चित होती ही थी!

तो हारकर एक तकरीब मैंने निकाली। जब-जब वे मिलते, मैं उनके जीवन-इतिहास का कोई पन्ना खोल देता और वे बताना शुरू करते तो बताते चले जाते। इसी सिलसिले में उनके परिवार की पृष्ठभूमि का पता चला। पता चला कि उनका बचपन घोर नरक जैसी गरीबी में बीता। स्कूल की फीस एक-दो आने होती थी, लेकिन उतना देने को भी घर में पैसे नहीं थे। माता-पिता छोटी उम्र में अनाथ छोड़कर गुजर गए थे। चाचा के पास पल रहे थे। चाचा खिला रहे थे तो काम भला कैसे न लेते? लिहाजा मटियानी बकरियाँ चराने के लिए जाते तो एक स्कूल के सामने एक पेड़ के नीचे बैठ जाते। बच्चों को साफ कपड़े पहने स्कूल में जाते देखते रहते, लालसा भरी करुण आँखों से। स्कूल के बच्चों की गिनती-पहाड़े याद करने की आवाजें आतीं तो वे पेड़ के नीचे बैठे-बैठे दोहराते जाते। इस तरह उन्होंने वर्णमाला, गिनती और पहाड़े थोड़े-थोड़े सीख लिए।

एक दिन स्कूल के गैलाकोटी जी बाहर निकले। बालक से पूछा, 'क्यों पढ़ोगे?' और बालक की आँखों में आँसुओं का झरना फूट पड़ा। वह बिलख-बिलखकर रोया। मटियानी जी इस प्रसंग को सुनाते हुए बहुत भावुक हो गए थे। खुद मेरी हालत यह थी कि वह रोता हुआ बच्चा आज मेरे अवचेतन का एक जरूरी हिस्सा हो गया है। फिर उन्होंने भागकर मुंबई चले जाने और एक होटल में बैरागीरी करने की 'कथा' सुनाई। वहीं होटल में 'छोटू' की भूमिका निभाते हुए, मैले बरतन घिसने के साथ-साथ उन्होंने कहानियाँ लिखीं। एक कहानी 'धर्मयुग' में छपने भेज दी और साथ में अपनी हालत भी बयान कर दी।

'धर्मयुग' संपादक सत्यकाम विद्यालंकार ने पत्र पढ़ा तो वे अपने सहयोगियों के साथ उस अनोखे बालक से मिलने के लिए आए। किशोर मटियानी ने चाय पिलाई और बाद में बात चलने पर उसे 'धर्मयुग' संपादकीय परिवार में लिए जाने की भी चर्चा चली। लेकिन रमेश मटियानी 'शैलेश' हाईस्कूल पास भी नहीं था, जो संपादकीय परिवार में शामिल किए जाने की न्यूनतम शर्त थी। तो भी उसकी रचनाएँ 'धर्मयुग' में स्थान पाने लगीं। मटियानी ने अपने जीवन की वह पहली और आखिरी नौकरी छोड़ दी और रचनाओं के पारिश्रमिक के आधार पर अपना गुजर-बसर करने लगे। फिर तो धीरे-धीरे यह हुआ कि उनकी कहानियों की धूम मच गई और पाठकों ने उन्हें इतना पसंद किया कि देखते ही देखते वे हिंदी के पहली कोटि के कहानीकारों की पंक्ति में आ गए।

लेकिन हिंदी कहानी में उनका यह स्थान बना तो आलोचकों के बल पर नहीं, पाठकों के बल पर। आलोचकों से उनको निरंतर निर्लज्ज उपेक्षा ही मिली और आलोचना जगत में उनकी किसी कहानी की कुछ खास चर्चा रही हो, उन्हें याद नहीं आता। मटियानी जी के पाठकों को यह सुनकर थोड़ा अचरज होगा कि पहले वे कविताएँ भी लिखा करते हैं। बल्कि उनके लेखन की शुरुआत कविताओं से ही हुई। फिर धीरे-धीरे कविताएँ छूट गई और वह कहानीकार के रूप में ही ख्याति पाते चले गए। मटियानी जब यह बता रहे थे तो मैंने पूछा, 'क्यों?' इस पर अपनी 'भव्य' काया की ओर इशारा करके वे बड़े जोर से हँसे, 'भई, एक तर्क तो शरीर का तर्क भी था...कि इतने बड़े शरीर वाले आदमी को कुछ जरा जमकर बड़ी रचनाएँ लिखनी चाहिए। सोलह-बीस पंक्तियों की कविता लिखते शर्म आती थी।'

इतना बड़ा जीवन उन्होंने बगैर नौकरी के कैसे निकाल दिया? कैसे उनके घर-परिवार का खर्च चला? जीवन में उन्हें क्या-क्या मुसीबतें, कैसे-कैसे अपमान झेलने पड़े? इसे शायद ही किसी ने समझने, जानने की कोशिश की हो। 'एक फ्रीलांस

राइटर के लिए डाकिए का क्या महत्त्व होता है?' मटियानी एक बार बता रहे थे, 'इसे कोई दूसरा जान ही नहीं सकता। कई बार तो हालत यह होती है कि घर में एक दाना तक नहीं है। पैसे के नाम पर एक फूटी चवन्नी तक नहीं और घर में कोई मेहमान आया बैठा है। आप बाहर सड़क पर चहलकदमी कर रहे हैं कि शायद डाकिया आए और मनीआर्डर लेकर आए।'

इतना सब करने के बाद भी मटियानी जी को आखिर क्या मिला—पूरा जीवन साहित्य के लिए झोंक देने के बाद भी? मैं सोचता हूँ और थरथरा उठता हूँ। 'और साहित्य की दुनिया में भी मैं कहाँ हूँ?' कभी-कभी निराश होकर वे कहते थे, 'मुझे कहाँ रहने दिया गया? इनका बस चलता तो मुझे मिटा ही डालते।'

थोड़ी देर से समझ में आता है कि 'इनका' से मटियानी जी की मुराद आलोचकों से है। 'आलोचना की हालत बहुत बुरी है। इतनी किताबें मेरी छपी हैं, लेकिन मेरी शायद ही किसी किताब पर आपने कोई समीक्षात्मक लेख या टिप्पणी देखी होगी। किसी की रुचि इसमें नहीं है कि मैं जिंदा रहूँ। मैं तो खत्म ही हो जाता, बस किसी तरह अपनी इच्छा-शक्ति के सहारे जी रहा हूँ? स्थितियाँ मुझे लगातार खत्म करने पर तुली हैं। मुझे खुद ताज्जुब होता है, मैं जीवित कैसे हूँ।'

मटियानी जी उन लेखकों में से हैं जिन्हें समय ने साबित किया है। उन्हें आलोचकों ने नहीं, पाठकों ने बनाया है और वे हैं तो इसलिए कि हिंदी के पाठकों ने लंबे अरसे से उन्हें अपने दिल में जगह दी है। मटियानी जी को यहाँ जो प्यार और सम्मान मिला है, वह शायद ही हिंदी के किसी और लेखक को मिला हो। यों तो उनकी कहानियों की धमक सन् 1961 में छपे उनके पहले कहानी-संग्रह 'मेरी तैंतीस कहानियाँ' के छपकर आने के साथ ही सुनाई देने लगी थी। इस संग्रह में 'वह तू ही था', 'एक कप चाय दो खारी बिस्कुट', 'कालिका अवतार', 'पोस्टमैन', 'गरीबुल्ला', 'कीर्तन की धुन' सरीखी उनकी ऐसी कहानियाँ शामिल हैं, जिनकी उनकी कथा-यात्रा में अंत तक चर्चा होती रहेगी।

सच तो यह है कि मटियानी के कथाकार-व्यक्तित्व की बनावट और शक्ति-केंद्र को समझने में इन कहानियों से बड़ी मदद मिलती है। 'वह तू ही था' और 'पोस्टमैन' में अगर पहाड़ के सीधे-सादे लोक जीवन और वहाँ के दैन्य और विवशताओं का चित्रण है, तो 'एक कप चाय या दो खारी बिस्कुट' और 'कीर्तन की धुन' जैसी कहानियाँ मुंबई के महानगरीय जिंदगी के ढोंग को हमारे आगे खोलकर रख देती हैं। यानी ये कहानियाँ पहाड़ और मुंबई दोनों जगहों के मटियानी के दोहरे संघर्ष की अलग-अलग स्तरों पर अभिव्यक्ति हैं।

कोई आश्चर्य नहीं कि मटियानी जी के यहाँ पहाड़ एकदम ठोस रूप में सामने आता है, जिसमें पहाड़ की स्त्रियों और विवश लोगों की पहाड़ जैसी जिंदगी की भूख और दैन्य का पसारा है। इस लिहाज से निर्मल वर्मा के 'पहाड़' और शैलेश मटियानी के 'पहाड़' की तुलना दिलचस्प हो सकती है। इसलिए कि मटियानी जी के यहाँ पहाड़ अमूर्त नहीं है। वह अपने सुख-दुख, दैन्य, अभाव और सुंदरता के साथ एकदम ठोस रूप में है और उसकी सुंदरता ऐसी है कि वह भीतर उतरती है, तो हमारी आत्मा जगमगाने लगती है। शायद यही वजह है कि मटियानी जी के यहाँ पहाड़ के साथ-साथ लोक जीवन और लाककथाओं की शैली समांतर चलती है।

'मेरी तैंतीस कहानियाँ' की भूमिका तो गजब की है, जिसमें मटियानी जी ने खुलकर अपने 'गर्दिश के दिनों के बारे में लिखा है। उनके शब्द हैं—'दैनिक हिंदुस्तान के भाई ब्रजमोहन जी शर्मा से पाँच रुपए उधार लेकर अपने एक पहाड़ी साथी के साथ बिना टिकट मुंबई के लिए रवाना हुआ। और एक दिन मैंने पाया, कि चारों ओर महानगरी मुंबई की विशाल अट्टालिकाएँ हैं और नीचे फुटपाथ, जिनमें मैंने अब शरण लेनी है। और मुझे यह स्वीकारते संकोच नहीं कि मुंबई के फुटपाथों ने, उन फुटपाथों पर पलने-पनपने वाले कुलियों, मजदूरों, भिखमंगों, उचक्कों, उठाईगीरों और गुंडों ने मुझे जो आत्मीयता दी, जो सहारा दिया और श्रम करते हुए जीने की जो दिशा-दृष्टि दी, वह साहित्यकारों के यहाँ उपलब्ध नहीं

होती। उन साहित्यकारों के यहाँ, जो 'मानवेतर-साहित्यकार' यानी महान् साहित्यकार होते हैं।'

इसके बाद छपे मटियानी के संग्रह 'दो दुखों का एक सुख' की तो खासी धूम रही। इस संग्रह में भी उनकी सर्वाधिक चर्चित और यादगार कहानी 'दो दुखों का एक सुख' के अलावा 'प्यास', 'असमर्थ', 'रहमतुल्ला', 'चुनाव', 'मिसेज ग्रीनवुड', 'प्रेतमुक्ति' जैसी कहानियाँ शामिल हैं। इनमें 'प्यास' एक जेबकतरे पर लिखी गई बेहद मार्मिक कहानी है। भीड़ और पुलिस से पिटने और भरपूर लात-घूँसे खाने के बाद लगभग बेहोशी की हालत में कल्पना में उसे अपनी माँ दिखाई पड़ती है और जोर से प्यास लगने की अनुभूति होती है। शायद यह हिंदी की अकेली कहानी है जो किसी जेबकतरे की पीड़ा को इतनी गहरी सहानुभूति और शिद्दत से सामने रखती है। इसी तरह 'रहमतुल्ला' एक ऐसे गरीब बच्चे की कहानी है, जो हिंदू और मुसलमान दोनों धर्मों के मसीहाओं के चरित्र पर सवालिया निशान लगाता है, क्योंकि गरीब से उन्हें बदबू आती है और वे 'दुर-दुर' करके उसे दूर भगाते हैं। तब आखिर एक कसाई के यहाँ उसे शरण मिलती है।

मटियानी जी की कहानियों के दूसरे चरण में एक ओर 'सफर पर जाने से पहले', 'असुविधा', 'तीसरा सुख' जैसी प्रेम और पारिवारिक विडंबना की कहानियाँ हैं तो दूसरी ओर 'इब्बू मलंग', 'घोड़े' और 'ब्राह्मण' जैसी कहानियाँ लिखकर उन्होंने धर्म के आडंबरों को जैसे गहरी चुनौती दी हो! इनमें 'इब्बूमलंग' तो अद्वितीय कहानी है। ऊपर से मैला, गलीका, नशेड़ी दिखाई देने वाला एक शख्स, जिसे जबरन पीर बना दिया गया है। असंख्य लोग उसके पास मन्नतें माँगने आते हैं। हर ओर उसका जय-जयकार है, पर एक स्त्री की पीड़ा और उसके साथ हुआ अन्याय उसे इस कदर मर्माहत कर देता है कि पीर का बाना एक तरफ फेंककर वह विद्रोह कर उठता है। उसके भीतर से एक ऐसा आदमी निकलकर आता है, जिसकी आत्मा बेहद उज्जवल है!

मटियानी जी की कहानियों का तीसरा चरण सन् 1975 में छपे 'महाभोज' में शुरू होता है, जिसमें आगे चलकर 'कोहरा' (1980), 'अहिंसा' (1987), 'नाच, जमूरे नाच' (1989) जैसे संग्रहों की एकदम अलग ढंग की कहानियाँ आ जुड़ती हैं। यह मटियानी जी की कहानियों का शिखर-काल है जिसमें एक ओर वे 'मैमूद', 'भविष्य', 'मिट्टी', 'चील', 'वृत्ति', 'अहिंसा' जैसी निचले और दबे-कुचले वर्ग की पीड़ा से लथपथ कहानियाँ लिख रहे थे, तो दूसरी ओर 'अर्द्धांगिनी' और 'छाक' जैसी प्रेम की अपूर्व सिद्धि की कहानियाँ भी, जिनमें प्रेम की अनंत छवियाँ हैं। और वे इतने गहरे स्तर पर संक्रमित होती हैं कि पाठक का मन एकदम उदात्त धरातल पर पहुँच जाता है। हिंदी में प्रेम-कथाएँ तो बहुत लिखी गईं लेकिन दांपत्य प्रेम की सरलता और ऊँचाई को लेकर जैसी सघन अनुभूतियों और कथा-रस से भरपूर, प्रभावशाली कहानियाँ मटियानी जी ने लिखीं, वैसी शायद ही कोई और लिख पाया हो!

आखिरी चरण में मटियानी जी की 'नदी किनारे का गाँव' की वे कहानियाँ आती हैं, जिनमें एक ओर वे अपनी पारिवारिक दुरवस्था और विक्षेप से लड़ रहे थे और दूसरी ओर आकंठ लेखन में डूबे थे। इस दौर की 'नदी के किनारे गाँव', 'उपरांत' जैसी उनकी कहानियाँ खासी चर्चित हुईं और इससे उनके उस जीवट का भी पता चलता है, जिसमें सब तरह के बाहरी दबावों और असंतुलन के बावजूद उनका लेखन एक गहरे संतुलन और ऊँचाई तक पहुँचा। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन कहानियों को लिखने में मटियानी को कितनी गहरी पीड़ा और आत्मसंघर्ष से गुजरना पड़ा होगा।

सच तो यह है कि हिंदी कथा-लेखन में अलग-अलग दौर में चाहे जो भी कहानीकार महत्त्व पा गए हों, या पाते रहे हों, पर अगर हम यह सवाल इस ढंग से पूछें कि प्रेमचंद के बाद किस कहानीकार ने सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली कहानियाँ दीं, किसकी कहानियों में जीवन के अनदेखे क्षेत्रों के बीहड़ और विविध किस्म के अनुभव सबसे अधिक मिलते हैं तथा किसकी कहानियाँ बार-बार हमें जीवन के एक तरह के अनुभूति-विस्तार से जोड़ देती हैं, तो मटियानी से बराबरी कर सकने वाले बहुत कम कहानीकार हिंदी में होंगे, यह तय है।

मटियानी जी भीषण जीवन-संघर्षों का ताप, भूख और अपमान सहकर एक लेखक का जीवन जीते हुए, दुख-अभाव की जिस भट्ठी में तपे हैं। और निम्न वर्ग के पात्रों की पीड़ा में पूरी तरह खुद को सानकर मैले-कुचैले भिखारियों, मजदूरों, यहाँ तक कि जेबकतरों और अपराधियों तक की जो कहानियाँ उन्होंने लिखी हैं और जिस तरह 'सतह के नीचे' की जिंदगी के अँधेरों को खँगालकर, वहाँ छिपे हुए जीवन के उज्ज्वल चरित्रों को वह देखते-दिखाते हैं, वैसा हिंदी के बहुत कम कहानीकार कर पाए हैं। यहाँ मटियानी जी का दुस्साहस अजेय है और उनकी सामर्थ्य की कोई सीमा नहीं है।

अगर कोढ़ियों, भिखारियों और जीवन की तलछट में पड़े मैले-कुचैले, घिनाते लोगों की जिंदगी पर अपार सहानुभूति से भरकर वे 'दो दुखों का एक सुख', 'मिट्टी', 'प्यास', 'चील', 'रहमतुल्ला' जैसी एक साथ करुणा और सिहरन पैदा करने वाली यादगार कहानियाँ लिखते हैं, तो पहाड़ के जीवन पर लिखी गई उनकी ऐसी कहानियाँ भी हैं जिनमें जीवन का प्रेम-राग किसी निर्मल नदी की धारा सा बहता है और जिनमें लोक का सुख-दुख एक अजब तरह का महाकाव्यात्मक विस्तार पा लेता है।

इसी तरह दलित चेतना को लेकर मटियानी जी 'सतजुगिया' जैसी स्तब्ध कर देने वाली सटीक कहानी लिखते हैं तो शहरी जमीन पर गरीब के साथ हो रहे निरंतर 'धनपशुओं के बलात्कार' और हिंस्र मजाक पर 'अंहिसा' जैसी जबरदस्त कहानी लिख देते हैं, जिसे पढ़ने के बाद भीतर एक थरथराहट सी भर जाती है। ऐसे ही धार्मिक शोषण की भीतरी करुण तसवीर पेश करते हुए वे 'इब्बू मलंग' जैसा लगभग ऐतिहासिक महत्त्व रखने वाला हिंदी कथा साहित्य का एक अमर पात्र गढ़ देते हैं। दूसरी ओर, पारिवारिक जीवन के दुख-अभावों के भीतर बहते रस को मटियानी कहने पर आते हैं तो 'छाक' और 'अर्द्धांगिनी' जैसी शिखरस्थ कहानियाँ लिखते हैं, जिनके बारे में मेरा पक्का यकीन है कि इन्हें मटियानी और सिर्फ मटियानी ही लिख सकते थे। ऐसी कहानियाँ जिनके लिए मेरे पास एक ही शब्द है, 'ये महान हैं, सिंपली ग्रेट!'

असल में शैलेश मटियानी उन कहानीकारों में से हैं जिन्होंने एक तरह से कहानी कला की 'सिद्धावस्था' प्राप्त कर ली है। इसीलिए तमाम लोग शब्दों की 'किसिम किसम की बाजीगरी' से जो नहीं कर पाते, उसे वे कभी-कभी तो बोलचाल की बड़ी भदेस सी भाषा और बेहद मामूली शब्दों में कर दिखाते हैं। मटियानी जी की कहानियाँ पढ़ते हुए एक बात जो बार-बार मन में कौंधती है, वह यह कि कोई कहानीकार जब जिंदगी और आदमी के हड्डियों को कँपकँपाते संघर्षों से गुजरता है, तो न मालूम कितनी 'जिंदगी' वह अपने शब्दों में कैद कर लेता है कि पृष्ठ-दर-पृष्ठ वह कितने-कितने रूपों में अपनी झलक दिखाती है!

शैलेश मटियानी उन कहानीकारों में से हैं जिन्होंने हिंदी कहानी को शक्ल देने में खुद को समूचा झोंक दिया। फिर चाहे सारी जिंदगी उन्हें गर्दिश में बितानी पड़ी हो। साहित्य और पाठक वर्ग के बीच अपनी स्वीकृति के लिए वे किन्हीं दिग्गज आलोचकों के सर्टीफिकट के कभी मोहताज नहीं रहे। और देश के कोने-कोने में फैले पाठकों का जितना प्यार उन्हें मिला है, वह विरले ही लेखकों को नसीब होता है।

और सिर्फ मटियानी जी की कहानियाँ ही नहीं, खासा व्यापक केनवास लिए हुए उनके उपन्यास भी ऐसे हैं, जिन्हें पढ़ते हुए हम उस जमीन, उन चट्टानों और झाड़-झंखाड़ों को जरूर जान सकते हैं, जहाँ से गुजरते हुए उनके पैर लहूलुहान हुए, मगर जीवन का रस कहीं सूखा नहीं। शायद इसीलिए कुमाऊँनी परिवेश की कहानियाँ लिखने में उनका मन कहीं अधिक रमता है। शैलेश मटियानी ने पहाड़ के दर्द को जाना है और उसे इतनी तरह से अभिव्यक्त किया है कि पहाड़ लगभग बोलता हुआ नजर आने लगता है। खासकर लोक साहित्य और लोक शैली की विशेषताओं को रचा-बसाकर मटियानी भाषा में वह अद्भुत लचक और जिंदादिली पैदा कर लेते हैं जिससे मामूली से मामूली प्रसंग भी अर्थवान हो उठता है।

एक बात ध्यान देने की है, मटियानी जी को विचार और आधुनिकता से गुरेज नहीं है, लेकिन उन्हें रस मिलता है लोक

संस्कृति में। पहाड़ों की सांस्कृतिक विरासत जैसे उनके भीतर साँस ले रही हो। बार-बार वे उस महासागर में डुबकियाँ लगाकर तरोताजा होते हैं। अपनी कहानियों में वे अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों छोरों पर नजर गड़ाए मिलते हैं, लेकिन टिकते अंतत: वर्तमान पर ही हैं। न वे अतीतजीवी हैं और न भविष्यवादी होना चाहते हैं। कुल मिलाकर उनका उत्कट लगाव मामूली आदमी के साथ है, उसकी मामूली चिंताओं और मामूली तकलीफों के साथ है। यही उनकी मुश्किल है और यही उनकी मुश्किलों का हल भी, जिसके जरिए वे तमाम-तमाम ऊबवादी, नफरतवादी कहानीकारों की भीड़ में शामिल होने से खुद को बचा लेते हैं। और उनकी कहानियाँ एक ही वक्त में हम सबकी अपनी अमर और यादगार कहानियाँ बन जाती हैं।

बेशक मटियानी जी की सबसे खूबसूरत कहानियाँ वे हैं, जिनमें उन्होंने पहाड़ों के दर्द को छुआ है और उसकी अनगूँज के साथ-साथ बहे हैं। यह आकस्मिक नहीं कि इन कहानियों में स्त्री का दर्द, उसकी करुणा फूट पड़ी है। लोक शैली के रंग में सराबोर 'पोस्टमैन' कहानी इस लिहाज से बेमिसाल है जिसमें भाषा की लचक और जिंदादिली देखते ही बनती है। 'पोस्टमैन' की आँखों में लाम पर जाने वाले सैनिकों की पत्नियों का अजीब करुण चित्र खिंच आया है। पोस्टमैन का आना उनमें उत्सुकता पैदा करता है, लेकिन इसके भी अलग-अलग अर्थ हैं। जब वह चिट्ठी लाता है तो ऐसी हर औरत हिरनी की-सी आँखें और खरगोश के से कान बना लेती है, जैसे वह लाम से आया कोई फरिश्ता हो। 'लियो पोस्टमैन सैप' कहकर खूब चीनी मिला दूध गिलास में भरकर पिलाया जाता है। मगर वही जब-जब 'तार' लेकर आता है, तो किसी न किसी स्त्री का सुहाग उजड़ता है और शामत आती है बेचारे पोस्टमैन की, 'मर जाए पोस्टमैन, तेरा पालने-पोसने वाला, जिसने तुझे ऐसे कुकरम सिखाए! अरे, तेरे गोठ का बैल, गाँव का प्रधान मर जाए! मेरे बालकों को अनाथ कर गया तू। जैसा जैहिंदी तार तूने मेरे घर पहुँचाया, गोल्ल देवता के थान में बकरे काटूँ जो कोई तेरे घर भी ऐसा ही तार पहुँचा आवे!'

मटियानी जी ने फौजियों को लेकर बहुत सी कहानियाँ लिखी हैं—एक दर्जन से भी अधिक। इनमें दारिद्र्य की गहरी पीड़ा और कसक है कि बार-बार आँखें भीगती हैं। यह एक मार्मिक तथ्य है कि जब आप पहाड़ को छूते हैं तो जैसे लोक संस्कृति की गूँज को अनसुना नहीं कर सकते, वैसे ही इस मौजूदा सच्चाई को! देश की रक्षा का संकल्प करके लोग लाम पर जाते हैं। ये सैनिक तो जो झेलते हैं, वह झेलते ही हैं, लेकिन उनके पीछे पत्नी, बच्चे और परिवार को जो कुछ झेलना पड़ता है, वह एक 'अकथ कथा' है। इस तकलीफ को ओर बढ़ा देते हैं रतन सेठ जैसे लोग जो मौका पाते ही क्रूर, लिजलिजे मजाक करने से नहीं चूकते। 'बर्फ की चट्टानें' में ऐसे ही एक सैनिक की तकलीफ और संवाद मेरे भीतर अब भी गूँज रहे हैं।

ऐसा ही स्थितियों में कहीं 'चिट्ठी के चार आखर' जैसी गहरी पीड़ा से सनी, बेहद सरल और मासूम प्रेम कहानियाँ पनपती हैं, और कहीं 'सीने में धँसी आवाज' की कमला सूबेदारनी का डब-डब करता चेहरा आँखों के आगे आ जाता है। और इसी परिवेश से मटियानी जी 'अर्धांगिनी' जैसी खूबसूरत कहानी उठाते हैं, जिसके जोड़ की दांपत्य प्रेम की कहानियाँ पूरे हिंदी कथा-संसार में शायद अँगुलियों पर गिनी जा सकती है। 'अर्द्धांगिनी' असल में बगैर कहानी की कहानी है। मगर इतनी मार्मिक कि एक कँपकँपाता अहसास देर तक साथ-साथ चलता है। नैनसिंह सूबेदार घर में छुट्टियाँ काटकर वापस मोर्चे पर लौट रहा है। आगे-आगे सूबेदार, पीछे सिर पर सामान लादे सूबेदारनी चल रही है। गाँव का छोर आया, तो एक-एक रुपए के नोटों की नई गड्डी जरसी से निकालकर सूबेदारनी के हाथ में थमाई नैना सूबेदार ने। सूबेदारनी हँस पड़ी, 'इतनी ज्यादा रकम दे रहे मजदूरी में, अगली बार भी हम ही लाएँगी साहब का सामान!'

एक पनीला सा मजाक है पति-पत्नी के बीच, जो जितना हँसाता है, उससे ज्यादा वियोग के दाह को उभार जाता है। और नैना सूबेदार की मन:स्थिति! भीतर जाने क्या कुछ फूट पड़ा है—'सूबेदारनी हँस रही थी, हाथों को अलग करना कठिन हो गया। बेल लिपटी जान पड़ती है। एकाएक अराड़ी के जंगल में न्योली गाते समय का परिहास छा गया। भीतर

कोई फूट-सा पड़ा—छोड़ो यार, सूबेदार! सारा बोरा-बिस्तर भूल जाओ यहीं सड़क पर। यों ही हाथ फँसाए, सूबेदारनी को ले उड़ो, खेत, घाटी, जंगल, नदी—सबको उलाँघते चले जाओ। जब थक जाओ, सूबेदारनी की गोद में सिर रखे आँचल ऊपर उठा दो और पड़े रहो।'

सचमुच पहाड़ की निर्मल जिंदगी के इतने सुंदर अक्स हैं 'अर्द्धांगिनी' कहानी में कि मन इस कहानी को पढ़कर भरता ही नहीं है। जितनी बार भी इस कहानी को पढ़ें, हर बार सुंदरता के नए-नए अक्स और जीवन का एक नया ही रस मिलता है। पहाड़ के जीवन पर लिखी मटियानी जी की बहुतेरी कहानियाँ ऐसी हैं, जिनमें राष्ट्र प्रेम का संदेश सीधे-सीधे भी आ गया है, लेकिन मटियानी जी उसे अपनी कहानी में इस खूबसूरती से गूँथ देते हैं कि कहानी की संश्लिष्ट रचना में बिलाकर वह कहानी का अविभाज्य हिस्सा लगता है। और ये कहानियाँ सीधे-सीधे संदेशवाची या प्रचारात्मक कहानियाँ नहीं लगतीं।

इस लिहाज से मटियानी जी की 'लोकदेवता' कहानी के बलभद्दर थोकदार का तो जवाब ही नहीं। कहानी का नाम 'लोकदेवता' है। मगर यह लोकदेवता कोई मिट्टी की प्रतिमा नहीं है। यह लोकदेवता, थोकदार बलभद्दर सिंह का वह आदमकद रूप ही है जो चीन के आक्रमण के समय पूरे गाँव और आस-पास के इलाके में देशभक्ति और जागृति की लहर पैदा किए दे रहा था। हवाओं में मानो बलभद्दर थोकदार के वीरतापूर्ण उद्गार समा गए हैं—'सुनो रे मेरे जवान छोकरो! ये अपनी खून भरी आँखें मुझ बूढ़े को क्या तरेरते हो। जाओ रणछेत्तर में और दुश्मन की फौजों को दिखाओ और उनका संहार करके धरती माता का उद्धार करो! तुम लोगों ने दिखा दिया अपने इन पितरों के ही जैसा पौरुष-पराक्रम तो आने वाली पीढ़ियों की संतानें तुम्हें देवताओं के रूप में पूजेंगी। और आज जैसे इस गाँव की धरती में महाबली पितर लोक देवता हरू राजा की वीरगाथा गाई जा रही है एक दिन इसी गाँव की धरती धूनी में तुम्हारी संतानें तुम्हारी वीर गाथाएँ गा-गाकर तुम्हें पूजेंगी और तुम्हें उत्तराखंड में देव चोला प्राप्त होगा। और यदि कायर बनकर गाँव में पड़े रहोगे, तो तुम्हारी गाथा तो गाने को बाकी रहेगी नहीं, तन की मिट्टी भी शेष नहीं रहेगी।'

ये ऐसे सीधे-सहज, लेकिन भीतर तक झिंझोड़ने वाले शब्द हैं कि पढ़कर रोमांच होता है, और थोड़ी देर के लिए देह की कोई सुध-बुध नहीं रहती। इसी तरह मटियानी जी की आँख जब यथार्थ को भेदती है तो वह खाली वर्तमान को ही नहीं, उसके आर-पार भी बहुत कुछ देख लेती है। 'मिट्टी', 'अहिंसा', 'चील', 'प्यास', 'मैमूद', 'दो दुखों का एक सुख' उनकी ऐसी यथार्थपरक कहानियाँ हैं जिन्हें पढ़ना 'सतह के नीचे' की जिंदगी के कठोर और हिला देने वाले साक्षात्कार का सामना करना है। यथार्थ के जिन गहरे और निपट अँधेरे खाई-खड्डों में उतरकर मटियानी जी ने इन्हें लिखा है, हिंदी के ज्यादातर 'कुलीन' लेखक तो वहाँ झाँकते हुए भी डरेंगे। इसीलिए यह सिर्फ मटियानी ही हैं जो जानते हैं कि भिखमंगों और कोढ़ियों के दुर्गंधाते नरक जैसे लगते जीवन के बीच भी प्रेम किस तरह जगमगाता है, या अपराध की काली दुनिया में रहकर बड़े हुए किसी जेबकतरे की जिंदगी का भी कोई दर्द होता है जो आपके भीतर 'मानवता की आकुल पुकार' की तरह उतर जाता है।

वे ही जानते और कह पाते हैं कि किसी बकरे को बेटे की तरह मानने वाली किसी औरत के लिए उस बकरे को मारकर मेहमानों के लिए 'मीट' बना लिए जाने का दर्द क्या होता है या कि किसी मिरदुला कानी और भिखारी सूरदास के साझे दुख में भी सुख और तृप्तियों की कैसी-कैसी 'दिव्य' और लोकोत्तर झाँइयाँ हैं!

ये असल में कहानियाँ नहीं, हिंदी कहानी का 'लाइट हाउस' हैं, जिनसे पता चलता है कि हिंदी कहानी क्या है और क्या हो सकती है। उसकी आंतरिक शक्ति और विस्तार कहाँ तक है! और इसीलिए अगर आप मुझसे इस बीत चुकी बीसवीं शताब्दी की हिंदी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों की बात करें, तो मुझे इन कहानियों का ध्यान आएगा और अगर आप पूछें कि अच्छी कहानी क्या होती है या हो सकती है, तो मैं कहूँगा कि इसकी नीरस परिभाषा करने से बेहतर है कि मैं कुछ अच्छी कहानियाँ बता दूँ, जिन्हें पढ़कर मन में अच्छी कहानी की छवि कौंधती है

या जिनसे अच्छी कहानी के प्रतिमान तलाशे जा सकते हैं। और तब क्षमा करें—फिर मुझे इन्हीं कहानियों का ध्यान आएगा।

दूसरी ओर प्रेम की गहरी तन्मयता और सघन अनुभूति वाली जैसी कहानियाँ मटियानी जी के यहाँ हैं, वैसी शायद ही कहीं और मिलें। इनमें 'छाक' तो लाजवाब कहानी है। 'छाक' में एक कोण पर किशन मास्टर हैं तो दूसरे दो कोणों पर उमा और गीता मास्टरनी। पर इसे प्रेम की त्रिकोणात्मक कहानी मानकर आप नहीं चल सकते। इस रूप में इसका पाठ शायद हो ही नहीं सकता। इसलिए कि ये तीनों कोण अपनी उदात्त छवि में मिलकर इस कदर एकाकार से हैं कि लगता है, उसमें से सिर्फ एक ही सुर निकल रहा है जिसे प्रेम का अपार्थित, अदैहिक और कुछ आर्द्र किस्म का आत्मिक सुर कहा जा सकता है। कहानी में कोई कुंठा, कोई दुराव, कोई छिपाव नहीं। भाषा का कोई अनावश्यक कुहर-जाल नहीं। लेकिन साधारण शब्दों में ही जैसे कोई आसाधारण द्युति-सी फूट पड़ी है। इसलिए कि ये मन के भीतर के उस सच्चे निश्छल प्रेम की कथा है जिसे शब्दों की दरकार नहीं।

किशन मास्टर ओर उमा का दांपत्य जीवन सुख भरा और प्रेमपूरित रहा है। किशन मास्टर अब तिरेसठ की उम्र में हैं। और अपने समूचे जीवन को उन्होंने इस कदर सच्चाई और निरभिमानता से जिया है कि उनके प्रति खुद-ब-खुद एक आदर सा पैदा होता है। इन्हीं किशन मास्टर के भीतर बरसों पुराने प्रेम की खुशबू एक यात्रा के रूप में समाई हुई है। तब किशन मास्टर मिरतोला और जागेश्वर घूमने गए थे और साथ में थीं गीता मास्टरनी। उस यात्रा में गीता मास्टरनी का होना कुछ ऐसा था कि तिरेसठ की उम्र में भी आज वे उसे अपने रोएँ-रोएँ में महसूस करते हैं। कुछ सीधे-सादे शब्द, सीधी सादी बातें। लेकिन उनका प्रभाव यह था, जैसे चंद्रमा की रोशनी मन और आँखों पर दीपित हो रही हो।

ऐसा नहीं कि उमा यह सब जानती न हो। बहुत कुछ उमा को खुद उन्होंने बताया भी था। और जो शब्दों में उतर नहीं सका था, उसे उमा अपने स्त्री सुलभ ज्ञान से खुद-ब-खुद जान गई थी। यहाँ तक कि एक बार तो उमा ने हँसते-हँसते कह ही दिया था—'तुमको तो 'क्लास' लग गई, बोलने का मौका मिलते ही, गुरु बन जाते हो। मगर मत भूलो, कि मैं भी स्त्री हूँ और स्त्री के चित्त को जितना मैं जान सकती हूँ, तुम नहीं जान सकोगो। और देखो, प्रेम को जो पाप कहता है, खुद के डर में कहता है। नहीं तो यह निर्झर सबमें बहता है।'

कहना न होगा कि गीता मास्टरनी और किशन मास्टर के अद्भुत प्रेम की यह कथा उमा के इस निर्मल अहसास और साझेदारी के कारण ही शिखर तक पहुँचती है। मटियानी जी की कहानियों को महाकाव्यात्मक यों ही नहीं कहा गया। मेरे खयाल से उनकी सबसे बड़ी खूबी भी यही है, जिससे वे जीवन के पछाड़ें खाते और थिराए सभी रूपों को इतनी विविधता से शब्दों में बाँध पाए। आप मटियानी जी की कहानियों के एक-एक पात्र को देखिए। यह बात खुद साफ हो जाती है। जीवन से सीधे आए हुए जितने विविधि किस्म के पात्र मटियानी जी की पकड़ में आए हैं, वैसे शायद ही कहीं और देखने को मिलें। 'छाक' की मास्टरनी ओर 'अर्द्धांगिनी' की सूबेदारनी एक छोर पर हैं तो दूसरे पर गोपुली गफूरन, रामकली या सुरजो बाई। तीसरे छोर पर मिसेज ग्रीनवुड, चौथे पर मिरदुला कानी और सूरदास। कुसमी, सावित्री, लाटी, कमला सूबेदारनी, पुरोहित, बिजूका, दशरथ का पार्ट कर रहे चंद्रबल्लभ पांडे, 'सुहागिनी' की पद्मावती, 'रुका हुआ रास्ता' की गोमती, 'भस्मासुर' का ब्रह्मानंद, 'अहिंसा' का जगेसर, 'असमर्थ' का टुंडा, 'इब्बू मलंग' कहानी का विचित्र नायक इब्बू मलंग, 'प्यास' का जेबकतरा शंकरिया—एक से एक विचित्र लगने वाले औघड़ किस्म के पात्र मटियानी जी की कहानियों के महानद से निकल-निकलकर आपका पीछा करते हैं और उनसे पिंड छुड़ाना मुश्किल हो जाता है।

यह आकस्मिक नहीं कि मटियानी जी की ज्यादातर कहानियाँ संशय से शुरू होकर एक निश्चयात्मकता तक जाती हैं। वे भीतर-बाहरी दोनों तरह के संघर्षों से गुजरती हैं। मगर रास्ता भी निकालती नजर आती हैं। जीवन जैसा भी है, चाहे जितना उजाड़ और खूँखार हो, वे उसमें जीने लायक एक चप्पा जमीन तो खोज ही लेती हैं और आखिर तक उम्मीद नहीं छोड़तीं। 'असमर्थ' का टुंडा बहादुर भी इस मामले में असमर्थ

नहीं। 'दो दुखों का एक सुख' की मिरदुला कानी और अंधा सूरदास भी नहीं। यहाँ तक कि 'मिट्टी' की भीख माँगने वाली गनेसी भी नहीं। और 'वृत्ति' की सुरजो बाई तो खैर इतनी ऊँची, इतनी धाकड़ लगती है कि भले ही वेश्या हो, पर वह अपनी तेजी और सच कहने की ताब में जैसे कोई रानी-महारानी नजर आती है। ऐसे ही 'नंगा' की दीन-हीन गोमती को भी पता है कि वह सच कहने पर अड़ जाए तो प्रभुतासंपन्नों का सिंहासन तो एकबारगी हिलेगा ही।

सच पूछिए तो शैलेश मटियानी ने 'होल टाइमर' लेखक के सारे खतरे उठाते हुए, अकेले दस लेखकों के बराबर लिखा था। उन्होंने हिंदी में दर्जनों 'कालजयी' कहानियाँ ही नहीं, बहुत से बेजोड़ उपन्यास भी लिखे हैं और उनके उपन्यासों को किसी भी तरह कमतर आँकना भूल होगी। उनके 'मुठभेड़', 'बावन नदियों का संगम', 'आकाश कितना अनंत है', 'गोपुली गफूरन', 'मुख सरोवर के हंस', 'चंद औरतों का शहर' जैसे कोई आधा दर्जन उपन्यास जिस ऊँचाई पर हैं, उसे छू पाना बहुत कम उपन्यासकारों के लिए ही संभव हो पाता है। इसी तरह राष्ट्र भाषा हिंदी पर लिखे गए उनके लेख इतने चुनौतीभरे और विचारोत्तेजक हैं कि उन्हें कभी भुलाया ही नहीं जा सकता। 'राष्ट्र भाषा का सवाल' (1998) इस लिहाज से हिंदी भाषा के वर्तमान और उससे जुड़े मसलों को लेकर लिखी गई एक अनूठी किताब है, जिसे पढ़कर मटियानी के ईमानदार चिंतन के साहस का पता चलता है।

साहित्य और लेखकीय अस्मिता से जुड़े बहुतेरे मुद्दों पर भी उन्होंने खूब खुलकर कलम चलाई। 'लेखक और संवेदना' (1983), 'जनता और साहित्य' (1976), 'मुख्यधारा का सवाल' (1985), 'कभी-कभार' (1993), 'यदा कदा' (1996) उनके खरे-खरे साहित्यिक चिंतन-मनन की ऐसी किताबें हैं जिनके पीछे उनके दुर्धर्ष व्यक्तित्व और कठोर जीवनानुभवों का बल है। मोटे तौर से लेखकीय संवेदना और स्वाभिमान तथा लेखक और सामाजिक सरोकार उनके ऐसे लेखों की केंद्रीय भूमि रही है। और यहाँ उनकी लेखकीय ईमानदारी और गहरी अंतर्दृष्टि देखते ही बनती है। इसी तरह 'विकल्प' और 'जनपक्ष' पत्रिकाओं के माध्यम से मटियानी जी ने सचमुच साहित्यिक पत्रकारिता का आदर्श कायम किया। 'विकल्प' पत्रिका के केवल नौ ही अंक निकले, लेकिन उनकी खासी धूम रही।

यों उसमें शक नहीं कि मूलत: मटियानी जी कथाकार थे और उनके पास पहाड़ जैसे अनुभवों का इतना विशाल खजाना था कि उन पर कहानियाँ, उपन्यास लिखकर ही वे मुक्त हो सकते थे। इसी तरह बच्चों के लिए उन्होंने एक से एक असाधारण रचनाएँ लिखीं। इनमें 'माँ तुम आओ' तथा 'हाथी और चींटी की लड़ाई' गजब के उपन्यास हैं, जिन्हें बच्चों को ही नहीं, बड़ों को भी पढ़ना चाहिए। साथ ही उन्होंने लोककथाओं के पुर्नलेखन का चुनौतीभरा काम भी किया और इतने सृजनात्मक ढंग से गढ़वाल और कुमाऊँ की लोककथाओं को प्रस्तुत किया कि लगता है, इस क्षेत्र के लोक जीवन को समझने की बुनियादी कुंजी इन लोककथाओं में है।

सच तो यह है कि एक बड़ी प्रतिभा का बड़ा लेखक जब साहित्य की विभिन्न विधाओं में कलम चलाता है तो उसकी विस्फोटक प्रतिभा की चौंध और धमक हर जगह सुनाई देती है। मटियानी जी का संपूर्ण साहित्य इसका बेहतरीन उदाहरण है। हालाँकि उनके इस भव्य लेखकीय प्रासाद का सर्वोच्च शिखर निश्चित रूप से उनका असाधारण कथा साहित्य ही है। मुझे पूरा यकीन है कि आज के आपाधापी और साहित्यिक फैशनों की चकाचौंध के दौर में, जब हिंदुस्तानी कथा-लेखन के अपने मिजाज और जड़ों की तलाश का समय जब आएगा, तब मटियानी जी का कथा-साहित्य हमें कहीं अधिक जरूरी और मूल्यवान लगेगा। इसलिए कि उसमें हमारा और हमारे समाज का चेहरा ही नहीं, हमारे भीतर-बाहर आए बदलावों का बेहद जरूरी ऐतिहासिक साक्ष्य भी है, जिससे इन कहानियों को पढ़ते हुए हमारे समय की पूरी दास्तान आँखों के आगे आ जाती है।

545, सेक्टर-29,
फरीदाबाद-121008 (हरियाणा)
मो. 09810602327

हिंदी के हास्य-पितामह : जी. पी. श्रीवास्तव

जन्म – 23 अप्रैल 1989।
प्रयाण – 30 अगस्त 1976।

– शैवाल सत्यार्थी

जन्म – 27 जुलाई 1933।
जन्मस्थान – भिंड (म.प्र.)।
रचनाएँ – चार पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – पहला भारतरत्न अटल सम्मान सहित अनेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित।

अपनी कहानियों की रोचकता का हाल मैं क्या जानूँ, पाठक जानें। हाँ, यथाशक्ति कोशिश अलबत्ता करता हूँ कि पाठक अपना समय बेकार नष्ट होने के लिए मुझे गालियाँ न दें। इसलिए अपनी कहानी में कोई न कोई नवीनता अवश्य दिखलाता हूँ, क्योंकि नवीनता ही रोचकता की जड़ है और बिना रोचकता के कहानी बिल्कुल बेजान हो जाती है। उत्कंठा उभारने के लिए किस प्रकार रोचकता उत्पन्न की जा सकती है, इस पर मैंने अपने उपन्यास 'स्वामी चौखटानन्द ' (भाग 4, परिच्छेद 8) में काफी प्रकाश डाला है।

जब तक कोई नवीनता नहीं मिलती, तब तक न मेरा दिमाग कुनमुनाता है और न लेखनी ही चलती है। रहा मेरे जन्म (साहित्यिक या शारीरिक) का महत्त्वपूर्ण क्षण उसे तो ईश्वर जाने या ज्योतिषी! ईश्वर ने ज्योतिष के ज्ञान के साथ मुझे नहीं पैदा किया था। मुझे क्या पता? इतना कहकर श्रीवास्तव जी जोर से हँसे, बोले-'बचपन' की कहानी जैसे सब बच्चों की होती है, वैसी ही मेरी रही होगी। मेरे शरीर की बनावट में कोई विलक्षणता न थी, जिसके कारण कोई नए ढंग की कहानी उत्पन्न होती! क्या ख्याल है, शैवाल जी?'

चौरासी वर्षीय, हिन्दी के हास्य-पितामह से मेरा दूसरा प्रश्न था-

'क्या श्रीगणेश हास्य-लेखन ही से हुआ?'

इसका भी कोई विशेष कारण है कि आपने अपने लिए हास्य का क्षेत्र ही चुना?

'जुलाई, 1907 में मैं गोंडा से इन्ट्रेन्स पास होकर, लखनऊ कैनिंग में भर्ती होने के लिए जा रहा था।' श्रीवास्तव जी ने व्यतीत को कुरेदने की कोशिश की-'रास्ते में श्री जगतमोहनलाल रवाँ', जो बाद को उर्दू के अत्यन्त ही विख्यात शायर और औपन्यासिक बाबू ज्वाला प्रसाद 'वर्क' के पुत्र बाबू शंभुदयाल सिन्हा पहिले ही से परिचित थे। इन दोनों सहपाठियों की मदद से, उर्दू साहित्य की झलक मुझे देखने को नसीब हुई।'अवध-पंच' के हास्य लेखों तथा पं. रतननाथ 'सरशाद' के फसाने आजाद' के चहकते हुए सजीव चरित्रों और स्वाभाविक बोलचाल की भाषा की शक्तिशाली फड़कती हुई, मुहावरेदार, दिल को गुदगुदाने वाली, फिसलती हुई हास्य शैली पर मैं ऐसा लट्टू हो गया कि मैंने ठान लिया कि मैं ऐसी ही शैली को हिन्दी में, और भी सरलता और नवीनता के साथ अपनाऊँगा।

कई बार श्री जगतमोहन के साथ मुशायरों में गया। वहाँ बोलचाल की भाषा कितने आदर से देखी जाती थी और उस पर वाहवाही की कितनी धूम मचती थी, अभी भी मुझे याद है।

एक दिन जगतमोहन जी अपनी एक कविता अपने उस्ताद को

दिखाने ले गए। मैं भी साथ था। उस कविता को मैं अत्यन्त उत्तम समझता था। मगर अस्सी वर्षीय उस्ताद ने उस पर सरसरी नजर डालते ही, झुँझला कर उसे दूर फेंक दिया और बोले-'साहबजादे, आँख-कान खोलकर, दिल को हथेली पर लिए, गलियों की बिना खाक छाने शायरी नहीं आती और न जुबान की खूबियाँ ही। एक मानी के दस अल्फाज़ होते हैं। तब तक तुम समझ ही नहीं सकते कि किस मौके पर, किस आदमी की जुबान से और किन लफ्जों के साथ कौन-सा लफ्ज निकलता है।' यह कहकर उस्ताद ने, कविता के प्रत्येक पद को काटकर, उसके स्थान पर ऐसे उपयुक्त शब्द चुन दिए कि मैं दंग होकर रह गया। उस्ताद की इस बात ने ब्रह्मा की लकीर होकर, गलियों ही को मेरी लेखनी के लिए विश्वविद्यालय बना दिया! तब से दूसरों की बात को ध्यान से सुनते रहने की मेरी आदत पड़ गई। मगर, इस बोलचाल की भाषा को किस प्रकार हिन्दी साहित्य में अपनाऊँ, मेरे लिए एक समस्या थी। 'अवध-पंच' तथा पं. रतननाथ सरशार के उपन्यासों ने मुझे हास्य की ओर आकृष्ट कर रखा था। इसी बीच मुझे काबिज लायब्रेरी में जगत-विख्यात फ्रान्सीसी हास्य-नाटककार मौलियर के नाटकों का अंग्रेजी अनुवाद पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। बस, उसने मेरी लेखनी के लिए हास्य का क्षेत्र अटल रूप से निश्चित कर दिया। क्योंकि हास्य इसी भाषा में अपना चमत्कार दिखाता है।

जब 1970 तक मेरी कोई भी मौलिक रचना कहीं नहीं छपी तो विवश होकर अनुवाद का सहारा लिया, और कई पुस्तकें अनुवाद कर डालीं। 1911 में, काशी के 'इन्दु' में हास्य-रचना की माँग देखी। मैंने एक अंग्रेजी रचना का भावानुवाद 'निमंत्रण' के नाम से भेजा। उसके छपते ही हिन्दी-संसार में एक खलबली-सी मच गई। हर पत्रिका से मेरी कहानियों की माँग आने लगी। इस तरह हिन्दी साहित्य-संसार में मेरा प्रवेश हास्य ही के 'पासपोर्ट' द्वारा हुआ।

तभी मैंने उन्हें टोका-

'क्या हास्य को आप जीवन के लिये अनिवार्य मानते हैं?'

'व्यक्गितगत जीवन में आप स्वयं हँसमुख हैं अथवा गंभीर?'

'हास्य जीवन के लिए अनिवार्य है। इसी की बदौलत जीवन भर मुसीबतें झेलते हुए 84 वर्ष तक पहुँचा और अब भी जीवित हूँ। स्वभावत: हँसमुख था, मगर परिस्थितियों ने अब गंभीर बना दिया।'

आपकी दृष्टि में विश्व के श्रेष्ठ हास्य-लेखक कौन से हैं विदेशी तथा भारतीय भाषाओं के आपके प्रिय हास्य-लेखक?
क्या इनमें से, किसी से आपको प्रेरणा भी मिली?
किन-किन को आपने हिन्दी में अनुवादित किया है?

'उपन्यास, कहानी तथा निबन्धों में मुझे-अंग्रेजी-लेखक डिकेन्स, मार्क ट्वेन, पी.जी. वुड हाउस, उर्दू-लेखक पं. रतननाथ सरशार, अपने-अपने ढंग के सर्वश्रेष्ठ जँचे। नाटकों में-फ्रांसीसी मौलियर, अंग्रेजी में शेक्सपीयर, आस्कर वाइल्ड, शेरीडन, गोल्डस्मिथ, बर्नर्ड शॉ, हिन्दी में भारतेन्दुजी तथा बंगला में डी.एल. राय (यद्यपि इन्होंने हास्य नहीं लिखा है, तथापि इन्होंने कहीं-कहीं व्यंग्य के छींटे अच्छे कसे हैं और नाटक-कला में तो निपुण हैं ही)। बंकिम बाबू ने भी (लिखकर) हास्य का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया है।

इन सभी से मुझे प्रेरणा मिली है। इनकी रचनाओं का अध्ययन करके मैंने हास्य उत्पन्न करने वाली युक्तियों का संकलन किया और उसे मैंने-'द्विवेदी-मेला' के परिहास-सम्मेलन के सभापति पद से, अपने भाषण में प्रसारित किया था। वह बाद को मेरी 'हास्य-रस' नामक पुस्तक में छपा। मुझ पर शोध करने वाले तथा मेरे जीवनी-लेखक डॉ. रामचरण महेन्द्र ने 'झलकियाँ' नामक ग्रन्थ में उसे उद्धृत भी किया है।

मेरे प्रिय लेखक फ्रांसीसी मौलियर हैं। इनके ही पदचिन्हों पर चलकर मैंने अपने नाटकों का श्री गणेशायनम: किया। इनके कुछ नाटकों और प्रश्नों के आधार पर मैंने-'मार-मारकर हकीम, आँखों में धूल, हवाई डॉक्टर, नकदम, चाल बेढब,

लाल बुझक्कड़, साहब बहादुर' और 'मिट्टी का शेर'- हिन्दी में अपनाए हैं। आर.सी. दत्त के आधार पर मेरा उपन्यास 'प्राणनाथ' है, मगर यह हास्य रस का नहीं है। 'विलायती उल्लू' नामक हास्य-उपन्यास मैंने अंग्रेजी की कई पुस्तकों के मसाले से तैयार किया है। इनके अतिरिक्त मेरी सभी रचनाएँ मौलिक हैं।'

मुझे लगा कि वार्ता अपने अंतिम दौर में पहुँच रही है। श्रीवास्तव जी के चेहरे पर थकान स्पष्ट झलक रही थी। जल्दी से मैंने एक प्रश्न और कर लेना चाहा- लेखन अथवा उसकी प्रतिक्रियाओं से आपको कभी कोई असंतुष्टि तो नहीं हुई? मन ऊबा तो नहीं?

'असंतुष्टि! ऊबन! उनके स्वर से लगा कि वे इन शब्दों से कितनी निकटता अनुभव कर चुके हैं-'जब से चाँद' कार्यालय का दिवाला निकला, मेरी पुस्तकों के कठिनाई होने लगी, मेरे पारिश्रमिक सब मारे गए और एक प्रकाशक ने वायदा करके भी मेरी एक पुस्तक का सब पारिश्रमिक हजम कर लिया। एक प्रकाशक ने एक पुस्तक पाँच वर्ष में प्रकाशित करके, फिर दुबारा अब तक नहीं छापी। मैं लिखने से ऐसा ऊबा कि 1940 में मैंने लिखना ही बन्द कर दिया।

1950 में, भारतीय प्रकाशन मण्डल, काशी ने फिर मुझे लिखने के लिए उत्साहित किया और लगभग दस पुस्तकें प्रकाशित कीं। दुर्भाग्यवश उसका भी कारोबार ढीला पड़ गया, तब हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली से सम्बन्ध हुआ। उसने दो पुस्तकें- 'दिल ही तो है' तथा 'बीरबल जिन्दा है' प्रकाशित कीं। मैं फिर लिखने लगा, मगर उसने भी मेरी पुस्तकें लेना बन्द कर दिया। तीन पुस्तकें उसने लौटाई, जो प्रकाशकों के नाम पर रो रही हैं। अब कहाँ से आगे लिखने के लिए उत्साह जुटाऊँ? यदि प्रकाशन की समुचित सुविधाएँ होती, तो अब तक मेरी पाँच सौ पुस्तकें होतीं!

इस तरह मेरा दिल बुरी तरह ऊबा है। अब पैसे देने वाले सम्पादकों के यहाँ मेरी पैठ नहीं। जो रचना भेजो, वापस! उन्हें नवीनता, विलक्षणता, मौलिकता, कुछ भी पसन्द नहीं। ईश्वर जाने, अब रचनाओं में कला और गुण भी देखे जाते हैं या नहीं? साहित्य के नाम पर, बस यही कह कर सन्तोष करता हूँ-

'पत्रस्य पालसी नीति सम्पादकस्य
दैवो न जानति कुतो मनुष्याः!'

बस, अंतिम बात-उनकी थकान का अनुभव कर, मैंने कहा- 'आपका जीवन-दर्शन साहित्य, समाज और जीवन के प्रति आपका दृष्टिकोण आपका सन्देश?'

'मेरी समस्त रचनाएँ जीवन-दर्शन से भरी हैं तथा जीवन, साहित्य और समाज ही के प्रति हैं।' श्रीवास्तव जी ने बड़ी गंभीरता से कहा-'इन उत्तरों में भी वही छलक रहा है। इस पर और कहूँ तो क्या कहूँ? बुद्धिमानों के लिए इशारा काफी है।' रहा 'सन्देश' वह यह रहा-

'भाई, इस भाई-भतीजावाद-युग में -गुण, ज्ञान, कला, नवीनता, वास्तविकता, सब मिट्टी है। इसलिए अब वही लेखक हो सकता है, जिसके घर में प्रेस है या जिसकी नातेदारी किसी सम्पादक और प्रकाशक से है। अगर नहीं है, तो लेखक बनने की आशा करने के पहिले-हिन्दी के ठेकेदारों के नाम पर, चुल्लू-भर पानी में डूब मरना बहुत अच्छा स्वाहा!

चलने के लिए मैंने प्रणाम किया, तो पीड़ित शब्दों में आशीर्वचन मिला-'यशस्वी' हों! प्रभु न करे कि हम जैसे कटु अनुभव आपको कभी हों! रास्ते-भर मुझे महसूस होता रहा कि चौरासी वर्षों की एक दर्द डूबी परछाईं मेरे साथ चल रही है!

समर्पण प्रिंटर्स, शिन्दे की छावनी,
ग्वालियर-474009 (म.प्र.)
मो.-9424602663

यथार्थ का समतल बनाम यथार्थ का खुरदरापन

– ए. अरविंदाक्षन

जन्म – 10 जून 1949।
शिक्षा – एम.ए., पीएच.डी।
रचनाएँ – पन्द्रह पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – विशिष्ट हिंदी सेवी सम्मान सहित अनेक पुरस्कार।

कहानी का प्रतिपादित यथार्थ अक्सर पाठकों को आकृष्ट करता है। उसकी कई संरचनात्मक रीतियाँ हैं, जिनसे पाठकों को गुजरना पड़ता है। एक तरह से प्रतिपादित यथार्थ से होकर कहानीकार की रचना-यात्रा शुरू होती है। पाठक का आस्वादक-मन भी उसी से अपनी समान्तर-यात्रा भी पूरी करता है। जहाँ तक रचनाकार का प्रश्न है, प्रतिपादित यथार्थ में उसकी यथार्थ-स्वीकृति और उसकी अभिमुखता केन्द्र में आती है। कहानी के इन दोनों घटकों को कहानीकार सृजित यथार्थ तक ले चलते हैं। मुख्य रूप से अब यथार्थ के दो पक्ष सामने आते हैं यथा, प्रतिपादित यथार्थ और सृजित यथार्थ। सृजित यथार्थ कहानी की संवेदना का अविभाज्य घटक है या ऐसा भी कहा जा सकता है कि वही कहानी की समग्रता है। रचना की समग्रता के महत्व के बावजूद प्रतिपादित यथार्थ की एकरेखीयता में भी कहानी की विशिष्टताएँ चिह्नित मिलती हैं अर्थात् कहानी का सृजित यथार्थ जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही महत्त्वपूर्ण है उसका प्रतिपादित यथार्थ भी। बस, ये दोनों कहानी के दो ध्रुव हैं, पर अलग-अलग नहीं हैं।

एक कहानी का प्रतिपादित यथार्थ इस प्रकार है –
'कहा था मत भेजा करो। अकेली घूमती थी। जहाँ मन में आया चल दी। दुनिया खतरनाक है, लोगों का भरोसा नहीं रहा, मगर' कहते-कहते उनके जबड़े भिंच गए। आँखें शून्य में टँग गईं। पूरा भविष्य सामने आकर खड़ा हो गया। समाज के लोगों के बीच जाएँगे तो लोग क्या-क्या नहीं पूछेंगे? कौन शादी करेगा? कोई करेगा तो सामने वाला उसको एहसास करवाएगा कि तुम वह हो, फिर इसके बच्चों को भी पता चलेगा, बच्चे क्या चाहेंगे? शादी न करें तो? बाहर भेज देंगे ऐसी जगह, जहाँ कोई न जानता हो, मगर कैसे? पूरा परिवार ही कहीं चला जाए, दूर। तब भी लोग कहेंगे कि वर्मा ने शहर इसलिए छोड़ा, क्योंकि उनकी लड़की के साथ उन्हें अपने सीने में कुछ उमड़ता-घुमड़ता-सा लगा। वे जोर-जोर से साँस खींचने लगे। जोर-जोर से मालिश करने लगे, मेरी बच्ची। तेरा जीवन! मन चीत्कार उठा दौड़कर बाहर गए। खुली हवा में अंधकार निबिड़ था। सनसनाता हुआ। कितनी देर तक खड़े रहे। मन फड़फड़ाया जाकर सांत्वना दें उसे। छाती से लगा लें। मगर उतनी ही तेजी के साथ पीछे पलट गए। धम्म से वहीं बैठ गए कुरसी पर। खुली आँखों के सामने उन्होंने रात को बीतते हुए देखा।' **(चीख-उर्मिला शिरीष : उर्मिला शिरीष की श्रेष्ठ कहानियाँ-पृ. – 4)**

उर्मिला शिरीष की 'चीख' कहानी का यह एक दृव्य है जिसमें एक पिता के तनाव को प्रस्तुत किया गया है। उनकी बेटी का बलात्कार हुआ है। लड़की बेहोशी की अवस्था में है। घर के लोग तनावग्रस्त हैं। लोगों को खबर मिल गई कि वर्मा की बेटी का बलात्कार हुआ। उनका आना-जाना शुरू हो गया। तरह-तरह की राय तरह-तरह की प्रतिक्रियाएँ। विस्तार से कहानीकार ने उस दृश्य को प्रस्तुत किया है। जो 'चीख' कहानी का प्रतिपादित यथार्थ है। कहानी में यथार्थ की प्रस्तुति एकरेखीय ही है। लेकिन एकरेखीयता बीच-बीच में टूट जाती है और एक शून्यता पैदा करती है। ऐसे विवरण

कहानीकार ने प्रस्तुत किये हैं, जिनमें कहानी का प्रतिपादित यथार्थ अपनी सामान्यता का उल्लंघन करता दीखता है। लड़की के अंतर्मन की कटुता और उसके आंतरिक विक्षोभ का दृश्य इतना गहन है कि पीड़ा का एहसास सघन होता रहता है। 'खाना खाते वक्त वह गिलास या थाली पटक देता या अपने कपड़ों को गोल-गोल लपेटकर उछाल देता था। अनायास ही किसी कीड़े या चींटे को पाँव से इतनी शक्ति के साथ रगड़ देता, जैसे उसका नामो-निशान मिटा देना चाहता हो।' यह एक सामान्य सी प्रतिक्रिया नहीं है। अपने त्रासद अनुभव को आत्मसात् न कर पाने की स्थिति में वह छटपटा रही है। यह छटपटाहट भले ही शारीरिक-सी प्रतीक हो रही है, पर वह अंतर्मन की है। कहानी में ऐसे कई दृश्य अवतरित हैं, जो कहानी के प्रतिपादित यथार्थ को प्रस्तुत करने में सक्षम हैं। उर्मिला शिरीष ने अपनी उस कहानी के संबंध में जो कहा है, वह शतश: सही है-'चीख कहानी की समस्या सिर्फ स्त्री की समस्या नहीं है, पूरे समाज की समस्या है जो इससे जुड़ा होता है या इससे प्रभावित होता है।'

'चीख' कहानी का यथार्थ बहिरंगत: समतलीय है। कहानीकार ने अपने इस समतलीय यथार्थ को खुरदरे यथार्थ से जोड़ा है जो कि अधिक सच है। उस लड़की का गर्भवती होना, उसका गर्भपात कराना तथा डॉक्टर द्वारा पूरा विवरण उसे दे देना और उसके आत्मविश्वास को बनाए रखने का अनुरोध करना आदि समतलीय यथार्थ के दृश्यांकन हैं। जब अपनी देह की वास्तविकता से वह परिचित हो जाती है तो उससे मुक्त होना भी चाहती है जिसके लिए वह किसी का अवलंब लेना नहीं चाहती है। वह सिर्फ अपने वजूद का अवलंब लेती है। यह परिवर्तन अप्रत्याशित लग सकता है। परन्तु वह अप्रत्याशित नहीं है जबकि सहज है। अब उसका गला चीख नहीं रहा है, उसकी देह चीख नहीं रही है। वह सिर्फ अपनी आत्मा की आवाज सुन रही है। इसलिए वह कहती है, 'मैंने कोई गलती या अपराध नहीं किया, जिसके लिए मैं जिंदगी भर आत्मग्लानि में घुलूँ मम्मी।' यहाँ पर कहानी का समतलीय यथार्थ समाप्त होता है और एक खुरदरा यथार्थ शुरू होता है। यथार्थ का यह खुरदरापन कहानी का सृजित यथार्थ जो काल्पनिक नहीं है, वह स्वप्निल नहीं है। वह ठोस यथार्थ है, जिसका सामना करना ही भविष्य को रचना है। कहानी की लड़की अपने ध्रुव की खोज करती है।

'चीख' कहानी का संबोध्य दरअसल हमारी सामाजिकी ही है। इसलिए कई अयाचित प्रसंगों से जुड़े समतलीय यथार्थ से कहानी मुक्त होती है और कहानीकार ने खुरदरे यथार्थ को जगह दी है। उर्मिला शिरीष की कहानी का 'स्पेस' सामान्य वर्तमानता को बाँधकर सही वर्तमानता को रेखांकित कर रहा है। सही वर्तमानता क्या है, खासकर उक्त कहानी की लड़की के संदर्भ में। लंबे समय तक सामान्य वर्तमानता के शिकंजे के अधीन में वह चरमरा रही थी। उसके अलावा माँ, पिताजी, बहन तथा भाई उस मानसिकता से मुक्त नहीं हैं, जिसके तहत सामान्य मध्यवर्गीय जीवन घुटता रहता है। लेकिन कहानीकार उस खुरदरे यथार्थ की नब्ज पर अँगुली रख रही है ताकि उस तबके का रोग निर्णय किया जा सके। 'सब लोग क्या कहेंगे? पूछेंगे जब' यही वास्तविक रोग है सामान्य वर्तमानता का। इससे मुक्त होने के लिए सबसे पहले अपने 'स्व' को सुनिश्चित करना पड़ता है। कहानी की लड़की बस यही करती है। उसे मालूम है कि उसके सामने एक खुरदरा यथार्थ है, जिसका सामना उसे ही करना होगा। वह तय करती है कि वही उसका अन्वेषित यथार्थ है। इसलिये सामान्य वर्तमानता की तमाम घबराहटों से वलयित अपनी माँ से वह कहती है-'मैंने कोई गलती या अपराध नहीं किया, जिसके लिये मैं जिंदगी भर आत्मग्लानि में घुलूँ मम्मी। मैं हर स्थिति का सामना करूँगी। चाहे मेरा कोई साथ दे या न दे।' खुरदरे यथार्थ का सामना करने के लिये जो कटिबद्ध होता है, वह अपना रास्ता ढूँढ़ ही लेता है। यहाँ पर शायद प्रतीत हो सकता है कि कहानी की लड़की एक आरोपित साहसिकता से वशीभूत होकर ऐसा आचरण कर रही है। दरअसल बात उल्टी है। कहानी में बलात्कार की भीषणता का वह लंबे समय तक संघर्ष झेल रही है। वह संघर्ष सिर्फ उसका ही नहीं है बल्कि सभी सदस्यों का है। लेकिन वह उससे मोचित होती है जबकि दूसरे नहीं। उर्मिला शिरीष ने अपने इच्छित यथार्थ को जो कि एक स्त्री के जीवन के संदर्भ में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, बिना किसी लाग-

लपेट प्रस्तुत किया है। कुँवर नारायण की ये पंक्तियाँ सहज ही स्मरण हो आती हैं–'कोई दुख/मनुष्य के साहस से बड़ा नहीं/ वही हारा/जो लड़ा नहीं।'

कोई भी अपनी परंपरा से अलग नहीं हो सकता और अलग भी नहीं होना चाहिये। परंपरा की अपनी गतिशीलता के बावजूद उसमें कई प्रकार की रूढ़ियाँ भी रहती हैं। परंपरा की वास्तविक स्वीकृति का तात्पर्य है रूढ़ियों का निषेध करना। यदि हम रूढ़ियों को परंपरा से मुक्त करके देखते हैं तो अंततः रूढ़ियों को ही स्वीकार कर रहे हैं। यही हमारी सामाजिकी की सबसे बड़ी बिडंबना है। अक्सर हम देखते हैं कि हमारी मानसिकता में परंपरा हावी न होकर रूढ़ियाँ घनी रहती हैं। रूढ़ियों का हावी होना खतरे से खाली नहीं है।

उर्मिला शिरीष की कहानी 'अभिशाप' रूढ़िवादिता का पर्दाफाश तो करती है, उससे अधिक हमारी सामाजिकी की अवरुद्धता पर अंकुश भी डालती है। कहानी की नाटकीयता गतिशीलता और रूढ़िवादिता को आमने-सामने रखकर देखने में सहायक ही नहीं अपितु अवरुद्धता की उन्मुखताओं को भली-भाँति प्रस्तुत करने में भी सहायक सिद्ध हुई है।

एकाध संवादों से कहानी का अंतस्थल खुलता है-
'और कुछ नहीं तो इसकी शराब तो छूट ही सकती है अब हम भी बर्दाश्त नहीं कर पाते। वह पूरी-पूरी रात चिल्लाता है। गालियाँ देता है। उल्टियाँ और बिस्तर पर पेशाब कर देता है। किसी दिन या तो हम उसका गला दबा देंगे या वह हमारा। घर को नरक बनाकर रख दिया है।'

बहुत लोगों को फायदा हुआ है। एक बार चलकर देखते हैं। 'आशा, मेरा इन बातों में जरा भी विश्वास नहीं है चलो ठीक है, तुम्हारा मन रखने के लिये मान लेते हैं?

कहानी में एक माता जी हैं, जो अपनी दैवी शक्तियों से बीमारी से लोगों को बचाती हैं, लोगों की समस्याओं का समाधान करती हैं–'हर दिन उनमें देवी का आगमन होता है' तेजकुमार नामक पात्र के जरिए कहानीकार ने माता जी की विशिष्ट शक्तियों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। यहाँ भी उन्होंने पूरी तरह से नाटकीयता का सहारा लिया। प्रस्तोता पात्र इन बातों पर विश्वास नहीं करती है। वह टोकती है, व्यंग्य भी करती है। कभी वह नाराज भी होती है। इस बीच माता जी की नाटकबाजी भी चलती रहती है। इसके बावजूद आशा कहती है कि 'दीदी, हम माँ के खिलाफ एक शब्द नहीं सुनना चाहते हैं.....बस।'

कहानी के अंत में माता जी के कारोबार का पता चल जाता है और वे गिरफ्तार होते हैं।

धर्म के नाम पर साधारण लोगों की कमजोरियों से फायदा उठाने वाले एक गुट की धोखा-धड़ी का खुलासा करना मात्र कहानीकार का मकसद नहीं है। उस दृष्टि से देखें तो हम कहानी की गहराइयों तक पहुँच नहीं पायेंगे। उर्मिला शिरीष की यह कहानी हमारी विघटित जीवन-दृष्टि पर केन्द्रित हैं और वे दिखाना चाहती है, हमारी सामाजिकी में निहित रूढ़िवादिता किस तरह सिर उठाती है। वस्तुतः हमारी जीवन-दृष्टि में गतिशीलता नाम पात्र के लिए है जबकि रूढ़िवादिता प्रभूत मात्रा में है। विश्वास का अंधविश्वास में बदलना, यथार्थ का अयथार्थ में बदलना आदि इस के लक्षण हैं। सब नहीं विवेक का ध्वंश हम देख पाते हैं और विवेकहीनता को महिमामंडित करने की प्रवृत्ति भी देखी जा सकती है। धर्म, धार्मिकता, ईश्वर, देवी शक्तियाँ आदि आडंबर की प्रेरक बात हो जाएँ और उनके माध्यम से धन राशि वसूलने के गूढ़ तंत्र की निर्मिति के प्रति अलस हो जाने का तात्पर्य है विवेक का नाश; एक तरह ये स्मृतिभ्रंश। कहानी की आशा इसी की शिकार हो चुकी है। प्रस्तुत कहानी के एक संदर्भ में कहानी की आशा के पूर्व स्वभाव की ओर इशारा मिलता है। वह सबसे अधिक संवेदनशील थी। वह खूबसूरत भी थी। शादी के बाद पूरा दृश्य बदल जाता है। दृश्य ही नहीं बल्कि उसकी संवेदनात्मकता भी बदल जाती है। हमारी सामाजिकता की यही त्रासदी है। यही हमारा अभिशाप है जिसके रहते हमारी विवेकशीलता, तर्कशक्ति और मेघा शक्ति उबर नहीं पाती है।

इसका मुख्य कारण हमारी अपसंस्कृति का जीवंत रहता है। उर्मिला शिरीष की यह कहानी अपरिवर्तित अपसंस्कृतियों के यथार्थ को खुलासा देती है। कहानी का प्रतिपादित यथार्थ उसकी सामान्यता में दर्शित होता है। परंतु उसका खुरदरा यथार्थ कहानी के शब्दों के मौन में अनुभव किया जा सकता है।

पी. साईनाथ की चर्चित पुस्तक एवरी बडी लव्स ए गुड ड्राऊट (Everybody loves a good draght) वंचित ग्रामीण किसानों के जीवन का रेखाचित्र है। किसानों की वंचित अवस्था को साईनाथ ने व्यापक कैनवास पर प्रस्तुत किया है। विकास की घोषणाओं के बावजूद विकास एवं विकास-नीतियों में निहित अदूरदर्शिताओं का इतिहास लेखक ने प्रस्तुत किया है। उन सब के बीच में बंद रास्तों के सफर में लगे मामूली किसान का चित्र भी उभरकर आता है। भारतीय भाषाओं में ऐसे किसानों की कहानियाँ भरी पड़ी हैं। उर्मिला शिरीष की कहानी 'बिवाइयाँ' किसान के जीवन की बदहाली का खाका प्रस्तुत करती है। यह सही है कि इस कहानी का प्रतिपादित यथार्थ एक दास्तान की तरह हमारे सामने है। समतलीय यथार्थ का ब्यौरा इसमें से मिलता है। लेकिन कहानीकार ने ऐसे कुछ संदर्भ भी दिये हैं जिनके माध्यम से कहानी का समतलीय यथार्थ स्वयमेव उल्लंघित होता नजर आता है। वे इस कहानी के अन्वेषित खुरदरे यथार्थ के ऐसे नुस्खे हैं जो एक परिवार की तबाही को उकेर रहे हैं।

कहानी का पहला दृश्य सर्राफा बाजार की एक दुकान का है जहाँ लोग जेवरात गिरवी रखने के लिए आते हैं। प्रस्तोता पात्र भी इसी काम के लिए आई है। वह एक गरीब किसान-दंपति को देखती है जो सेठ के सामने जेवरात रखकर तीन हजार रुपए के लिए गिड़गिड़ा रहे हैं। उस दृश्य को कहानीकार ने विस्तार से अवतरित किया है। वस्तुत: यही कहानी का प्रतिपादित यथार्थ है। उसमें किसान की दयनीयता स्पष्ट जाहिर होती है। पर्याप्त साधन न होने से अंत में किसान की पत्नी के पाँवों में पड़े लच्छों को गिरवी रखना पड़ता है। उस दृश्य को उर्मिला शिरीष इस तरह प्रस्तुत कर रही हैं-'किसान ने डबडबाई आँखों से पत्नी की तरफ देखा। औरत ने पाँवों मैं पड़े लच्छों को टटोला। लच्छे मोटे-मोटे थे। सुंदर थे। अब भी चाँदी की चमक बरकरार थी। भाई ने दिलवाए थे। पूरे गाँव की महिलाओं ने इन लच्छों की प्रशंसा की थी, तभी से वह ऊँची साड़ी पहनती थी ताकि लच्छों की सुंदरता और चमक दिखाई दे।'

कहानी का दूसरा दृश्य किसान और उसकी पत्नी का दुकान से निकलने का है। पैसा देने के पहले सेठ ने कई जगह दस्तखत करवाए थे। इसलिए उसके अँगूठे पर स्याही लगी थी। यह एक मामूली-सा दृश्य है। कहानीकार ने इस लघु दृश्य को अतिरिक्त महत्व देकर प्रस्तुत किया है। क्यों ऐसा किया है? किसान की प्रतिक्रिया यों है-'किसान अँगूठे पर लगी स्याही को रगड़-रगड़कर पोंछ रहा था जैसे स्याही न हो कोई गंदा धब्बा लग गया हो उसके अँगूठे पर, उसके पूरे शरीर पर।' जिस किसान को दयनीय ढंग से प्रस्तुत किया गया था वही अब अपनी जमी पूँजी से हाथ धो बैठने के बाद मुक्ति की साँस लेता नजर आता है। अब न कोई पूँजी है और न कोई संपत्ति। अपने जीवन के नुकसान के चिह्न के रूप में स्थित उस निशान को वह रगड़-रगड़कर साफ करता है; सिर्फ अँगुलियों से ही नहीं बल्कि शरीर पर लगे निशान को भी वह साफ कर कहा है) किसान की आत्मनिन्दा स्पष्ट हो जाती है। जब कोई रास्ता सामने नहीं है तो आँखें मूँदकर चलना ही है। उस समय अपने जीवन के छोड़ दिए गए पदचिह्न मायने नहीं रखते हैं। यहाँ पर स्याही को साफ करने का जो दृश्य दिखाया गया है वह साधारण दिखते हुए भी साधारण नहीं हैं।

तीसरा दृश्य किसान की पत्नी के पाँवों में दिखाई पहने वाली बिवाइयों से संबंधित है। वह औरत अपने पैरों को ढाँपने सी कोशिश कर रही थी। बच्चों के नष्ट होने का रुख उसका कठोर यथार्थ है। इससे भी बड़ा एक यथार्थ है जो प्रस्तोता पात्र देखती है। वह औरत के पाँवों की बिवाइयाँ हैं। उसको वह यथावत् खुलासा कर रही है-'पाँवों में पड़ी बिवाइयाँ गहरी और लंबी-लंबी थीं। सख्त सूखी एड़ियों में बिवाइयों के कारण दर्द भी देती है। उसके चेहरे पर ढलते हुए यौवन का फीका रंग दिखाई दे रहा था।

उसे लगा औरत की बिवाइयाँ चौड़ी से चौड़ी होती जा रही है इतनी चौड़ी- इतनी लंबी, इतनी गहरी कि वे बिवाइयाँ खेत में बदल गई। दरारों से फटता खेत-रूखा-सूखा वीरान खेत- जिसे न पानी मिला था न खाद न बीज न छाया।'इस दृश्य में विवरण दरअसल हमारा ग्रामीण यथार्थ है। पी. साईनाथ ने अपनी पुस्तक में इसका सही-सही आकलन और विश्लेषण प्रस्तुत किया था। यहाँ उर्मिला शिरीष उक्त इतिहास की एक अदृश्य दुख भरी व्यथा-कथा प्रस्तुत कर रही हैं। आंशिक तौर पर फैंटसियों के सहारे बिवाइयों के लंबी और चौड़ी होने का दृश्य उस व्यथा-कथा का अभिन्न हिस्सा है। यह हाशियीकृत समाज का जीवन-दुख है। यह एक खुरदरा यथार्थ है जो खुरदरा होने के कारण ही अनदेखा रह गया है। उर्मिला शिरीष उसको देख रही हैं, उसकी गहराई को भाँप रही हैं और गहराई में निहित त्रासदी को शब्दबद्ध कर रही हैं।

कहानी के अंत में प्रस्तोता पात्र अखबार में किसानों द्वारा सामूहिक आत्महत्या वाली खबर पढ़ती हैं; चित्र भी देखती हैं। कतार में पड़ी लाशों को देखकर वे विचलित होती हैं। उन्हें लगता है कि पिछले दिन सर्राफे की दुकान में मिले किसान से मरे पड़े किसान का चेहरा मिलता-जुलता है। वास्तव में वह किसी दूसरे गाँव की खबर थी। फिर भी अंत में उर्मिला शिरीष ने पुन: फैंटसी का प्रयोग किया है जो अपनी कहानी को महिमामंडित करने के लिए नहीं है बल्कि हमारे आसपास के यथार्थ के खुरदरेपन को दिखाने ले लिए है। वह दृश्य इस प्रकार है-'उसे लगा कल जिन बिवाइयों से उसने हल्का-हल्का खून रिसते देखा था, उनसे अब रक्त की धारा फूट रही है और इस रक्त के समन्दर में सेठ और नेताओं के हजारों-हजार खून से रंगे हाथ अभी गरदनों की तरफ बढ़ते जा रहे हैं। उसे लगा पूरा ब्रह्मांड घूम रहा है-धरती घूम रही है- चारों पर तरफ अँधेरा बढ़ता जा रहा है। इसी अँधेरे के बारे में मुक्तिबोध ने सूचित किया था। उर्मिला शिरीष की यह कहानी विकास की करतल-ध्वनि में निहित अविकास के खुरदरे यथार्थ को सामने ला रही है।

'पत्ते' जीवन की उस अयाचित अवस्था को सूचित करती है जिससे कई लोगों को गुजरना पड़ता है। स्मृतिभ्रंश का शिकार होना जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी है। जीवन सूखे पत्ते की तरह कभी भी शाख से गिर सकता है। यही जीवन का अंत है। उसके पहले की जिंदादिली और सक्रियता स्मृतियाँ भर हैं। कहानी में उर्मिला-शिरीष एक विशेष संस्थनात्मक तरीके से-बिखरी स्मृतियों के टूटे ताने-बाने की तरह-स्मृतिभ्रंश के शिकार बने व्यक्ति को, उनके माध्यम से दूसरों को होने वाली परेशानियों को व्यक्त कर रही है। उन्हें एक वृद्ध-सदन में भर्ती कराया जाता है 'कुछ दिन के लिए रख दो। थोड़ा डिसीप्लिन आ जाएगा। वहाँ सब नियम-कायदे से होता है, डॉक्टर देखने आता है। खाना-पीना भी समय पर देते हैं।' बीमारी, अनिद्रा, कमजोरी और उनकी आदतों से, बातों से थककर, विवश होकर जब लगा कि अब अपने वश में कुछ नहीं बचा तब जाकर उन्हें यहाँ भर्ती करवाया था।'

कहानी में उस वृद्ध-सदन का, वहाँ के कर्मचारियों का एकाध सदस्यों का मामूली सा प्रतीत होने वाला वर्णन मिलता है जो स्वाभाविक है। इस वर्णन के बीच बीमार वृद्ध आदमी के मानसिक दबावों का तथा वहाँ न रह पाने की विवशता का परिचय मिलता ही है। जीवन के नाजुक क्षणों को कहानीकार ने कभी तटस्थता के साथ, कभी आवेग त्वरित ढंग से प्रस्तुत किया है। एक खास तरह की कशिश कहानी भर में व्याप्त है। कई प्रकार की आशंकाएँ भी हैं। इस बीच व्यक्ति का भूतकाल उभरता है, जब वे पूरी तरह से सक्रिय थे। वृद्ध-सदन में उनका यह कथन-'अपने घर में मरना चाहते हैं अत्यंत मार्मिक है। स्मृतिभ्रंश के बावजूद अपने अनाथल से भी वे परिचित हैं।

वस्तुत: कहानी के प्रतिपादित यथार्थ को लाँघकर मनुष्य की यह चिंता उसके खुरदरे यथार्थ तक पहुँच जाती है। सब की उपस्थिति के बावजूद अनाथ होने या बन जाने की मजबूरी बर्दाश्त के बाहर है। अंतत: उन्हें फिर घर लाने का कार्य किया जाता है। उक्त प्रसंग को कहानीकार ने कुछ इस तरह प्रस्तुत किया है। 'उनका कमरा साफ किया जा रहा है। खाने

की चीजें बनाई जा रही हैं। इस बार उन्होंने किसी बात की फरमाइश नहीं की। न रात में चीखे-चिल्लाये, न कराहे, न कोई शिकायत की। बस एक ही बात की रट.... अब तो हमें नहीं भेजोगे...हम वहाँ नहीं जाएँगे। बिलकुल नहीं जाएँगे। अनाथ हो जाने की आशंका से वे वलयित दीखते हैं। यह सिर्फ एक व्यक्ति की आशंका नहीं है। इसमें वृद्ध समाज की आशंका है। वृद्धावस्था की आशंका भी इसमें सन्निहित है। उर्मिला शिरीष की यह कहानी समाज के कमजोर तबकों की तमाम उद्विग्नताओं को व्यापक फलक पर अवतरित करती है। आत्मीयता की जगह अनात्मीयता को देख घबराए हुए स्मृतिभ्रंश के शिकार वृद्ध समाज के सामने न कोई किनारा है, न कोई रोशनी। यह कहानी एक परिवार के दादा की दुखमयता तक सीमित होने वाली रचना नहीं है। यह हमारी सामाजिकी को पुनर्चिंतन के लिए प्रेरित करने वाली रचना है। 'दीवार के पीछे' तीन स्तरों पर घटती चलनी है। वीरान जगह पर छुपे प्रेमी युग्म को देखकर उन पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाले वयस्क लोग। यह पहला स्तर है। दूसरा है प्रेमी लोगों का। दोनों घबराए हुए हैं। दोनों को घटनाओं की चिंता है; पर वे प्रेम में मग्न भी है। तीसरा स्तर है कि उस वीरान जगह पर उन दोनों को वश में करने वाले आतंककारी लोग जो उनसे जबर्दस्ती बम जगह-जगह छोड़ने के लिए कहते हैं। जबर्दस्ती के बावजूद वे दोनों इसके लिए तैयार नहीं हैं। इंसानियत का दुश्मन बनना उन्हें ठीक नहीं लगता है। लड़का आतंककारी पर झपटता है और अपनी प्रेमिका शबाना को बताता है कि उनका मिशन पूरा करने के लिए साथ न देना।

कहानी के अंत में विस्मयकारी खबर से कहानीकार हमें वाकिफ करा रही हैं-'शहर को एक बड़ी घटना से बचा लिया गया है। दो संदिग्ध आतंककारी पकड़े गए, जिसमें एक लड़की थी और एक लड़का। लड़की शायद मानव-बम भी हो सकती है, इसकी उच्च स्तरीय जाँच हो रही है। कहानी के तीनों स्तर यहाँ तक आते-आते अदृश्य हो जाते हैं और एक चकित करने वाली घटना, जो सच नहीं है, रह जाती है।

चमत्कारी घटनाओं का निवेश कर तमाम प्रकार की उत्सुकताओं से भरकर उर्मिला शिरीष ने 'दीवार के पीछे' नामक कहानी लिखी है। इस कारण से यह घटना प्रधान कहानी-सी प्रतीत हो रही है। यह एक निर्मित प्रतीति है जो इसके प्रतिपादित यथार्थ के अनुकूल है। इसका एक दूसरा पक्ष है। वह है प्रेम की अस्वीकृति। दो धर्मों के युवा लोगों को प्रेम को लिए कहीं भी स्वीकृति नहीं मिलती है। इसलिए ऐसे लोग खतरों का सामना करते हैं। कहानी का युवा आतंककारी का कहना नहीं मानता है और अपने बलबूते पर विरोध भी करता है। बावजूद इसके दोनों पकड़े जाते हैं और वे आतंककारी घोषित होते हैं। एक मामूली सी प्रेम-कहानी आतंकियों की वजह से संदिग्ध साबित होती है। अब भी हमारा एक बंद समाज है जहाँ प्रेम जैसी भावनाएँ तुरंत अस्वीकृत हो जाती है। अब भी हमारा समाज बँटा हुआ समाज है जहाँ मानवीयता का कोई मूल्य नहीं है। ऐसे एक बँटे हुए समाज में घटनाएँ अप्रत्याशित ढंग से ही घटित हो सकती है। इसलिए कहानीकार ने सशक्त 'आयसी' का उपयोग करके कहानी के युवा प्रेमियों को पुलिस द्वारा पकड़े जाने तथा आतंकवादी घोषित करने का कार्य किया है।

उर्मिला शिरीष के पास एक समावेशी दृष्टि है; इसलिए वे अपने आसपास को सही ढंग से आत्मसात् कर पा रही हैं। यह एक सामान्य आंकलन भर नहीं है। इस कारण से वे अपनी कहानियों पर प्रतिपादित यथार्थ का उल्लंघन करती दिखाई दे रही हैं जो सार्थक कहानियों की अनिवार्यता है। उनकी कहानियों की बहुआयामी प्रवृत्ति पाठकों के मानस को अकसर उत्तेजित करती है और उनकी अन्यान्य कहानियों की तरफ हम ध्यान देने लगते हैं।

उर्मिला शिरीष अपनी रचनाओं पर वर्तमानता तक सीमित कहानीकार नहीं हैं। उनके बारे में यह कहना सही लगता है कि वे भविष्य को रचने वाली कहानीकार हैं।

'सांद्रम'
कोलय कोड, पुतुश्शेरी
पालक्काड़-678623 (केरल)
मो. - 9895018088

सशक्तीकरण की ओर बढ़ते स्त्री पात्र

– सुषमा मुनीन्द्र

जन्म – 5 अक्टूबर 1959।
जन्म स्थान – रीवा (म.प्र.)
रचनाएँ – दो उपन्यास, कहानी की बारह पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – म.प्र. साहित्य अकादमी का सुभद्रा कुमारी चौहान सहित अनेक सम्मान।

सुपरिचित रचनाकार उर्मिला शिरीष ने एक अलग अंदाज में लिखी गई कहानियों से हिंदी साहित्य को समृद्ध किया है। मैंने अब तक उनके रंगमंच, सहमा हुआ कल, निर्वासन, लोकप्रिय कहानियाँ, कुर्की तथा अन्य कहानियाँ, शहर में अकेली लड़की, पुनरागमन आदि जो भी कहानी संग्रह पढ़े हैं। कह सकती हूँ उनकी चिंतन प्रक्रिया, दार्शनिक दृष्टिकोण, जागरूक दृष्टि, कलात्मकक अभिव्यक्ति, भाषायी कौशल, मनोवैज्ञानिक पकड़, बौद्धिक विमर्श, सामाजिक सरोकार, व्यंजना, मूल कथा की पूर्व पीठिका सब कुछ इस तरह व्यवस्थित रहता है कि कहानियों में स्वाभाविक गति और विकास क्रम के साथ सिलसिले बनते चले जाते हैं। विषयवस्तु, प्रसंग, परिवेश, चरित्र, आचरण, व्यवहार की तहें यूँ खुलती जाती हैं कि यथार्थ का भीतरी सत्य मुखर और स्पष्ट हो जाता है। उर्मिला शिरीष चूँकि व्यक्ति, परिवार, समाज पर आस्था रखती हैं इसलिये कहानियों के केन्द में स्त्री या पुरुष नहीं व्यक्ति होता है। उनकी कहानियों के पात्र छोटे हों या बड़े, पुरुष हों या स्त्री सुगठित और सहज होते हैं। वे विशेष तैयारी से स्त्री पात्रों का महिमा मंडन नहीं करतीं बल्कि उनके धूसर रंगों को भी जाहिर करती हैं। स्त्री पात्र प्रत्येक आयु वर्ग, वर्ण, वर्ग, आर्थिक और बौद्धिक स्तर के हैं। इनका व्यवहार निश्चित रूप से परिवेश और पसंद के अनुसार होता है लेकिन एक तथ्य समान रूप से देखने को मिलता है कि ये बेचारे बनकर नहीं रहते। अपने विषाद का बात-बेबात जिक्र कर, अपने भीतर के वीराने दिखा कर माहौल को मलिन नहीं करते। सहानुभूति नहीं पाना चाहते। यथार्थ को स्वीकार कर परिष्कार की सम्भावनायें बनाते हुये नतीजे पर पहुँचते हैं। विरोध या विद्रोह इनका एजेंडा नहीं है, स्थिति के कारण विरोध या विद्रोह की ओर अग्रसर होते हैं। इन्हें अपने जीवन से शिकायत नहीं है, उस समाज से शिकायत है जिसने स्त्री और पुरुष के लिये पृथक नीति शास्त्र बनाया है। पुरुष शराबी, जुआरी, अकर्मण्य हो फिर भी घर का प्रधान वही रहेगा। इतना ही नहीं घर-परिवार में अच्छा-बुरा जो भी घटित होता है उसका द्वन्द्व स्त्री, खास कर पत्नी पर डाल दिया जाता है। स्त्री पात्र इस स्थिति-परिस्थिति-मन:स्थिति से जूझते हैं। यदि उन्होंने त्रुटि की है तो उसे स्वीकार करते हैं। यदि त्रुटि अन्य की है तो उसे इंगित करने का साहस रखते हैं। अपनी निजता, आकांक्षा के पक्षधर हैं पर अपने दायित्व और संस्कार को सदा स्मरण रखते हैं।

उर्मिला शिरीष के स्त्री पात्र प्रतिभा हो या रूपा या वृंदा या दिशा ऐसे अनोखे पात्र हैं जो साहित्य में कम सिरजे गये हैं। कहानी 'लकीर' की प्रतिभा दायित्व के साथ हक को भी याद रखती है। कानून बदल गये हैं पर सामाजिक धारणा नहीं बदली है। विवाह होते ही पराया धन हो गई पुत्री के पितृ गृह में अधिकार खत्म मान लिये जाते हैं। पैतृक सम्पत्ति के दावेदार पुत्र हैं। यदि पुत्री अपना हिस्सा लेना चाहे तो उसे स्वार्थी, लोभी, संवेदनहीन माना जाता है। प्रतिभा के भाई नहीं हैं। बस एक छोटी बहन है। बड़ी संतान का फर्ज पूरा करते हुये वह व्यवसायी पिता की स्टेशनरी शॉप को सँभालते हुये समृद्ध करती है। विवाह के बाद पति गृह जाने पर दुकान की व्यवस्था सुचारू नहीं रह पाती। पिता उसे अपने शहर में सैटिल होने का

प्रस्ताव देते हैं कि दुकान का संचालन कुशलता से करेगी। वह पिता के प्रति अपने कर्तव्य को समझती है। पति को नौकरी छोड़ने को सहमत कर लेती है कि पैतृक व्यवसाय को सँभालना अधिक जरूरी है। पति, सास-ससुर के साथ पैतृक नगर में ठौर बनाने आ जाती है। पूर्व की भाँति दुकान का संचालन करती है लेकिन अब वह परिवार की सदस्य नहीं पराया धन है। पिता उससे दुकान का पूरा हिसाब माँगने लगते हैं कि आय का कुछ हिस्सा पति को न दे दे। पति नौकरी छोड़ चुका है। जीवनयापन के लिये आय का दुकान ही है। वह कमाई में हिस्सा चाहती है लेकिन पिता को प्रतिभा अब पुत्री नहीं प्रतिस्पर्धी लग रही है। वह उसे आय का थोड़ा भी प्रतिशत नहीं देना चाहता कि दुकान पर उसका हक नहीं है।

यह कहानी प्रतिभा के माध्यम से स्त्री की नई परिभाषा गढ़ती है। यहाँ धन की लड़ाई पिता-पुत्र के बीच नहीं पिता-पुत्री के बीच है। पुत्रियाँ अक्सर मायके के लिये मोहग्रस्त रहती हैं लेकिन प्रतिभा उसके पति, सास-ससुर पर पिता द्वारा लगाये गये दहेज प्रताड़ना के झूठे आरोप-आक्षेप को खारिज कर ससुराल वालों का साथ देती है कि वे सही हैं। माता-पिता का कृत्रिम-अव्यावहारिक रुख उसे इतना संत्रस्त कर देता है कि दुकान में अपना हिस्सा लेती है। दुकान में पार्टीशन कर दो भाग हो जाते हैं। एक में अपर्याप्त सामग्री के साथ प्रतिभा बैठती है दूसरे में उसकी माँ। प्रतिभा न कपटी है न माता-पिता की विरोधी। अपने आत्म सम्मान के लिये संघर्ष कर एक उदाहरण बनती है। यही आत्मा सम्मान 'बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु' की रूपा में है। कथा नायक का रूपा से मानवीय और नैतिक संबंध है लेकिन अनुदार समाज ऐसे संबंध को चरित्रहीनता और बेवफाई मानता है। बाल विधवा रूपा को ससुराल-मायके (कथा नायक के पैतृक गाँव) हर कहीं आक्षेप, उपेक्षा मिलते देख शहर में परिवार के साथ रह रहा कथा नायक गाँव के अपने पैतृक घर में उसके रहने का प्रबंध कर देता है कि घर की देख-रेख करते हुये जीवनयापन कर लेगी।

दायित्व निष्ठा से निभा रही रूपा को कथा नायक के परिवार वाले दुश्चरित्र और घर में कब्जा करने का आशय रखने वाली लोलुप स्त्री मानते हैं। कथा नायक की मृत्यु की खबर पाकर रूपा गाँव से शहर आती है और घर की चाबी उसके पुत्र को सौंप कर चली जाती है कि जिसने मदद की वह नहीं रहा तो उस घर में अधिकार खत्म हो गया। यह वही असहाय-अशक्त रूपा है जो न ससुराल में हक माँग सकी, न मायके में लेकिन कथा नायक की मदद उसे स्वाभिमानी बनाने के साथ इतना दृढ़ भी बना देती है कि चाबी देने उसके परिवार के बीच पहुँच जाती है।

उर्मिला शिरीष के स्त्री पात्रों का व्यवहार बदलते दशकों के साथ बदलते हुये समयानुकूल हो जाता है। परिदृश्य को अलग नजरिये से देखते हुये समय की नब्ज पकड़ना जानती हैं कि यदि समाज उदार नहीं हुआ है तो उन्हें अपनी राह खुद बनानी होगी। ये स्त्री पात्र इस सत्य को समझने लगी हैं कि जीवन सबसे ऊपर है। 'उसका अपना रास्ता' की वृंदा घर-परिवार के विरोध के बावजूद सौन्दर्य प्रतियोगिताओं में क्रमवार भाग लेते हुये, नैतिक-अनैतिक तरीके अपनाते हुये मिस इंडिया काम्पटीशन में पहुँच कर पहले राउण्ड में ही बाहर हो जाती है। यह उसके लिये हताशा का ही नहीं ग्लानि का भी अवसर है। सौन्दर्य प्रतियोगिताओं के पीछे के वैश्विक बाजार तंत्र, राजनीतिक अर्थ शास्त्र की मीमांसा करती है। अपनी त्रुटियों को स्वीकार करती है।

ये स्त्री पात्र जानते हैं सारी जटिलता अस्वीकार को लेकर है। स्वीकार कर लो तो ग्लानि से मुक्त होकर सकारात्मक भाव को पकड़ा जा सकता है। वृंदा भटकाव को एक काले पन्ने की तरह पीछे छोड़ आत्मनिर्भरता में संतोष ढूँढ़ लेती है। बदलते वक्त के साथ स्त्रियों ने अपने बूते अपनी छवि बदली है। आत्मनिर्भरता के महत्व को समझने लगी हैं। कहानी 'समंदर' की कथा नायिका गर्भवती है, चार साल का पुत्र है, सहसा पति की मृत्यु हो गई है। स्त्री को आज भी व्यक्ति या स्वतंत्र इकाई मानने को लोग तत्पर नहीं हैं। स्त्री का जीवन पिता, भाई, पति, पुत्र के लिये है। माता-पिता उसे साथ ले जाने, सही मूल्य मिलने पर उसके मकान को बेचने जैसी योजना बना रहे हैं। कथा नायिका शोक में है लेकिन उसे दूरगामी परिणामों की समझ है। वह उसी शहर, उसी मकान में रहते

हुये अनुकम्पा नियुक्ति के लिये आवेदन देने का नितांत व्यावहारिक उपक्रम करती है। समय के बदलाव पर अन्वेषी नजर रखते हुये उर्मिला शिरीष अपने स्त्री पात्रों में ऐसा समयानुकूल साहस भरती गई हैं जब वे भय और भावुकता से परे मानसिक तौर पर मजबूत बनने का उद्यम करते हैं। कहानी 'स्वांग' की मधु कहती है 'बहिन जैसी बेवकूफी में नहीं करना चाहती थी कि रात-दिन पढ़ाई करूँ, दूसरों के घर (ससुराल) जाकर कमाऊँ और ऊपर से उनके द्वारा दी जाने वाली यातनाओं को सहन करूँ। गुलामी करूँ। परम्पराओं और रिवाजों के नाम पर परिवार (पैतृक) का तथा स्वयं का शोषण करवाऊँ क्या कहती हैं आप इस शादी नामक संस्था के बारे में शुद्ध समझौता है न कि लेन-देन का। कोई रिश्ता ईश्वर या स्वर्ग का बनाया हुआ नहीं होता। कोई संबंध प्रेम से भरा नहीं होता। यही साहस 'शून्य' की निरूपमा में है।

मैं वयस्क हूँ। मुझे शादी करने का अधिकार है। यदि अब किसी ने मेरे साथ ज्यादती की तो मैं शिकायत (थाने में) कर दूँगी। टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो जाऊँगी पर झुकूँगी नहीं।' मधु और निरूपमा ऐसे पात्र हैं जो स्त्री जगत को संदेश देते हैं विवाह करना या न करना स्त्री का अपना फैसला होना चाहिये क्योंकि दाम्पत्य का सबसे अधिक असर उस पर ही होता है। 'अतीतजीवी' की चित्रा के शुरुआती बरस इसी असर की चपेट में व्यर्थ हो गये। उसने दोहरे आचरण वाले पति के साथ सामन्जस्य बनाने की चेष्टा की लेकिन पति नीलेश समन्वय पर नहीं आना चाहता। चित्रा में स्वाभिमान है। वह ऐसे विवाह को भाग्य का लेख मान विषाद नहीं मनाती बल्कि नीलेश से सीधे कहती है 'शादी घर वालों ने की है 'सजा उनको दो। मेरा' जीवन बर्बाद करने का हक तुम्हें नहीं है। पत्नी को प्यार करना पाप है, साथ ले जाना पाप है पर पत्नी को अपनी सुख-सुविधा के लिये इस्तेमाल करना पाप नहीं है? मैंने क्या नहीं किया आप सबके लिये।' अब आग्रह-अनुग्रह करने की बारी नीलेश की है लेकिन चित्रा छल में न पड़ उसे छोड़ कर चली जाती है।

ये स्त्री पात्र स्त्री वाद की पताका नहीं लहराना चाहते, क्रांति नहीं लाना चाहते बल्कि अपने विवेक से ऐसे प्रभाव और परिणाम बनाते हैं जिससे उनकी राह अपेक्षाकृत सहजता से प्रशस्त होती जाती है। 'प्रतिरोध' की प्राध्यापिका कामिनी जब परीक्षा हॉल में दबंग विद्यार्थियों को नकल करने से रोकती है तो वे असामाजिक शब्दों में उसे देख लेने की जो धमकी देते हैं उसके सदमे में वह एक सप्ताह तक अस्पताल में भर्ती रहती है। पति सहित अन्य प्राध्यापक उसे छुट्टी लेने का परामर्श देते हैं पर वह स्वस्थ होते ही ड्यूटी पर जाती है कि छुट्टी लेने को विद्यार्थी उसकी कायरता और भीरुता मानेंगे। वस्तु उर्मिला शिरीष की कहानियों में विवरण इतने वास्तविक और बारीक होते हैं कि आधी कथा वही कह देते हैं। चाहे कहानी 'चीख' हो या पत्ते झड़ रहे हैं' हो या 'सहमा हुआ कल हो'।

कहानी 'चीख' की बलात्कार पीड़िता युवती के द्वैत और द्वन्द्व, घटनाचक्र के बाद के मानसिक, मनोवैज्ञानिक, पारिवारिक, सामाजिक प्रभाव की बिंदुवार ऐसी विवेचना हुई है कि कई प्रश्नों के जवाब स्वत: मिल जाते हैं। बलात्कार ऐसा असाध्य प्रसंग है जिसमें बलात्कारियों से बड़ी अपराधी वह युवती समझी जाने लगती है जिसके साथ बलात्कार हुआ है। इसे दुर्घटना या असामाजिक गतिविधि से अधिक बदनामी वाला ऐसा सामाजिक कलंक माना जाता है कि रिपोर्ट लिखा कर खुलासा हो गया तो परिवार मुँह दिखाने लायक नहीं रहेगा। बलात्कारियों की बदनामी हो न हो युवती की इतनी हो जायेगी कि उसके विवाह में व्यतिक्रम आयेगा। विवाह हो जायेगा तो जीवन भर भय बना रहेगा कि पता चलने पर मालूम नहीं क्या होगा। बलात्कार के कारण एकाएक परिजनों के परिचय बदल जाते हैं। वे उस पीड़िता के माँ, पिता, भाई, बहन के तौर पर चिन्हित होने लगते हैं। परस्पर संबंधों में खिंचाव आ जाता है। घर में भय, अधीरता, यातना, झिझक, आक्रोश लाचारी, प्रतिशोध जैसी नकारात्मकता भर जाती है। युवती घर में समा गई, असहजता को समझ रही है। समझ रही है वह स्थिति की जवाबदेह नहीं है लेकिन कारण है। समझ रही है बात स्वीकार-अस्वीकार की है। असहजता को खत्म करना है तो स्थिति को स्वीकार कर समाज का सामना करने के लिये दृढ़ होना पड़ेगा। स्थिति से बचने या छिपाने से

असहजता और ग्लानि शीर्ष पर पहुँच जायेगी। वह खुद को सँभालती है 'मैंने कोई गलती या अपराध नहीं किया जिसके लिये मैं जिंदगी भर आत्मग्लानि में घुलूँ। मम्मी, मैं हर स्थिति का सामना करूँगी। मेरा कोई साथ दे या न दे।'

इन कहानियों के स्त्री पात्रों के भीतर सोदेश्य आग प्रज्ज्वलित नहीं रहती है क्योंकि सामान्य-सहज जीवन में विश्वास करते हैं लेकिन जरूरत आने पर अपने भीतर वह ताप तैयार कर लेते हैं जिससे विरुद्ध का विरोध किया जा सके। इन्हीं सशक्त स्त्री पात्रों का विस्तार उर्मिला शिरीष के उपन्यास 'चाँद गवाह' की दिशा और खैरियत है हुजूर' की शुचिता में मिलता है। चूँकि दिशा और शुचिता इक्कीसवीं सदी के तीसरे दशक के आरम्भ का प्रतिनिधान कर रहे हैं इसलिये अपने व्यक्तिगत जीवन को त्याग, श्रम, क्षमा, औदार्य में ही निरूपित नहीं करना चाहते बल्कि स्व के लिये पूर्णरूपेण सजग हैं। दिशा मदिरा प्रेमी पति राजीव की सिर्फ परछाईं और परिवार के लिये सिर्फ फिलर बन कर नहीं रहना चाहती बल्कि दायित्व के साथ निजता को भी बनाये रखना चाहती है। दायित्व पूरे करते हुये उसने इतना समय बिताया कि इस बीच उसकी दोनों बेटियाँ युवा हो गईं लेकिन उसका जीवन मन मुताबिक नहीं हो पाता। वह अपनी निजता और उद्यमिता के लिये जंगल में बने अपने फार्म हाउस में पुराने विवाहित मित्र संदीप के साथ रहने लगती है। यह रहना एकाएक नहीं है। आवारगी भी नहीं है।

इस निर्णय में दशकों के बदलाव दर्ज हैं। स्त्रियों ने कालांतर से जो उत्पीड़न देखा, फिर कुछ सपने देखने, आकांक्षा रखने का हौसला किया फिर निर्णय लेने की दृढ़ता बनाई, उसका प्रतिफलन है। फार्म हाउस में पति, भाई, बेटियाँ निर्बाध आवाजाही करते हैं। वह संदीप के साथ मिल कर बंजर को उपजाऊ बना वृक्षारोपण करती है। यह व्याख्या से अलग नि:स्वार्थ संबंध है लेकिन पुरुष की मित्रता को वर्जित संबंध ही माना जाता है। पुरुष से मित्रता रखने वाली स्त्री को परिवार को नुकसान पहुँचाने वाली अमर्यादित स्त्री ही माना जाता है। क्योंकि पति घर और बाहर जैसा चाहे व्यवहार करे लेकिन परिवार को बचाना स्त्री की प्राथमिकता है। घर को बनाने- बिगाड़ने के लिये बाकी सदस्य जो भी करें प्रमुख दोषी पत्नी मानी जाती है। चयन करने वाली स्त्री को आज भी पसंद नहीं किया जाता। पति और तमाम लोग दिशा की भर्त्सना करते हैं, बेटियाँ भी कहती हैं संदीप दिशा की सम्पत्ति हड़पना चाहता है। बेटियाँ स्वच्छन्द व्यवहार वाली हैं पर माँ देवीतुल्य चाहिये। बेटियाँ उस समय जिसे 'हमारा समय' कहते हैं पर कब्जा। कर सारे बदलावों पर अमल करना चाहती हैं लेकिन नहीं सोचतीं समय सिर्फ नयी पीढ़ी का ही नहीं उन तमाम पीढ़ियों का होता है जो उस कालखण्ड में रह रही हैं। उस समय के बदलावों का असर उन पर पड़ना अस्वाभाविक नहीं है। यदि चाहे तो प्रत्येक पीढ़ी वह निजता और आजादी पर अमल कर सकती है जिसे नई पीढ़ी अपना व्यवहार मानती है। कोई नहीं सोचना चाहता स्त्री की प्रवृत्ति निर्वहन की रही है। यदि उसकी भावनाओं की कद्र हो तो वह आपदा-विपदा में भी गड़बड़ाते समीकरणों को सँभालने का भरसक प्रयत्न करती है। 'खैरियत है हुजूर' की शुचिता घोटाले में लिप्त-पति के जेल चले जाने पर घर सँभालती है, बच्चों को बहलाती है, पति को छुड़ाने के लिये वकीलों से वार्ता करती है, पैसे खर्च करती है, नातेदार-परिचितों के मौन-मुखर प्रश्नों का सामना करती है। मानसिक दबाव से गुजरती है, घर-बाहर संघर्ष करती है जबकि जानती है घर-परिवार में उसे सम्मान-सराहना कभी नहीं मिली।

उर्मिला शिरीष की रचनाओं में सशक्त स्त्री पात्रों की अच्छी संख्या है लेकिन आलेख में सभी को नहीं समेटा जा सकता। सार रूप में जरूर कहूँगी ये स्त्री पात्र हमारे आस-पास के हैं जिन्हें सूझ-बूझ से इस तरह तैयार किया गया है कि ताकतवर होकर उभरे हैं। कर्तव्य से पीछे नहीं हटते पर जीवन को अर्थ देना चाहते हैं। इसीलिये वे गवाक्ष ढूँढ़ लेते हैं जहाँ खड़े होकर इत्मीनान की लम्बी साँस ले लें।

द्वारा श्री एम. के. मिश्र एडवोकेट
जीवन विहार अपार्टमेन्ट्स
द्वितीय तल, फ्लैट नं0 7
महेश्वरी स्वीट्स के पीछे
रीवा रोड, सतना -485001(म.प्र.)
मो.- 8269895950

खूबसूरत मोड़ पर पहुँचा अफसाना-बयाबां में बहार

- रंजना अरगड़े

जन्म - 11 जनवरी 1957।
जन्म स्थान - दमोह (गुजरात)
शिक्षा - एम.ए., पीएच.डी।
रचनाएँ - शमशेर रचनावली सहित सभी विधाओं में लेखन।
सम्मान - वाणी पुस्कार सहित अनेक सम्मानों से सम्मानित।

फिर भी आदमी का सम्मान, नश्वर का सम्मान मुझे हमेशा ही अस्वाभाविक लगता है क्योंकि आप अगर मेरे गुणों का सम्मान कर रहे हैं तो मुझमें अवगुण भी तो हैं ढेर सारे। मुझसे ज़्यादा गुणों वाला ज़्यादा मानवीय एक साधारण आदमी मिल जाएगा। ऐसे कितने ही लोगों से मैं मिला हूँ, उनके सामने मैंने खुद को बौना पाया है पर उनके लिए कोई सम्मान समारोह नहीं आयोजित किए जाते, शायद उन्हें ज़रूरत ही नहीं। दूसरे, मैं तो गुज़र जाने वाला हूँ मेरा क्या सम्मान। रचना का सम्मान ठीक है, वह रहने वाली है। **(गोविंद मिश्र)**

यह सवाल मेरे मन में ही नहीं बल्कि किसी के भी मन में उठ सकता है कि एक कथा लेखिका के लिए जीवनी लेखन कितना चुनौती से भरा सर्जनात्मक काम हो सकता है। माना कि जीवनी भी एक व्यक्ति के जीवन की कथा ही होती है आखिरकार; एक ऐसी कथा जहाँ कल्पना का एक अंश भी न जोड़ना हो, तथ्यों से ज़रा भी यहाँ-वहाँ न होना हो, अपने मंतव्यों के अनुसार दूसरों के विचार और मंतव्य न होने की पूरी संभावना हो, डायरी और पत्रों की उपलब्धि सीमित हो और बार-बार एक कथाकार के जीवन के रोचक, सुखद-दुखद प्रसंग मन में अनेक भाव-कल्पनाओं को जन्म देते हों- तब भी अत्यंत संयमित हो कर क्या अपने कथाकार को जीवित रखा जा सकता है? एक कथालेखक के लिए दूसरे कथालेखक की जीवनी लिखना कथा-रोमांच से अधिक एक परीक्षा ही होती होगी। ऐसे में यह कल्पना ही करनी चाहिए कि उर्मिला शिरीष के लिए गोविंद मिश्र की जीवनी लिखना सर्जनात्मकता के स्तर पर कितना चुनौती भरा काम होगा।

लेकिन इससे काम आसान तो नहीं हो जाता! कथेतर गद्य साहित्य जैसे निबंध, रेखाचित्र, संस्मरण, साक्षात्कार, स्केच, जीवनी, आत्मकथा आदि में सबसे अधिक संदेहास्पद विधा संस्मरण है और सबसे अधिक श्रमसाध्य जीवनी लेखन। ऐसा इसलिए कि संस्मरणों को सत्यापित करने वाला व्यक्ति प्राय: दिवंगत ही होता है और साक्षात्कार भी कई बार काल्पनिक होते हैं; एक सर्जनात्मक विधा की तरह लिखे जाते हैं (पर प्राय: ऐसा नहीं होता है) और अगर लेखक या व्यक्ति के न होने पर प्रकाशित होते हैं, तो उन्हें भी सत्यापित नहीं किया जा सकता। उसी तरह से सामान्य रूप से जीवनी व्यक्ति के न रहने पर लिखी जाने वाली विधा है, ऐसी आम समझ और प्रचलन है। इसी पुस्तक में एक उल्लेख आता है कि एक बार जब फिल्म अभिनेत्री मीना कुमारी से भेंट होने पर गोविंद जी ने उनकी जीवनी लिखने का प्रस्ताव रखा तो वे बोलीं कि 'मैं अभी मरी नहीं हूँ।' अगर किसी व्यक्ति के रहते जीवनी लेखन किया जाता है, तो उसकी विश्वसनीयता पर संदेह कम होता है। यह अलग बात है कि आजकल जीवित राजनेताओं, बड़े उद्योगपतियों, खिलाड़ियों, फिल्मी कलाकारों और अन्य सामाजिक महत्व के व्यक्तियों की जीवनियाँ लिखने का प्रचलन भी बढ़ गया है। कई बार ये जीवनियाँ 'अनुकूलित' होती हैं। 'माँग और आपूर्ति' के हिसाब से इनका लेखन होता है। आज जब फिल्में भी साहित्य की व्यापक परिधि का

हिस्सा बन गई हैं, इस अर्थ में कि साहित्य के पाठ्यक्रमों में 'फिल्म स्टडीज़' को शामिल कर दिया गया है, तब विभिन्न बायोपिक भी अपनी तमाम मर्यादाओं के साथ, एक प्रकार का जीवनी साहित्य ही माना जा सकता है।

जीवनी लिखने की कई पद्धतियाँ हो सकती हैं। जीवनीकार भूमिका में अपना मंतव्य देने के बाद रंगमंच से विदा हो जाए और फिर हमारे सामने केवल आलोच्य व्यक्ति का जीवन खुलता चला जाए। जैसे 'आवारा मसीहा' में हम देखते हैं; या फिर अत्यंत सर्जनात्मक रूप से, जिसे पढ़ते हुए संभव है कि आपको दिए गए तथ्यों के प्रति अविश्वास भी हो या लेखक के अन्यथा उद्देश्यों की गंध आने लगे–जैसे विष्णुचंद्र शर्मा की 'मुक्तिबोध की आत्मकथा।' विष्णुचंद्र शर्मा द्वारा लिखित अन्य जीवनियों में–यथा 'समय साम्यवाद' और 'अग्निसेतु' में ऐसा नहीं लगता। बहरहाल। जीवनी लेखन में जिस बात का ध्यान रखना आवश्यक है, वह है कालक्रमानुसार आलोच्य लेखक के जीवन को प्रस्तुत करना ताकि व्यक्ति के बनने और गढ़े जाने की प्रक्रिया पाठकों के सामने स्पष्ट हो। कथा साहित्य की तरह चरित्र को गढ़ने के लिए घटनाओं और परिस्थितियों का निर्माण नहीं करना है, बल्कि उन परिस्थितियों और घटनाओं को खोजना है जिनमें से हो कर जीवनी–चरित्र का जीवन गढ़ा गया है।

ऐसे में 'बयाबां में बहार' की चर्चा करते हुए कई बातों पर विचार करना ज़रूरी हो जाता है। सबसे सकारात्मक बात तो इसमें यही है कि इसकी विश्वसनीयता पर बिल्कुल भी संदेह नहीं किया जा सकता है, क्योंकि यह गोविंद मिश्र के साहित्य की अध्येता और सुप्रसिद्ध कहानीकार उर्मिला शिरीष द्वारा लिखी गई है और प्रकाशित होने के बाद लेखक की ओर से कोई आपत्ति नहीं उठाई गई है। अर्थात् इसमें दिए गए तथ्य, मंतव्य अत्यंत ईमानदारी से प्रस्तुत किए गए हैं, यह निर्विवाद है।

एक सवाल तो यह है कि लेखिका को गोविंद मिश्र की जीवनी लिखने की प्रेरणा क्यों हुई? विशेष रूप से गुटबाजी और विचारधाराओं में आबद्ध हिन्दी साहित्य–समाज के एक ऐसे लेखक की जीवनी लिखना जो न किसी गुट में है और न ही अपने समय के तथाकथित 'मुख्य' विचारधारा का प्रिय लेखक या फिर आई. ए. एस. हो कर भी जिसने अपने पद और प्रतिष्ठा के बल पर अपना लेखन 'पुष्ट' किया हो। और न ही अपना कोई 'गुट' बना कर अपना वर्चस्व बढ़ाया हो। पुस्तक की भूमिका में जीवनीकार लिखती हैं–'गोविंद जी ने हँस कर मेरी तरफ देखा और बोले–मेरे जीवन में ऐसा क्या है जिसे ले कर तुम लिखोगी। न मैं स्वतंत्रता संग्राम का सेनानी हूँ, न मेरे जीवन से कोई अनहोनी क्रांतिकारी घटना जुड़ी है जिसको पढ़ने का मोह पाठकों को हो। मेरा लेखन तो है, और वह ज्यादातर आत्मकथानात्मक रहा है।' (पृ–8) और जीवनीकार ने भी अपने प्रिय लेखक की जीवनी लिखने का निर्णय यह सोच कर लिया कि वह यह देखना चाहती थीं–'उनका जीवन किस तरह बहा और लेखन में किस तरह उतरा' और यह भी कि 'कैसे, कितना जीवन साहित्य बन जाता है।' और यह कि 'कैसे एक व्यक्ति के जीवन की घटनाएँ किसी साधारण पाठक को अपने जीवन के जैसे लगने लगती है।' लेखिका का यह भी मानना रहा है कि वे जब से गोविंद मिश्र के संपर्क में आईं, उन्हें उनका व्यक्तित्व लीक से हटा हुआ लगा, थोड़ा अस्पष्ट और काफी कुछ दोस्तो वस्की के ब्रदर कोरोमोजेव के चरित्र एल्योशा जैसी आत्मिकता लिए हुए है। यह पात्र गोविंद मिश्र का प्रिय चरित्र रहा है। लेकिन दोस्तोवस्की के उपन्यास के पात्र को व्यक्ति गोविंद मिश्र से अलगाते हुए भी वे उन दोनों में रही एक समानता से बहुत प्रभावित रहीं–'दोनों से आज के अति भौतिक, अति व्यावहारिक समाज की दबी हुई चेतना स्वर उठाती हुई दिखती है, जो आज कम बोलती हुई मिलती है, पर वह है तो।'

अपनी भूमिका में उर्मिला शिरीष ने यह स्पष्ट कर दिया कि–'मैंने इस जीवनी को लिखने के जो आधार बनाए, वो थे–(1) गोविंद मिश्र से संबंधित स्थानों की यात्रा, वहाँ लोगों से पर्याप्त जानकारी–जिन लोगों से साक्षात् भेंट न हो सकी उनसे पत्र–व्यवहार से जो जानकारी प्राप्त हो सकी। (2) गोविन्द मिश्र के साहित्य में जहाँ जो प्रसंग, पात्र या स्थान आए, उन्हें

फिर से पढ़कर उनके जीवन के प्रसंगों से जोड़ना और उन्हें गहराई और विस्तार देना। (3) गोविन्द मिश्र के साथ कई-कई बार बैठ कर नए प्रसंगों के बारे में जानकारी हासिल करना, उनकी भावनाओं को नोट करना। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है-'भावनाओं को नोट करना'-क्योंकि घटनाओं और प्रसंगों के बीच उपस्थित भावना-प्रदेश पूरी बात के प्रभाव को कई बार बदल कर रख देता है। पुस्तक के परिशिष्ट में उन्होंने एक लंबा साक्षात्कार भी जोड़ा है जिससे-'(यह) जीवनी साहित्यकार की पूरी तस्वीर प्रस्तुत कर सके।' जीवनी लेखन के लिए आवश्यक जो आधार तत्व माने गए हैं, लेखिका उर्मिला शिरीष ने उनका अनुसरण किया है। इसमें गोविंद मिश्र की उपलब्ध पुस्तकों को ध्यान में रखा गया है; बल्कि यह कहा जा सकता है कि उनका साहित्य पढ़ने के बाद ही जीवनी लिखने की प्रेरणा उर्मिला जी को हुई और बड़ी बात यह है कि साहित्य में वर्णित प्रसंगों को जीवन के साथ जोड़ना ही उनका मुख्य उद्देश्य रहा है। उर्मिला जी के लिए यह कार्य बहुत सहज साध्य था क्योंकि गोविंद मिश्र जी के साहित्य पर उनकी विशेषज्ञता है। फिर उन्होंने उन स्थलों की यात्रा की है जिनसे गोविन्द मिश्र का संबंध रहा है जैसे अतर्रा, चरखारी, बांदा लखनऊ आदि। वे उन लोगों से भी मिलीं जिनसे गोविन्द मिश्र का बचपन तथा यौवन में गहन संबंध रहा, उन्होंने उन लोगों से साक्षात्कार लिए, तथा पत्रों का भी उपयोग किया। इसमें कुछ तस्वीरें भी दी गई हैं। बल्कि गोविन्द मिश्र पर लिखे आलोचनात्मक लेखों का भी उपयोग किया है। यही सब इस जीवनी को विश्वसनीय बनाते हैं।

उर्मिला शिरीष स्वयं एक नामांकित लेखिका हैं, पर चूँकि वे एकेडेमिशियन भी हैं; उनका पी.एचडी. और डी.लिट् गोविंद मिश्र जी पर है, शायद इसीलिए इस जीवनी को लिखते समय वह बार-बार झाँकता है। इस जीवनी को उन्होंने दस अध्यायों तथा एक परिशिष्ट में विभाजित किया है। अपने लिखे इस वाक्य को जब मैं ही पढ़ती हूँ, तो मुझे सहसा एक अकादमिक पुस्तक की बात करने का बोध होता है। हो सकता है कि अध्याय क्रम का उल्लेख न करते हुए सीधे शीर्षक देतीं तो ऐसा न लगता। पर यह लेखिका का अपना चुनाव है। वरना जो शीर्षक हैं-वे बेहद आकर्षक और रचनात्मक हैं; जीवनी पढ़ने के लिए आपको उत्सुक कर दें। ऐसे-जैसे-'बयाबां में बहार', 'पूर्वरंग', 'लाल पीली ज़मीन की ज़मीन', 'कोमलता और सौन्दर्य का उत्स', 'यथार्थ की ओर', 'महानगर', 'समन्दर पार', 'कहाँ कुछ ठहरता है', 'अवरोह...आरोह...आ-गमन' तथा 'दे जस्ट डोंट मेक यू लाईक एनीमोर।' शायद लेखिका के भीतर रहे उपन्यासकार ने ऐसा कर के अपने आपको उपन्यास के प्रवाह में बहने से रोका होगा। बहरहाल।

प्राय: जीवनियों में लेखक के जन्म पूर्व की भूमिका के साथ उनके अंत तक का विवरण होता है। पर यह तो एक ऐसी जीवनी है जो एक हयात लेखक पर लिखी हुई है अत: उसे किस मोड़ पर और किस तरह ले जाएँ यह लेखिका के लिए बहुत चुनौती भरा रहा होगा। यह वो अफ़साना है जिसे एक ख़ूबसूरत मोड़ पर ले जाना था। लेखक के व्यक्तित्व को अनेक आधारों से उकेरते हुए जहाँ जीवनी का आरंभ होता है वहीं अंत में 'दे डोंट मेक दैम एनी मोर लाईक यू' से किया है-अब ऐसे लेखक नहीं होते हैं। जीवनी पुस्तक का अंत लेखिका ने बहुत सधे हुए तरीके से किया है। जहाँ गोविंद मिश्र का आग्रह इस बात पर है कि जीवन की शाम में तलछट में क्या है बचा हुआ है उसे देखना चाहिए वहीं जीवनीकार ने उनके साहित्य और उनसे हुई बातचीत और जीवनी लेखन की प्रक्रिया में हुए अनुभव के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि केवल दो प्रसंग ऐसे हैं जो गोविंद मिश्र में अब भी ठहरे हुए हैं-पहला बांदा वाला प्रेम प्रसंग और दूसरा पुत्र शोक। अर्थात् दोनों प्रसंगों के केन्द्र में बिछुड़न और विरह हैं; यानी कि दुख और करुणा से जुड़े हैं। जीवनीकार ने गोविन्द मिश्र की इस जीवनी को लिखते हुए पाया है कि मिश्र जी के साहित्य में भी मनुष्य के दुख को ही केंद्र में रख कर रचनाशीलता जन्म लेती है। जिस बात ने उर्मिला शिरीष को इस जीवनी लिखने के लिए प्रेरित किया। वह यही थी कि बाहरी तौर पर जो व्यक्ति इतना सफल और सुखी है-क्योंकि सरकार के ऊँचे पद पर स्थित रहा और रचनाशीलता कई-कई बार सम्मानित हुई-उसका आंतरिक मन एक बेचैनी और व्यथा से घिरा रहा। यह व्यथा व्यक्तिगत जीवन में कुछ पा लेने की

अथवा अधिक पा लेने की न हो कर, प्राप्तियों के रहते हुए अपने आसपास के जगत में सामान्य मनुष्य के संघर्ष और कष्टों को न भूल सकने की व्यथा है, उसे अभिव्यक्त करने की बेचैनी है।

यह सही है कि उर्मिला शिरीष ने अपने प्रिय लेखक से बेहद प्रभावित हो कर यह जीवनी लिखी है। उनमें भावुकता अवश्य है परन्तु साथ ही उनके अंदर एक विश्लेषणात्मक दृष्टि भी रही है। मिश्र जी के स्वभाव और व्यक्तित्व को आलोचनात्मक रूप में रखती हैं। बचपन में बरैयों के द्वारा काटे जाने के प्रसंग का वर्णन कर के अंत में वे लिखती हैं-'अलबत्ता इससे उनके स्वभाव का एक दोष पता लगता है। तैश में आकर जल्दी से कुछ कर डालना। वे किसी काम को समय के पहले ही उतावली में कर बैठते हैं और अक्सर इसके कारण मुसीबत में फँस जाते हैं। या और नहीं तो बेकार का श्रम कर बैठते हैं। उनकी यह प्रवृत्ति आज भी है।' (30) लेकिन गोविंद मिश्र इस घटना को अलग तरह से देखते हैं। गोविंद मिश्र अतर्रा की उस स्मृति को 'आगे आने वाली सर्जनात्मकता के दर्द का पूर्वाभास मानते हैं। जो बरैया भनभनाती हुई दूर तक पीछा करती चली आई, जो छोड़ती ही नहीं वह सर्जनात्मकता है, उसका उत्स है वह छत्ता जिसे सर्जक खोद-खोद कर जैसे पीड़ा ओढ़ता है।' वे कहते हैं-लिखना जीवन की पीड़ा को वापस लाकर उसमें से फिर-फिर गुज़रना है और यह गुज़रना यथार्थ में से गुज़रने से अधिक पीड़ा दायक है, आप मृत्यु के कगार पर पहुँच जाते हैं। एक रचनाकार अपनी हर रचना में मरता और जन्मता है।' (30)रचना का यह जो आधार है, वही लेखक को ऐसे पाठक देता है जो इन कृतियों से जीवन पाते हैं। ऐसे ही एक पाठक का उल्लेख जीवनी के अंतिम अध्याय में हुआ है जिसमें मौत की कगार पर पहुँची एक पाठिका उनके नानी के चरित्र के कारण अपना जीवन बचा पाती है। इस तरह के और भी उदाहरणों का उल्लेख इसमें है। किसी भी लेखक के जीवन में सबसे बड़ा पुरस्कार तो यही होता है। जो लेखक यह कर पाता है, उसका लेखन इस तरह अपने पाठकों के जीवन में प्रवेश कर के एक सकारात्मक ऊर्जा पैदा करता है। गोविंद मिश्र इस मामले में बहुत स्पष्ट हैं-'साहित्यकार की भूमिका यह है कि वह पहले मुझे जीवनशक्ति दे और उसके साथ-साथ जो मेरे साहित्य को पढ़ते हैं उन्हें भी दें- जीवन में खड़े होने की शक्ति। मुख्य बात यही है-इसके रास्ते आगे कुछ हो जाए तो हो जाए।' (243) समाज को कुछ देने का मुग़ालता वे नहीं पालते।

सरकारी नौकरी में रहते हुए गोविंद मिश्र कितने अ-सरकारी रहे और उसके कारण उन्होंने कितना नुकसान उठाया उसका खासा विवरण इस जीवनी में है। गोविंद मिश्र एक महत्त्वपूर्ण लेखक क्यों बन पाए, इसका भी अंदाज़ा यहाँ मिलता है। बड़े अधिकारियों के दाएँ-बाएँ रहने की जिसे आदत न हो, जो ईमानदार भी हो और प्रसंग आने पर सही बात कहने में हिचकिचाता भी न हो और अपने इस स्वभाव के चलते तरक्की के अवसरों को खो भी देता हो, बहुत महत्वाकांक्षाएँ न पालता हो-वही पदासीन लेखक अपने लेखन में इन ऊँचाइयों तक पहुँच पाता है। गोविंद मिश्र का जीवन इसका उदाहरण है-ऐसा इस जीवनी को पढ़कर निश्चय ही लगता है।

जैसा कि पहले उल्लेख किया है कि आरंभ में गोविंद मिश्र ने जीवनी के लिखे जाने के प्रति उदासीनता दिखाई-यह कह कर कि 'मेरा सारा लेखन तो आत्मकथनात्मक है।' इस बात का बहुत विलक्षण उपयोग जीवनीकार ने किया है। इस पूरी जीवनी में मिश्र जी के दांपत्य जीवन की अनबन का मात्र हल्का सा उल्लेख है। अत: पाठकों को यह तो मालूम हो जाता है कि दोनों में दूरियाँ थीं। पर कहीं उसके विवरण या कारण नहीं आते। पता नहीं यह लेखक का आग्रह था या उर्मिला जी का अपना विवेक- पर जहाँ उनके विवाह का उल्लेख आता है वहाँ जीवनीकार ने लिखा है-'कोहरे में कैद रंग' में इस स्थिति में विवाह और उस दरम्यान चलती कश्मकश को विस्तार से बताया है। (66)इस तरह लेखिका ने इसे सनसनीखेज बनाने से बचा लिया है। पर्दे के पीछे के चित्रों को हल्की रेखाओं में सूचित भर किया है।

एक कथाकार जब जीवनी लिखता है तब उसके सकारात्मक पक्ष बड़े विलक्षण और रोचक होते हैं। जीवनी का चौथा

अध्याय इसका बेहतर उदाहरण है। यह अध्याय यूँ भी बहुत रोचक है क्योंकि इसमें 'बाह्य तथा आंतरिक संघर्ष करते, अपने को काबिल बनाते नवयुवा बनते' गोविंद मिश्र के जीवन का विवरण है। 'यहाँ पहुँचकर कटरा मुहल्ले में सिमटे जीवन ने गहराई में खींच लिया गोविंद को। कुछ हुआ गोविंद के जीवन में, जो गहराई से उनका रिश्ता बनना शुरू हुआ। स्थूल से सूक्ष्म, बाह्य से अंतर्मन में उतरने का पूर्वाभ्यास।' (49) लेकिन एक कथा-रचनाकार के रूप में उर्मिला जी का कमाल यहाँ पर है। वे बांदा पहुँचती हैं और सहसा वर्तमान से भूतकाल में चली जाती हैं। काली हो चुकी छत और ज़मीन वाली दुकान को देख कर विस्मित होती, दुकान देखते हुए भी न देखती सी-'मगर मैं उसे देखते हुए भी वर्षों पुरानी ज़िंदगी को देख रही हूँ। ठंड की ऋतु होती थी।' यह जो समय को लाँघ कर सहसा भूतकाल में पहुँचना और गोविंद मिश्र के उस सबसे महत्त्वपूर्ण समय को पाठकों के सामने रखना-एक विलक्षण तरीका है अपनी बात को रखने का। यहीं पर उनका कथाकार उनकी मदद करता है। असल में ऐसे और भी कई स्थान हैं, जो इस जीवनी को अभिव्यक्ति के स्तर पर विलक्षण बनाते हैं।

इस जीवनी की कई बातें हमें बदले हुए समय और मूल्यों के विषय में सोचने पर बाध्य करती हैं। गोविंद मिश्र के किशोर जीवन का जो चित्र इसमें है और जहाँ वे कहते हैं कि 'पूरा बांदा मेरा घर था। मुझे कभी नहीं लगा कि मैं दूसरों की उतरन को ले या पहन रहा हूँ, कहीं और भोजन कर रहा हूँ' तो आज के संदर्भ में हम इसकी कल्पना नहीं कर सकते; और इसीलिए यह जीवनी बहुत महत्त्वपूर्ण है। अपने जीवन में एक ऊँचे पद पर पहुँचा हुआ सफल व्यक्ति अपने बचपन और किशोर अवस्था के अभावों, आर्थिक संघर्षों को न तो छिपाता है न ही गौरवान्वित करता है-न अभाव, न असफल प्रेम, न बाद में हुए कुछ आकर्षण, जीवन क्रम में आगे चलते हुए माँस और शराब सेवन की बनी अपनी आदत, निराशा में जन्मी आस्थाएँ, कुछ भी गोपनीय नहीं है। यह सब उसके साहित्य का हिस्सा है।

'बयाबां में बहार' में उर्मिला शिरीष ने गोविंद मिश्र की रचनाओं तथा उनके जीवन के प्रसंगों को इस तरह जोड़ा है कि एक तो यह जीवनी अकादमिक महत्व का दस्तावेज बन जाती है और दूसरे गोविंद मिश्र के रचनात्मक दस्तावेज़ों की ईमानदारी को सत्यापित करती है।

402, बिल्डिंग नं.-2,
विंडसर अरालिया, कोलार रोड,
भोपाल-462042 (म.प्र.)
मो.-9426700943

सूचना

अक्षरा के सम्माननीय पाठकों, सदस्यों से विनम्र आग्रह है कि पते के साथ अपना मोबाइल नंबर भी अवश्य भेजें। ताकि पत्रिका आपको पहुँचने में विलंब न हो।

उर्मिला शिरीष के उपन्यास में स्त्री मुक्ति की अवधारणा

– अरविन्द त्रिपाठी

जन्म – 31 दिसंबर 1959।
शिक्षा – एम.ए., पीएच.डी.।
रचनाएँ – पाँच पुस्तकें प्रकाशित कतिपय सम्पादित।
सम्मान – हिंदी अकादमी सहित अनेक संस्थाओं से सम्मानित।

'मित्र के साथ कोई फार्म हाउस पर इस तरह अकेला तो नहीं रहता है', 'क्यों नहीं रह सकता, क्या बुराई है? आज भी हमारी सोच एक जगह जाकर ठहर जाती है, जेंडर पर और फिर इस तरह का सवाल पूछना कहाँ तक ठीक है? मुझे दुख है कि तुम भी यही सवाल कर रही हो। तुम्हारी सोच भी वहीं अटकी हुई है, सौ साल पुरानी। सवाल केवल सवाल, मैं एक अनसुलझा सवाल हूँ और तुम बीती शताब्दी का जवाब।' **(चाँद गवाह पृ. 8)**

'समाज क्या सचमुच अंदर से नहीं बदला है? स्त्री बदली है, पर पुरुष तो नहीं बदला है, वह अपनी छतरी लगाये बैठा है, उसकी छतरी को भेदना मुश्किल है। इस भागते हुए जीवन में वह प्रेम करना चाहती है। प्रेम की तलाश में भागती दिशा को एक कोई साथी मिल गया है तो सबको एतराज क्यों?' **(वही पृ. 49)**

शादी से पहले प्रेम करो तो गुनाह, शादी के बाद करो तो और बड़ा गुनाह, फिर प्रेम करो कब। हर इंसान को प्रेम करने का एक मौका मिलना चाहिये। **(वही पृ. 45)**

शादी क्यों जरूरी है, क्या मिलता है शादी से? जीवन में खुशी और सुख-सुविधायें होनी चाहिये। एक आदमी को पति के नाम पर जिन्दगी भर ढोना पर चाहे पसंद हो या नहीं, कितनी बड़ी सजा होती है। फिर उसका वही ठहाका। वही खिलखिलाहट।

ये चारों उद्धरण कथाकार उर्मिला शिरीष के पहले उपन्यास 'चाँद गवाह' से लिये गये हैं। मेरा ख्याल है कि पाठक समझ गये होंगे कि यह उपन्यास आखिर कहना क्या चाहता है? भारतीय समाज में बेमेल विवाह की नियति बड़ी तारीखी है, जिसकी शिकार सिर्फ उपन्यास की नायिका दिशा भर नहीं है बल्कि देखा जाये तो जिस भारतीय समाज में मध्यकाल के बर्बर समाज से लेकर आधुनिक काल के उत्तर आधुनिक समाज में पली-पुसी लड़कियाँ, पुरुष समाज की सम्पत्ति मानी जाती हों वहाँ स्त्री का बेमेल विवाह होना कोई अनहोनी बात नहीं। दरअसल बेमेल विवाह की समस्या की जड़ भारतीय सामंती समाज की अवधारणा है, जहाँ पितृसत्ता ही प्रमुख है, मातृ-सत्ता भोग विलास की चीज है, जिसकी शृंखला बेहद लम्बी, जटिल और अटूट है। जो तोड़ने की कोशिश करता है वह खुद टूट कर बिखर जाता है। देखा जाये तो सामंती समाज की कोख से ही स्त्री-समाज को 'कमोडिटी' के रूप में बदल दिया गया है-'यूज एण्ड थ्रो, आवारा पूँजीवाद के दौर में बाजारवाद ने खुद स्त्री को पाये की चीज बना दिया है, कहने की जरूरत नहीं कि आज लगभग हर वर्ग की स्त्री बाजार वाद के लुभावने जाल में फँसी हुई मुक्ति के दिवास्वप्न देख रही है, पर मुक्ति के मार्ग कहाँ? शोषण और दमन की सुरंगें चौतरफा हैं-

मनुष्य के जीवन की बुनियादी शर्त है-वरण की स्वतंत्रता, स्त्री के वरण की स्वतंत्रता का आशय अपने रुचि संस्कार के

अनुकूल जीवन साथी की तलाश और फिर उसका साहचर्य।

स्त्री मुक्ति के मसीहा डॉ. राममनोहर लोहिया ने समाजवाद की परिकल्पना में सप्तक्रांतियों का जिक्र करते हुए पहला सूत्र नर-नारी समानता का ही दिया था। जिस समाज में स्त्री-पुरुष को समान दर्जा घर से लेकर सड़क और सड़क से लेकर दफ्तर और देश की संसद तक न हासिल हो, वहाँ न समाजवाद आयेगा और न लोकतंत्र का विकास हो पायेगा। यह दुर्भाग्यपूर्ण सच्चाई है कि आजादी के इस 'अमृत महोत्सव' काल में भी स्त्री को वरण की स्वतंत्रता हासिल नहीं हो सकी है। फलत: आधी-आबादी की आजादी अधूरी है। भारतीय संविधान में स्त्री को पुरुष के समाज और जीवन में हर जगह बराबरी का हक दर्ज है पर जमीनी हकीकत कुछ और है। आज के जमाने में भी स्त्री को अपने जीवन में वरण की स्वतंत्रता हासिल नहीं है, आधुनिक काल में प्रेमचन्द्र जैनेन्द्र के जमाने से लेकर आज मंजूर एहतेशाम और उर्मिला शिरीष तक की कथा-कहानियों को बेमेल विवाह की ट्रेजडी से जूझना पड़ रहा है।

आज से सौ साल पहले प्रेमचन्द्र के सेवासदन उपन्यास में सुमन जैसी पढ़ी-लिखी अति सुन्दर, जैनेन्द्र की सुनीता, शेखर एक जीवनी की शशि, यशपाल की दिव्या, मंजूर एहतेशाम के सूखा बरगद उपन्यास की नायिका रशीदा और अब उर्मिला शिरीष के उपन्यास चाँद गवाह की नायिका दिशा को बेमेल विवाह की ट्रेजडी और प्रेम के अभाव से अगर गुजरना पड़ा है तो इसका सीधा कारण है कि हमारे समाज में लोकतंत्र के बावजूद स्त्री घर से लेकर समाज में दूसरे दर्जे की ही नागरिक है, उसे उतनी ही आजादी मिलेगी जितना उसका पति चाहेगा, उसे उतना ही प्रेम हासिल होगा जितना पति देना चाहेगा। जाहिर है जीवन में फैसले लेने का अधिकार स्त्री को हासिल नहीं है, इसलिये उपन्यास की नायिका दिशा को (पापा द्वारा) अचानक ही बिना हमसे पूछे एक जानवर आदमी (विजय) से हमारी शादी कर दी। शादी के बाद उस जानवर परिवार की सेवा करते रहे वो भी एक-दो साल नहीं पूरे बीस साल तक उन जानवरों और धूर्त लोगों को ढोया हमने? कोई टिका उस परिवार में, सब लड़कियाँ छोड़कर चली गयीं और हम बार-बार लौटकर भी वापस भेज दिये जाते थे। क्यों? जवाब है किसी के पास। उम्र तो निकल गई सपने तो छूट गये। शौक तो मिट्टी में मिल गये।' **(वही पृ. 10)**

सवाल यह है कि जिसे हम समाज का सामंत कहते हैं उसकी कहानी घर से शुरू नहीं होती है? गौर करें तो दिशा का पिता बेटी की इच्छाओं का सम्मान नहीं कर सका, फलत: इच्छा के विरुद्ध उसका विवाह एक दारुकट्टा और निठल्ले पड़े आदमी विजय से कर देता है। जीवन के शुरुआती दौर में दिशा पति की अमानवीय हरकतों को बरदाश्त करती रही लेकिन पच्चीस साल बाद वह उठकर खड़ी हो पति के जीवन से बगावत के लिये कृत संकल्प हो गयी। सवाल उठता है उसकी इस बगावत में किसने साथ दिया? और कितना साथ दिया? उपन्यास की कथा भूमि में यह मुद्दा खासतौर से विचारणीय है।

दिशा की नये जीवन की तलाश में पुराने जीवन से बगावत की जो कहानी है, उसमें दिलचस्प तथ्य यह है कि पुरुष समाज अर्थात् उसके पिता भाई के अलावा उसकी माँ, बहनें यहाँ तक कि दोनों बेटियाँ पारुल और निधि माँ से बगावत के रास्ते पर है, आखिर क्यों? पाठकों के लिये यह विचारणीय मुद्दा है। क्या स्त्री की मुक्ति में अन्य स्त्रियों की भूमिका दोषी नहीं है? सवाल उठता है कि दिशा के इस निर्णय से दोनों बेटियाँ माँ के साथ खड़ी क्यों नहीं हैं?

निधि के इस तर्क में कितना दम है कि 'पारुल और मैं क्या कम इंटेलीजेंट थीं, पर देखो न आज हम दोनों कहाँ हैं। हम चाहते थे कि पढ़ें, काम्पटीशन की तैयारी करें पर तुम दोनों के आपसी विवादों ने हम दोनों को खत्म कर दिया तभी। यह प्रकृति का नियम है कि जो चीज जितना ज्यादा बाधा बनती है, वह उतनी ही तेजी से छूट जाती है। आप हर रोज, हर शाम उसका रास्ता देखती हो। 'किसका' तुम जानती हो मैं किसकी बात कर रही हूँ। एक खुला आसमान तुम्हारे सामने है। हम दोनों हैं।' **(वही पृ. 92)**।

'केवल भी होने से तुम बड़ी नहीं हो जाती हो, तुम्हारे भीतर एक पुरानी सोचवाली माँ का वर्चस्व है। एक डरी हुई भी। एक डरी हुई पत्नी, एक डरी हुई प्रेमिका।' **(वही पृ. 92)**।

एक माँ के बारे में नयी पीढ़ी की बेटियों के सवाल कितने मौजूँ हैं, यह देखने की बात है, क्या इन सवालों से माँ और बेटियों के जीवन जीने के नजरिये, एक-दूसरे से नहीं टकरा रहे हैं? सवाल चाहे कुल की स्वतंत्रता का हो, प्रेम का हो या फिर सेक्स का, माँ और बेटियों का नजरिया अलग-अलग है। माँ निशा की नजर में संदीप से प्रेम' वह देह से परे, सब कुछ था, देह अलग हो जाती है, आत्मा नहीं 'मैं' या' 'वह' नहीं था, वहीं दूसरी ओर बेटी निधि का वक्तव्य गौरतलब है-'पारुल को देख लो, उसने जब चाहा, हसन के साथ रही। तुम रात-दिन चिन्ता में मरी जाती थी, रोती थी, वह मानी? नहीं न, वह तो हसन ही उसे छोड़कर चला गया, वरना कितना खुश रहती थी। छः महीने बाद उसके जीवन में प्रसून आ गया, अब वह उसके साथ रह रही है। क्या कर लिया तुमने, कभी तुमने उसको उदास देखा शिकायत करते देखा सुना। चरित्र के नाम पर कोई कुछ कह सकता है? नहीं, अब चरित्र की परिभाषा बदल गयी है। संबंधों का रूप बदल गया है। माँ हम लोग आज की लड़कियाँ हैं। हमारे लिए शादी की बाध्यता नहीं है।' **(वही पृ. 93)**।

कहना न होगा कि आज के परिदृश्य में निधि के ये सवाल और मूल्यांकन व्यक्तिगत स्तर पर लागू हो सकते हैं पर इसे स्त्री मुक्ति के द्वारा नहीं कह सकते हैं। प्रेम मनुष्यता का एक शाश्वत मूल्यबोध है, वह महज सुख शैया और सहवास भर नहीं है बल्कि अंततः 'स्व' का दूसरे के प्रति विलयन है, वह समर्पण से ज्यादा त्याग की फरमाइश करता है। कवि धूमिल ने ठीक कहा था 'प्रेम घनी आबादियों वाले शहर में मकान की तलाश है? जैसे सभी मकानों में हम रह नहीं सकते, उसी तरह हम सभी से प्रेम नहीं कर सकते। दरअसल प्रेम अकेले होने का एक ढंग है। उसमें घनत्व भी है पर उसकी महानता का अर्जन विस्तार में है। नयी पीढ़ी के लोग अगर प्रेम के बुनियादी मूल्यों और सराकारों से नावाकिफ हैं तो उन्हें खुले और बेबाक दिल-दिमाग से सोचने-समझने की जरूरत है। इसलिए उपन्यास में निधि और पारुल को निशा के प्रेम के 'अहसास' से जूझना ही पड़ेगा, अब यह अहसास नयी पीढ़ी को कैसे कराया जाये कि प्रेम 'यूरोपिया' भी है। कल्पना का ऐसा गणराज्य जहाँ एकांत में आत्माएँ निवास करती हैं। ऐसे ही मनोलोक के लोग एक-दूसरे को 'सोलमेट' बना सकते हैं इसलिये ऐसा प्रेम प्रायः आँखों के रास्ते प्रवेश करता है और जाँघों के रास्ते जल्दी ही फारिग हो जाता है। मार्क्स ने कहा था कि 'मैं उन कामरेडो से घृणा करता हूँ, जो सड़क से गुजरती हर पेटीकोट के पीछे भागते फिरते हैं। कहना चाहिये उपन्यासकार ने दो पीढ़ियों के बीच पनपने वाले प्रेम के आशय को बेलाग संवाद के जरिये खोलने की सार्थक कोशिश की है। पारुल की जिन्दगी में प्रेम वेटिंग रूम नहीं बल्कि वह सम्पूर्ण घर में निवास करने की परिकल्पना है। जरूरत इस बात की है कि आप अपने जीवन में प्रेम की इस विराट परिकल्पना को कितना साकार कर सकते हैं।

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है कि उपन्यास की केन्द्रीय थीम बेमेल विवाह है। इस बेमेल विवाह की ट्रेजडी से उबरने के लिये नायिका दिशा को पच्चीस साल का सफर तय करना पड़ा। जब जीवन में संजीव नाम के सामाजिक कार्यकर्ता से परिचय प्रगाढ़ता होता हुआ दिशा के दिल के बेहद करीब पहुँच गया। गौर करने की बात है कि दिशा ने संजीव को प्राप्त करने के लिये लाखों के बोल सुने। उसके मायके के लगभग सभी लोग उसके इस नये निर्णय के खिलाफ थे। दिशा के बड़े भाई ने जरूर समर्थन किया। मजे की बात यह है कि दिशा की दोनों बेटियाँ माँ से सिर्फ बगावत ही नहीं करती बल्कि उससे जिस तरह बेपर्दगी के साथ बदजुबानी करता है वह हैरतअंगेज है। लगता ही नहीं कि ये पढ़ी-लिखी लड़कियाँ हैं, कम से कम सभ्य समाज में नयी पीढ़ी की यह भाषा अपनी माँ के लिये शोभा नहीं देती, निधि का यह कथन अपनी माँ के लिए शोभा नहीं देती, निधि का यह कथन अपनी माँ से देखने योग्य

है- मैं तुम्हारी साइकोलॉजी को समझती हूँ। तुम एक दोगली मानसिकता वाली औरत हो . . . न प्यार न विराग यह कैसा दोहरा चरित्र है तुम्हारा . . . ' **(वही पृ. 92)**

सवाल उठता है कि क्या दिशा सचमुच जिंदगी के दोराहे पर खड़ी है? एक ओर अकमर्ण्य पति राजीव है तो दूसरी ओर उसका प्रेमी संदीप है, उपन्यास के अन्त में दिशा को छोड़कर राजीव अपने पिता के घर कभी न आने के लिये चला जाता है। दूसरी तरफ संदीप अपने नये अभियान में दिशा को छोड़कर दूर चला जाता है। वह फार्म-हाउस में अकेले रह जाती है। दोनों बेटियाँ पहले ही चली गयी हैं। ऐसे में दिशा का यह कथन वस्तुत: प्रेम में अकेले बच जाने की नियति का इजहार है- 'दीदी, यह मेरा चुना हुआ जीवन था। उसकी कीमत तो चुकानी ही पड़ेगी, सबको यह जीवन रास नहीं आता है। मैंने सबकी नजरों में गुनाह किया था। संदीप के साथ रहकर, पर आज सोचती हूँ, वही एक निर्णय मेरा सही निर्णय था, तब मैं समझ पायी थी कि संदीप मुझे क्यों अकेलेपन का आनंद उठाने की नसीहत देता था। वह दूरदर्शी था, उसने मेरा भविष्य देख लिया था' **(वही पृष्ठ 104)** उधर दिशा के नाम लिखे तीसरे पत्र में संदीप लिखते हैं-'मैं तुम्हें तुम्हारे परिवार से अलग नहीं करना चाहता हूँ। तुम्हारे परिवार को लगता है कि मैंने तुम्हें पति और रिश्तेदार से अलग कर दिया है, क्या तुम भी ऐसा सोचती हो? तुम्हारे मन में जरा भी क्लेश हो तो पुनर्विचार कर सकती हो। फिर वही वाक्य दोहराता हूँ। जीवन तुम्हारा है निर्णय तुम्हें लेना है . . . मैं तुम्हारे उस घर में जो कुछ भी करके, ठोकर लगाकर आया था, उसके पीछे एक ही मकसद था कि तुम उन्हीं की तरह अपने व्यक्तित्व को गढ़ो, विरल और विराट बनाओ।' **(वही पृ. 128)**

क्या प्रेम में विराट तक पहुँचने के लिए मनुष्य को अकेले हिमखण्ड की तरह गलना पड़ता है? क्या दिशा उसी दिशा की ओर अकेले नहीं बढ़ रही है? उपन्यास का अंतिम सच यही है।

'पूँजीवादी संस्कृति की यही खासियत होती है कि वहाँ पूँजी ही प्रधान होती है, रिश्ते-नाते, सम्बन्ध-उपयोगिता और अनुपयोगिता के सिद्धान्त पर टिके होते हैं। मानवीय भावनाएँ वही व्यर्थ होती हैं। सारी चीजें तभी तक प्रिय होती हैं, जब तक फायदे की होती हैं और उसमें विरोध के स्वर स्पष्ट सुनाई नहीं पड़ते और विविध प्रकार के शोषण चलते रहते हैं। न संजीव अपना भविष्य देख पाया था न उसके पिता वे दोनों झाँसे में आने वाले थे, उन्हें अपनी तीन लड़कियों की शादी करनी थी, दो भाइयों का कैरियर बनाना था। अपने भी सपने पूरे करने थे। आश्वासन दिये गये। स्वप्न दिखाये आने वाले भविष्य में उन्हें दूसरी दवाओं की फैक्ट्री खोलनी थी क्योंकि उन्हें अब संजीव नाम का घरेलू ईमानदार संकोची कोल्हू का बैल मिलने वाला था।' (खैरियत है हुजूर पृ. 38-39)

'खैरियत है हुजूर' उर्मिला शिरीष का संभवत: पहला उपन्यास है, जिसमें एक निम्नवित्तीय प्रतिभाशाली युवक संजीव की ट्रैजिक कहानी है, एम.बी.बी.एस. की मेडिकल डिग्री शुदा संजीव की चाहत है कि वह सरकारी डॉक्टर बन कर लोगों की सेवा करते हुए एक गरिमामय जीवन जीने का संकल्प ले। लेकिन उसके पिता एक व्यापारी परिवार में उसका विवाह कर उसे सरकारी नौकरी न करके व्यापार की दुनिया में अपने को कामयाब बनाने की प्रेरणा देते हैं। हार मानकर वह ससुराल के लोगों के साथ व्यवसाय में शरीक होता है, लेकिन जल्दी ही उसे अहसास होने लगा कि उसने एक गलत व्यवसाय चुन लिया है, जो उसके रुचि-संस्कार के विरुद्ध है, उसके साले खुद उसकी शिकायत बहन शुचिता अर्थात् उसकी पत्नी से आये दिन करने लगे। एक दिन ऐसा आता है जब उसे कम्पनी से निकाल दिया जाता है फिर वह अपनी एक अलग कम्पनी खोलकर मेडिकल उपकरणों की सप्लाई करने की कोशिश करता है, लेकिन सरकारी संस्थानों के मकड़जाल में वह फँस कर खुद विफल हो जाता है। बैंक के कर्ज में डूबा हुआ एक दिन संजीव एक फर्जी कारोबारी लोगों के समूह में घिर कर अपराध शाखा की पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर लिया जाता है। उसकी निचली अदालतों में जमानत खारिज हो जाती है फिर

वह बड़ी मुश्किल से तीन महीने बाद हाईकोर्ट से जमानत पाता है। उसकी पत्नी जो पेशे से बैंक में अफसर के पद पर तैनात है, बड़ी सूझबूझ के साथ उसे अपराध के कथित चुंगल से निकालने में कचहरी से लेकर जेल तक की दौड़ भाग अकेले दम पर करती है और अंतत: उसे हाईकोर्ट से सत्ताइस साल,चार महीने, अठारह दिन बाद बाइज्जत बरी कर सकने में सफल होती है।

देखा जाये तो उपन्यास की कुल कथा भूमि और मूल कथ्य इतना ही है, पर उपन्यास का उत्तरवर्ती प्लाट ज्यादा प्रभावशाली और रोमांचक और पठनीय दिखता है, जहाँ भारतीय जेलों का सजीव वर्णन एक डाक्यूमेट्री फिल्म की तरह किया गया है, जिससे कथाकार की वर्णन क्षमता की शक्ति का अंदाजा सहज ही पाठक लगा लेता है, जेल के भीतरी संसार के कई प्रसंग बेहद प्रभावशाली है, आमतौर पर जेल बाहर से अपराधियों को समाज से काटकर उसे सजा का प्रायश्चित करने के लिए जगह बनायी गयी है पर आज यह निर्मम सच्चाई हो गयी है कि असामाजिक लोगों के लिए जेल उस अभयारण्य की तरह हो गया है, जो जितना बड़ा अपराधी है, उसे जेल में उतनी बड़ी सुविधा मुहैया होती है। शराब से लेकर शबाब, मन चाहा भोजन से लेकर मनचाही सुविधा तक पैसे के बल पर जेलों में हर वक्त उपलब्ध है अर्थात् जेलों में पैसा फेंको तमाशा देखे रिपीटर के नाम आप सालों-साल मेडिकल कालेज में पड़े रह सकते हैं सिर्फ आपके पास पैसा खर्च करने की सामर्थ्य होनी चाहिये। उपन्यास में इस सच्चाई को बड़ी बेबाकी के साथ कथाकार ने दर्ज किया है। कुछ बानगी देखिए -

'संजीव ने अपने हाथ उसके बड़े-बड़े हाथों में रक्खे, छ: फीट का आदमी, अंदर से इतना भावुक, इतना निराश। संजीव ने उससे कहा सुरेश तुम्हें रोज मेरे पास अस्पताल में आना है। कल तो रविवार होने के कारण काफी समय तक पीछे बगीचे में बैठेंगे।' **(वही, पृ. 90)**

'भीतर से देखो तो उस दुनिया को वहाँ भी कई ऐसे इंसान हैं, जिन्हें दुनिया जघन्य अपराधी मानती है, वे भी कितने सहज, सरल, प्यार और अपनत्व के लिये तड़पते इंसान हैं, जिन्हें समाज से केवल घृणा मिली है और न्यायालय ने जिन्हें आजीवन कारावास दे दिया है।' **(वही, पृ. 90)**

'पहली बार पता चला कि जेल अपराधियों के लिए सुरक्षा स्थली थी, जिन्हें अपने विरोधी या दुश्मन या पुलिस से मारे जाने का भय होता था, वे छोटा-मोटा ताजा अपराध करके ज्यूडिशियल कस्टडी यानी कैंची बाजी जैसी घटना कर डालते, बिना रागद्वेष के केवल जेल में बने रहने के लिए'। **(वही पृ. 91)**

ये तो लग रहा था कि अस्सी प्रतिशत जो लोग यहाँ पर आ गये वे बहुत ही भावुक और अच्छे लोग हैं और भावावेश में किये गये अपराध की सजा काट रहे हैं और यही लोग जेल के सत्रह-अठारह सौ कैदियों को सँभाले हुए हैं। ये कैदियों को सँभालने वाले असली जेल की ताकत होते हैं, जिनका हुक्म और मर्जी चलती है। इनकी प्रतिदिन की आय पाँच सौ तक होती है। दो सौ रुपये तक बचाकर ये वहाँ के बड़े अधिकारियों की जेबों में पहुँचा देते। इनके साथ जो भी पंगा ले लेता उसका जेल में रहना दुश्वार हो जाता।' **(वही पृ. 95)**।

कहने की जरूरत नहीं है कि आज समाज में पैसे और बाहुबल की ताकत से राजनीति में पहले वोट फिर सत्ता हासिल की जाती है, उसी तरह पैसे के बल पर अपराधी न्याय पालिका से खरीद कर छुट्टे सांड की तरह समाज को चर रहे हैं। इस देश में हर सफल राजनीतिज्ञ के पास आज उसकी सफलता के पीछे अपराधियों का हाथ है। पुलिस खुद पैसे के बल पर अपराधियों को अभयदान दे चुकी है। राजनेताओं की क्रीतदास है, ऐसे में जेलों में सदाचार की जगह तलाश करना दूर की कौड़ी तलाशना है। उपन्यासकार की यह खूबी कही जायेगी कि उपन्यास में सामाजिक यथार्थ की छानबीन के साथ व्यवस्था में न्याय पालिका कार्यपालिका और जेलों के भीतरी संसार को अनावृत्त करने की सार्थक कोशिश की है, जिसे उपन्यास की कामयाबी कही जायेगी।

उर्मिला जी के इन दोनों उपन्यासों से गुजरते हुए पाठकों का ध्यान इस तथ्य की ओर पहले जाता है कि उर्मिला की औपन्यासिक संरचना में पात्रों के आपसी वार्तालाप का विशेष महत्व है। वे अक्सर पात्रों की से उपन्यास के भीतर की कथा को आगे ले जाती हैं। नैरेटर की भूमिका लगभग नहीं के बराबर निभाती हैं, पात्र ही दृश्यों, घटनाओं के गवाह बनकर पाठक को कथा का साझीदार बनाते हैं। यह कला उनकी कहानियों में ज्यादा प्रकट होती है। कई बार लगता है कि उनके उपन्यास उनकी समस्यामूलक कहानियों के ही विस्तार हैं। यह समस्या कई उपन्यासकारों के साथ है। कहानी लेखन के बाद उपन्यास लेखन के क्षेत्र में अपने को उतारा है। दूसरी बात यह है कि उपन्यास में ब्यौरों की उपस्थिति बेहद जरूरी उपकरण है। बिना ब्यौरे के आप कथा की बुनावट को विस्तार नहीं दे सकते। क्योंकि जो बातें आप आपसी संवाद के जरिये कहानी में कह देते हैं। वही बात उपन्यास में बिम्बों, प्रतीकों के माध्यम से बखूबी कहा जा सकता है। अगर आपने कथा को एक दम खोलकर पाठकों के सामने रख दिया तो फिर पाठक को खोजने के लिये क्या बचेगा? उर्मिला ने 'चाँद गवाह' उपन्यास में वातावरण और ब्यौरों का इस्तेमाल करके जंगल की निचाट खामोशी के बहाने से दिशा के भीतर के चल रहे खामोशी भरे हाहाकार उसके एकांकी जीवन को परिभाषित करने की सार्थक कोशिश की है, जो उपन्यास की पठनीयता को प्रभावी करता है जबकि उनके पहले उपन्यास 'खैरियत है हुजूर' में डिटेल्स के प्रयोग विरल हैं।

तीसरी बात यह है कि यह आमधारणा हो चली है कि केवल कविता विद्या को ही लय की जरूरत होती है। गद्य लेखन में नहीं, खासतौर से उपन्यास लेखन में इस्तेमाल गद्य में 'लय' को साधने की जरूरत है। गद्य की भाषा इकहरी नहीं बल्कि दूसरी होनी चाहिये। तभी लेखक को अपनी बात संकेतों, बिम्बों, उपमानों के माध्यम से कह पाने में आसानी होगी। चौथी बात यह कि हर लेखक को लिखने के पहले लिखने के कारण की शिनाख्त करनी चाहिए। उर्मिला की यह खूबी ही कही जायेगी कि वे अपनी कथा वस्तु के चुनाव के मामले में सर्वाधिक जागरूक और सामाजिक सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त दृष्टि सम्पन्न कथाकार हैं। कहानियों के कथावस्तु की विविधता की तरह उनकी औपन्यासिक दृष्टि में सामाजिक जागरूकता तथाकथित लेखिकाओं की रचना दृष्टि से ज्यादा पैनी और सशक्त है। अक्सर वे उपन्यास के कथ्य को पात्रों के जरिये दो टूक लहजे में सुना देती हैं। 'चाँद गवाह' की 'दिशा' की दिशा भ्रमित तो नहीं कही जा सकती। स्त्री विमर्श के पैरोकार इसे नारीवादी उपन्यास कह सकते हैं पर मैं इसे सामाजिक यथार्थ की एक अनूठी कृति मानता हूँ। जहाँ समाज बीती का तत्व आप बीती से ज्यादा मौजूँ हैं। कहना न होगा कि उर्मिला शिरीष समकालीन कथा संसार में स्त्री की नियति और उसकी मुक्ति के रास्तों और नजरिये से तलाशने की कोशिश करती हैं, इसलिये उन्हें स्त्री मुक्ति देह मुक्ति के बजाय आत्मा की मुक्ति का प्रश्न ज्यादा विचारणीय लगती है, जिसकी जड़ें आध्यात्मिक, आत्मिक नहीं बल्कि सामाजिक और आर्थिक कारणों से बहूमूल हैं, जैसा कि एक वार्तालाप में उन्होंने खुद कहा है-'लिखते वक्त स्त्री विमर्श-पुरुष विमर्श, कला-विमर्श जैसे विचार मन में नहीं रहते हैं न ही बनी बनायी थीम पर मैं कहानी लिख पाती हूँ। वह इत्तफाक है कि रिसर्च के लिए टॉपिक चुनते वक्त आपको भी कहानियों में स्त्री-विमर्श नाम का तत्व सर्वाधिक नजर आता है, शायद इसीलिए मेरी कहानियों में स्त्री-विमर्श नाम का तत्व सर्वाधिक नजर आता है, शायद इसीलिए मेरी कहानियाँ में स्त्री पात्र अधिक है। स्त्रियाँ जिन्हें आधी दुनिया कहा जाता है। और जिनका अस्तित्व, अस्मिता और जीवन आज भी सुरक्षित नहीं है, उनकी समस्याओं को उठाना उनके संघर्षों, उनके शोषण, उनकी इच्छाओं और उनके जीवन के बारे में लिखना क्या आज की आवश्यकता नहीं है? **(राग-भोपाली : अप्रैल 2022 में साक्षात्कार का एक अंक : पृ. 19)**

901, अमरावती निकुंज,
सिद्धार्थ इन्क्लेव, तारामंडल,
शहर : गोरखपुर-273017 (उ.प्र.)
मो. - 9415313214

जटिल यथार्थ का सुलझा शिल्प

-सूर्यकांत नागर

जन्म – 3 फरवरी 1933।
शिक्षा – एम.एससी., एल.एल.बी।
रचनाएँ – सत्रह पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – म.प्र. साहित्य परिषद के सुभद्राकुमारी सम्मान सहित अनेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित।

उर्मिला शिरीष चार दशकों से साहित्य के क्षेत्र में सक्रिय हैं। विशेषत: कहानी के क्षेत्र में। इस दौर में उनके डेढ़ दर्जन से अधिक कथा-संग्रह, तीन उपन्यास और इतर साहित्य प्रकाशित हो चुका है। लेखन उनके अंदर व्यसन की तरह है। लिखे बिना उन्हें चैन नहीं। सामाजिक विसंगतियों के प्रति अपने असंतोष और आक्रोश को दूसरों के साथ बाँटने की आदत-सी पड़ गई है। कुंअर बेचैन के शब्दों में-'मैं हूँ बेचैन/मुझे चैन की आदत नहीं/एक आदत-सी बन गई है यह/और आदत है कि जाती नहीं।' यह आदत प्रमादवश नहीं, सामाजिक सरोकारों और अंत:करण की आवाज की वजह से है। बेताबी इतनी कि अच्छी-खासी नौकरी से सेवानिवृत्ति लेकर पूरा समय साहित्य-सेवा को समर्पित कर दिया। स्वयं उर्मिला का कहना है कि लिखना उनके लिए मानसिक दबाव से गुजरना है। यह एक बेचैन कवायद है। लिखना उनके लिए दिन-प्रतिदिन अधिक कठिन और चुनौतीपूर्ण होता जा रहा है।

उर्मिला की रचनात्मकता से सन् 1983 से परिचित हूँ, जब उनका प्रथम कहानी संग्रह 'वे कौन थे' आया था। उसकी समीक्षा मैंने की थी। उसके बाद 'मुआवजा' (1985) की भी। तब वह उर्मिला शिरीष नहीं, उर्मिला गोस्वामी होती थीं। 'केंचुली' संग्रह आज भी मेरे पास सुरक्षित है। उर्मिला द्वारा संचालित संस्था 'स्पंदन' और गांधीनगर (गुजरात) के आर्ट सेंटर के कार्यक्रमों आदि में उनके साथ भागीदारी के अवसर जुटते रहे हैं।

उर्मिला की कहानियों के मूल में गहरे जीवनानुभव हैं। वह अपने अंदर एक विराट दुनिया समेटे हैं। वैसे भी रचना के मूल में कोई न कोई अनुभव होता है। चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष। इसीलिए जिंदगी के खोलते अनुभवों से युक्त उनकी कहानियाँ प्रामाणिक हैं। वे खुली आँखों आसपास की दुनिया को देखती हैं और काम की चीज़ को जज़्ब कर लेती हैं। चेहरे के अदृश्य शिलालेखों को पढ़ने की अद्भुत सामर्थ्य है उनमें। कहानियों में अनावश्यक बौद्धिक विमर्श या वाग्विलास नहीं है। न भाषा की पच्चिकारी। कला और यथार्थ के बीच समावेशी भाव है। उनके अनुसार कला की प्रमुखता कथ्य का क्षरण कर सकती है। चूँकि बचपन गाँवों में बीता है, कहानियों में लोक गहरे तक समाया है। बदलते गाँव और दूषित होती ग्राम्य-संस्कृति के प्रति उनकी चिंता वाजिब है।

उर्मिला जी की ज्यादातर कहानियाँ स्त्री-जीवन केन्द्रित हैं। स्वाभाविक है। रचनाकार का अपनी मूल प्रवृत्ति से विछिन्न हो पाना संभव नहीं होता। स्त्री होने के कारण नारी-जीवन के अनेक अनुभवों की जानकारी उन्हें है। स्त्री और पुरुष की संवेदना में अंतर है। जेंडर आधारित लेखन की समर्थक न होने के बावजूद मानती हैं कि महिला कथाकारों की रचनाओं में नारी-जीवन की अनुभूति अधिक घनीभूत होती है। विभिन्न

संग्रहों में संकलित कोशिश, शहर में अकेली लड़की, चौथी पगडंडी, चीख, हिसाब, मुआवजा, रंगमंच, वानप्रस्थ, शून्य, केंचुली आदि स्त्री जीवन की तीक्ष्णता, जटिलता और संघर्ष कहानियाँ हैं। 'लकीर' कहानी महिला की जिंदगी के महीन पक्ष को पाठक के समक्ष रखती है। कैसी विडम्बना कि विवाह के पूर्व ससुराल बेटी को पराया घर होता है और विवाह के पश्चात मायका पराया हो जाता है। माँ उसे परायी अमानत मानती है और सास परायी लड़की। आखिर लड़की का अपना कोई घर है भी या नहीं? इसी प्रकार ब्याह के बाद बेटी का प्यार बँट जाता है। पिता से बँटकर कुछ भाग पति के हिस्से में चला जाता है। कई बार पिता इस सहज बँटवारे को न समझ असहज हो जाता है। 'उसका अपना रास्ता' कहानी नारी-मुक्ति के मुद्दे को भिन्न नजरिए से देखती है। कुछ फैशनपरस्त नारियों ने नारी-मुक्ति को मुक्त नारी समझ लिया है, जबकि स्त्री-विमर्ष का मुद्दा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक गैरबराबरी से जुड़ा है। 'रंगमंच' में संग्रहीत 'चीख' बलात्कार की शिकार लड़की की मनोदशा और उसे लेकर समाज की सोच पर तल्ख टिप्पणी है। शहर में अकेली रह रही अविवाहित लड़की को समाज संदेह की नजर से देखता है और तरह-तरह के अनुमान लगाता है। लड़की का जीवन उसका अपना है, उसकी अपनी सोच है, पर लोग उसके एकाकी जीवन को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। उसके बारे में जानने को उत्सुक रहते हैं। उससे दोस्ती करना चाहते हैं। 'केंचुली' संग्रह में संग्रहीत छः कहानियाँ की सभी नायिकाएँ शिक्षित हैं। 'केंचुली' कहानी में अन्य समस्याओं के साथ भ्रूण हत्या की समस्या को उठाया गया है। भ्रूण-हत्या लड़की के जन्म को रोकने का जरिया बन गई है।

शिरीष की कहानियाँ एक तरह से प्रतिरोध की कहानियाँ हैं। लेकिन यह प्रतिरोध उग्र या विद्रोही नहीं है। ठंडे बलवे की तरह है। यह नहीं कि उर्मिला ने अपने लेखन को नारी-जीवन तक सीमित किया है। देश-काल की समय-संगत समस्याओं पर भी लेखनी चलाई है। जैसे बच्चों पर झूलाघर, दाखिला, सुपारी, वृद्धों पर बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु, हैसियत, वानप्रस्थ, किसानों पर कुर्की और बिवाइयाँ। बाजारवाद ने जीवन को किस तरह अपनी गिरफ्त में लिया है, इसका प्रभावी चित्रण 'निर्वासन' कहानी में हुआ है। 'असमाप्त' कहानी अन्य कई सामायिक विषयों के अतिरिक्त साम्प्रदायिकता के मुद्दे को समेटे है। शासन-तंत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार को उजागर करती कहानी 'लूप लाईन' उस वृत्ति को उजागर करती है, जिसके तहत कर्मचारी-अधिकारी उस विभाग या पोस्ट पर अपनी नियुक्ति चाहते हैं जहाँ ऊपरी कमाई के लिए पूरी गुंजाइश हो। सन् 2022 में ही उर्मिला के दो महत्त्वपूर्ण उपन्यास प्रकाशित हुए हैं -(एक)-कोई एक सपना, (दो)-'चाँद गवाह।' कोई एक सपना में उस युवा की पीड़ा का ब्यौरा है जो अपने सपनों को साकार करने के लिए संघर्षरत है। इस बहाने वहाँ सरकारी तंत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार की अभिव्यक्ति भी है। 'चाँद गवाह' में पीढ़ियों में उभरते मतभेद की चर्चा है। स्त्री के देह और प्रेम के रिश्तों को उकेरता यह उपन्यास पठनीय है। देह के साथ प्रेम हो, यह जरूरी नहीं, पर प्रेम के साथ देह के होने से इनकार नहीं किया जा सकता। मशीनी सेक्स में कोई रिश्ता नहीं होता। प्रेम के उदात्त रूप में तर्क और संदेह के लिए स्थान नहीं होता।

उर्मिला के पास सधी हुई, समुन्नत, प्रवाहमयी भाषा है जो लेखक और पाठक के बीच सेतु बनाती है। पाठक के साथ संवाद स्थापित करती है। उनकी शाब्दिक ऊर्जा उन्हें उनके काम में बहुत मदद करती है। जटिल यथार्थ को सुलझे शिल्प में प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता है उनमें!

'ज्ञानोदय'
81, बैराठी कालोनी नं.-2,
इंदौर-452014 (म.प्र.)

उर्मिला शिरीष की कहानियों में जीवन का वैविध्य

– आनंद कुमार सिंह

जन्म – फाल्गुन कृष्णचतुर्थी संवत 2024।
जन्मस्थान – लखनऊ (उ.प्र.)।
शिक्षा – एम.ए., डी.फिल।
रचनाएँ – छः पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – म.प्र. साहित्य अकादमी सहित अनेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित।

उर्मिला शिरीष हमारे समय की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कथाकार हैं जिन्होंने विगत तीस-चालीस सालों में अनेक स्मरणीय कहानियाँ लिखी हैं। उनके उठारह कहानी संकलन और तीन उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। यहाँ हम उनकी कहानियों की चर्चा करने जा रहे हैं। एक कहानीकार की प्रतिभा और उसके सामाजिक उन्मुखीकरण को समझने का एक ढंग यह भी है कि उसने अपने आसपास के जीवनबोध को कितने वृहत्तर आयामों में समेटा है और उसके साथ-साथ कहानीकला को किस तरह बरता है। उर्मिला जी की कहानियों में ये दोनों बातें दिखायी देती हैं। जीवन का गहरा अनुभव और उसे संप्रेषित करने की कला उनके यहाँ चुपचाप दिखायी देती है। उनकी कहानियाँ अलग से कुछ नहीं कहतीं। उनका उद्देश्य उनकी भीतरी बनावट में ही मौजूद है। इसका एक कारण यह भी है कि उनमें जीवन का वैविध्य अपनी पूरी ईमानदारी से अभिव्यक्त हुआ है। यह वैविध्य जीवन के अनेक प्रेमिल स्पन्दनों से होता हुआ कभी-कभी खुरदरे यथार्थ के कठोर तल पर भी आ विराजता है। यह उनकी रचना प्रक्रिया 'क्रियेटिव प्रोसेस' में साफ तौर पर दिखायी देता है। उनकी प्रारंभिक कहानियों में नितान्त निजी वैयक्तिक छवियाँ हैं जो 'शहर में अकेली लड़की' की सुरक्षित संघर्षगाथाओं में तब्दील होती रहती हैं। उनमें बेचैन करने वाली मनोवैज्ञानिक कुंठा, अवसाद और घुटन की तन्हाइयाँ हैं। वहाँ कथाओं के बयान कम और मानसिक दबाव अधिक है। कहानी को अनिवार्य रूप से उन दबावों, आग्रहों और तनावों से होकर गुजरना होता है। इस तरह की कहानियों में लेखक का 'क्रियेटर' उसकी रचना प्रक्रिया में कैद हो जाता है जिससे उसकी अपनी कला का निर्माण होता है। यह एक नितान्त अवचेतन प्रक्रिया है क्योंकि कथा रस कहाँ-कहाँ से होता हुआ रचनाकार के मन में प्रवेश करता है इसे स्पष्ट तौर पर कहा नहीं जा सकता। पुरानी शब्दावली में कहा जाये तो सौन्दर्यानुभूति का विशेष संयम ही कथानुभव की सृष्टि करता है।

उर्मिला शिरीष की सभी कहानियाँ सामान्यतया इस बात को बखूबी उजागर करती हैं कि अनुभव की पथरीली भूमि पर संवेदनागत दबाव किस तरह जीवन के समानान्तर जीवनानुभवों का एक विशिष्ट वातायन खोल देता है। कथा वैसे भी जीवन के समानान्तर जीवन के 'स्यात्' की ही कहानी है, प्रत्यक्षतः उसकी संभावना का भाषा में परोक्ष स्वीकार। दो-तीन दशकों के अन्तराल में फैले उर्मिला शिरीष के लेखन में कई मोड़ हैं लेकिन उनकी पहचान बनाने वाली सामग्री कमोबेश इसी शताब्दी के पहले दशक की है। असुरक्षा, हिंसा, आतंक, भयावह अकेलेपन और नैतिक संकटों का मुकाबला इसी दौर की कहानियों में है जिनके माध्यम से लेखिका इस यथार्थ का सामना करती हैं। संबंधों का टूटना ओर जुड़ना उनके यहाँ केन्द्रिकता में है जो कहानीकार का निजी 'स्पेस' है, वह उसी के माध्यम से मानवीय उष्मा को और उसके सभी रागों को बचना चाहती हैं। उनके यहाँ वर्णन भी है, विस्तार भी। किन्तु क्रूर अग्निरेखाओं के समानान्तर शुद्ध मानवता की लहर भी

है। शायद इस रूप में वह बिल्कुल अलग भी हैं। हाल-फिलहाल की कहानियों में उनकी सामाजिकता का प्रकाश एक नई जमीन पर फैला है। लेकिन, उनमें तथ्यों की सच्चाइयों से अधिक निजी संवेदनाओं पर ही जोर है। यह उनकी कहानियों को प्रासंगिक और विश्वसनीय बनाता है।

उर्मिला शिरीष की प्रारंभिक कहानियों में समाज को बदलने की 'पोलिटिकल' बेचैनी नहीं है, लेकिन संवेदनागत बदलाव का त्रासद अंकन जगह-जगह दिखायी है। वहाँ मनुष्यता का मर्म धीरे-धीरे क्षरणशील वस्तुओं में 'रिड्यूस' होता जाता है। आदमी का कद हर जगह नपता हुआ दिखाई देता है। जगह-जगह उसकी सदाचार की कलई खुलती दिखायी देती है। इस तल पर उर्मिला जी की कहानियों में जैनेन्द्री भावुकता भी दिखायी देती है। यह सब कुछ को ग्रसने वाली भावुकता है जो कभी-कभी कलात्मक संयम और धैर्य को भी ग्रस लेती है। कभी-कभी यह प्रक्रिया कहानी के 'स्यात्' को कुछ इतनी दूर तक भी खींच देती है कि उसकी उपलब्धियाँ असावधान कला का उदाहरण भी बन जाती हैं। जहाँ कथ्य का संघटन अनुपात में अँट गया है वहाँ पर कहानी को अपनी भाषा मिल गयी दिखती है। यथार्थ बोध के स्तर पर इन कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन का तान-वितान है, मूल्यों का संकट और प्रतिदान की आशा-आकांक्षा है। स्वयं लेखक का जीवन-बोध भी कुछ-कुछ उसी के समानान्तर उभरता दीख पड़ता है।

इस दृष्टि से उर्मिला शिरीष की महत्त्वपूर्ण कहानियाँ उसी दौर की उपज जान पड़ती हैं जिसमें विश्वस्तर पर 1989-90 के दशक में विचारधारा का संकट पैदा होता है। फ्रैंसिस फुकुयामा ने इस दौर को इतिहास के अंत के रूप में देखा है क्योंकि उदार प्रजातांत्रिक मॉडल वाले 'अंतिम मनुष्य' के विद्यमान होने की संभावना दिखायी देने लगी है। इतिहास के अंत होने की महागाथाओं के समय जब पूँजीवाद अपने नए विमर्शकार पैदा करता है, वहाँ पर शीतयुद्ध के दौर की आँख-मिचौली अब निर्णायक रूप से आसन जमा कर बैठ गयी है। अब विचारधारात्मक आत्मसंघर्ष की आवश्यकता ही नहीं, मानो पूँजीवाद ने निर्णायक लड़ाई जीत ली हो! अब पूरी दुनिया में एकछत्र अमरीकी बाजारवाद की गूँज है, अस्त्र-शस्त्रों की होड़ है, कॉस्मेटिक्स से लदे हुए विश्व-बाजार हैं, ब्रह्मांड सुन्दरियाँ हैं और विज्ञापन ही एकमात्र आत्मिक अभिव्यक्ति की महानतम शैली है।

उर्मिला शिरीष की कहानियों में मुक्त बाजार व्यवस्था के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले मध्यवर्गीय स्वप्न और उसके उड़ जाने का दर्द अपनी समग्रता में सामने आता है। 'उसका अपना रास्ता' कहानी की वृन्दा और 'पापेट शो' की फौजिया इसी दौर की स्वतन्त्रता कामी लड़कियाँ हैं जो अपनी जिन्दगी को खुद रचना चाहती हैं लेकिन इस प्रक्रिया में अपने स्वत्व को बचाये नहीं रख पातीं। पीढ़ियों का द्वन्द्व हो या जीवन की नाटकीय यातनाएँ सब मिलकर उस समय के यथार्थ को खोलकर रख देती हैं। व्यक्ति और समाज के बदलते रिश्ते इस समय की कड़वी सच्चाइयों को कैद किये हुए हैं जिनमें आर्थिक मजबूरियाँ सम्वेदना की निर्मम कड़वाहटें बनकर प्रकट होती हैं। मुक्त अर्थव्यवस्था के कारण सामाजिक वृत्तियाँ अधिक स्वतन्त्रता चाहती हैं। खुलापन और बंधनहीन बेबाकियाँ नई बाजार व्यवस्था की बढ़ती हुई शक्ति हैं। उनके पीछे एक चालाक और धूर्त निगम सर्वत्र उपस्थित है, कुछ-कुछ ईश्वर की तरह प्रच्छन्न और शक्तिमान। वह सर्वग्रासी है, अनिवार भोग उसकी प्रवृत्ति है। संसार की समस्त वस्तुएँ उसी एक के उपभोग के लिये ही जान पड़ती हैं।

उर्मिला जी की कहानियों को पढ़ते हुए इस विराट सर्वान्तर्यामी 'शक्तिमान' की नेपथ्य में उपस्थिति दिख जाती है। तब यह ख्याल भी आता है कि इस सबके बीच कोई और भी कोमल अर्थ है या कि जितना अभिधा में कहा गया या कि जितना पर्दे पर दिखलाया गया उसके पीछे भी कोई पीछे छूट गया जरूरी विचार है। जिसे बार-बार कहने की गरज से उदय प्रकाश

साफ-साफ कहानियों में 'इंटर रिलेट' करते हैं जो कहानी के बाहर से कहानी को निर्देशन देता सा लगता है वह उर्मिला जी के यहाँ नहीं है। वहाँ पर इस भयानक सभ्यता के थपेड़ों से आहत एक निर्वासित मन है जो कहीं एकान्त में पड़ा अपनी लाचारी को चुपचाप स्वीकार कर लेता है। वहाँ प्रतिशोध की धधकती ज्वालाएँ नहीं हैं, अपनी बेबसी को शान्त भाव से अपनी नियति मान लेने वाला तड़पता संवेदन यन्त्र है। वह भी मनुष्य से 'थिंग' या 'आब्जेक्ट' में विरूपित हुआ है किन्तु उसमें अपने वर्ग का बोध नहीं है। वह तो अपने आप में ही एक वर्ग या 'क्लास' नजर आता है।

इसलिये उर्मिला जी के पात्रों में 'आइडियोलॉजिकल कन्सटेंण्ट्स' वैचारिक अवरोध नजर नहीं आते, लेकिन उनके सभी पात्र सम्बंधों की महामारी से ग्रस्त हैं। संवेदना के उचाट बियाबान में पीछे छूट जाने वाले, निर्वासित, महरूम और वंचित पात्र जो उनके सभी कहानी संग्रहों में कमोबेश दिखायी देते हैं इसी अवरोध के शिकार हैं। यहाँ पर अवरोधों का सरलीकरण स्थितियों की असहायता, दयनीयता और निर्ममता के दायरे में होता है जहाँ बच्चों के पास अपने बूढ़े माता-पिताओं को रखने की जगह नहीं है-'दहलीज पर' कहानी में निर्वासित यथार्थ कुछ इस तरह अभिव्यक्त हुआ है-'लोग बताते हैं कि जब उसके पिता मरे तो दुकानों से खाने के लिये कुछ माँग रहे थे। उन्हें टी.बी. हो गयी थी और घरवालों ने उन्हें निकाल दिया था। सड़क पर ही वे मृत मिले थे। उसे कभी दु:ख नहीं होता क्योंकि उसने पिता का कभी चेहरा नहीं देखा था।' इसी कहानी में व्यक्त हुआ है एक और स्तर-'मेहमान आ रहे हैं और माँ की शादी हो रही थी। मगर माँ के चेहरे पर दु:ख या शर्म नहीं, खुशी थी। माँ उसे छोड़कर चली जायेगी, किसी और घर में, यही सोच कर वह बेचैन और दु:खी हो रहा था 'दहलीज पर। जुड़े हुए हाथ' कहानी में कपड़े धोने वाली बाई के पति को 'शहर में काफी खाली भटकने के बाद एक फैक्टरी में मशीनों को साफ करने का काम मिला था। लेकिन मशीनों की सफाई करते हुए उसकी सारी अँगुलियाँ कट गयी थीं। तब एक हाथ से बेकार वह कलपता रहता था। 'बाई कपड़े धोने की मशीन आने से परेशान है। वह अपनी मालकिन को हाथ से कपड़े धुलवाने के लाभ गिनाती है। लेकिन 'उन्हें बाई की बात की परवाह कहाँ। वह तो अपनी ही रौ में कहे जा रही थीं। उन्होंने उसके चेहरे पर बदलते उड़ते रंगों को देखा ही नहीं। उन्होंने देखा ही नहीं कि बाई का चेहरा धरती बन चुका था और आसमान में उमड़ते-घुमड़ते बादलों की छायाएँ उसके पिचके चेहरे पर सघन होने लगी थीं।'

कहानी की शुरुआत ही होती है-'अनायास ही उनके पाँव स्टेशन की तरफ मुड़ गये। हाथ में एक थैला है और मन में अथाह बोझ। विशाद और क्षोभ की भावना! कितनी तरह की आवाजें मस्तिष्क में टकरा रही हैं परस्पर-चलो! चलो! दूर! यहाँ से दूर! कभी नहीं लौटेंगे। पता भी नहीं चलेगा कि कहाँ आकर, मेरे अपना कोई नहीं है, यहाँ पर! सब पराये हैं। कोई नहीं पूछता। फिर किसके लिये करते रहे इतना परिश्रम! किसके लिये सपने देखते थे और किसके लिये भागे-भागे आते थे यहाँ! किसके लिये मन्नते माँगने जाते थे और महज-सपने में कुछ बुरा दिखने पर रात-रात भर जागते रहते थे।' आत्महत्या करने का मन बनाये यह बुजुर्ग व्यक्ति धीरे-धीरे पारिवारिक स्मृतियों से घायल होता जाता है और फिर लौट कर उसी घर में अपनी हैसियत का अर्थ पाता है। 'प्रतीक्षा' कहानी में बच्चों से पराजित दम्पति हैं एकाकी। 'आजकल के बच्चे अपना पहले देखते हैं। अपना कैरियर, अपनी गृहस्थी। अपने बच्चों और बीवी का आराम।' 'आजकल पता नहीं क्यों बात-बात पर आँखें भर आती हैं। शायद यही सृष्टि का नियम है कि एक दिन जन्म देने वाला पार्श्व में चला जाता है।'

कहानी में-'ऐ भाई, चार पैसे दे दो। बूढ़ा भूखा है, खाना खायेगा, भूखा है। ऐ बहन जी, पैसा दे दो।' शब्दों को फेंकती, शोर मचाती-सबका ध्यान आकर्षित करती आवाजों में से यही एक आवाज उसकी चेतना पर गहरी चोट कर रही है'। 'दस वर्ष से ज्यादा हो गये हैं उस घटना को, जब वह छोड़

कर चले गये थे। आत्मनिर्वासन नहीं था वह, निकेत निर्वासन था। मोहभंग की अथाह वेदना रही होगी या उससे भी ज्यादा मन को पराजित करने वाली यन्त्रणा!' उर्मिला शिरीष की इन कहानियों में विचित्र बेबसी और एकान्त है–'अब वह बिना पंखों के थे। आसमान काला था। धरती काँटों भरी। पाँवों में छाले पड़ गये थे और हृदय में फफोले। दुर्दैव की ऐसी मार। उसके देखते ही देखते लोहा, लक्कड़, सोना–चाँदी जो कुछ शेष था सो बेच–बाच कर एक कोने में छिपे, डरे हुए बच्चे की तरह बैठे रहने लगे थे एकान्त में।'– **(निर्वासन)**

उर्मिला जी की इस कहानी में निर्मल वर्मा की तरह की असंगता और तटस्थता दिखायी देती है किन्तु संवेदना के धरातल पर है वह बहुत ही अलग। घर का बुजुर्ग उपेक्षित होकर आत्म–निर्वासन भोग रहा है–'कई बार ऐसा होता था कि वह बिना बताये कहीं भी चले जाते थे। ऐसा करके वह स्वयं को कष्ट दे रहे थे, तब वह इस मनोविज्ञान को पकड़ नहीं पाता था। उनके न आने पर सब सोच ही लेते थे कि आ ही जायेंगे। रात में कोई उन्हें देखने नहीं जाता था। न किसी को उनके खाने की परवाह रहती थी। इस तरह की घटनाएँ आम तथा प्रभावहीन हो गयी थीं। फिर पता नहीं वह कहाँ चले गये थे।'

– **(निर्वासन)**

उर्मिला शिरीष के यहाँ 'निष्कासन' और 'निर्वासन' केन्द्रीय थीम की तरह प्रयुक्त हुए हैं। कहानी में निष्कासित बुआ हैं–'बुआ शब्द उचारते ही सब चुप्पी साध लेते थे या उठ कर चल देते थे। इसी घर में जन्मी अपनी कामनाओं और सपनों के साथ बड़ी हुई बुआ, जिनका बचपन और सुन्दर–युवावस्था इन्हीं अमरूद के पेड़ों के नीचे खेलते–खाते, घूमते–झूलते और अँगड़ाई लेते बीता था। यहाँ की मिट्टी में, फूलों, पेड़ों, बर्तनों और दीवारों में, बुआ के रंग–पसन्द–स्पर्श घुले थे। बड़ी बुआ एकाएक इस घर से ही नहीं–सबकी जुबान से ऐसे छिटका दी गयी थीं जैसे दूध में से मरी, पिचकी मक्खी को निकाल कर फेंक दिया जाता है। दुनिया की तमाम बुआएँ इसी रिश्ते के नाते निष्कासित कर दी गयी थीं।' 'धरोहर' कहानी में मनुष्यता का दर्द बड़ी शिद्दत से बाहर आता है–'उसे पहली बार महसूस हुआ कि उसने इस दुनिया और इस जिन्दगी के बारे में क्यों नहीं सोचा! क्यों नहीं उसने सोचा कि देवत्व तथा महानता के पीछे भी मनुष्यत्व की सामान्य–सी लगने वाली भयावह पीर छिपी हो सकती है।'

अक्सर कहानी के पात्रों में अपनी निर्वासित नियति का स्वीकार है। कहीं अनाथ बेसहारा बूढ़े हैं, कहीं एकान्त भोगते अधेड़ दंपत्ति, कहीं बलात्कार की शिकार लगभग अनाथ हो गयी लड़की। 'चीख'।

कहीं अकेले सोचने वाले लोग, कहीं अकेला कवि जिसकी उपेक्षित मृत्यु पर कोई शोक भी मनाने वाला नहीं है। साहित्यिक समाज की इस बेरूखी से उर्मिला जी ठीक से परिचित हैं–'उसके बाद न कवि की पुण्यतिथि मनायी गयी, न उनकी कविताओं पर चर्चा हुई और न ही कोई अन्य आयोजन। कभी–कभार कोई संपादक उनकी कविता छाप देता। अपने जीवन काल में असंख्य दु:खों, अवसादों अपार निराशाओं से व्यथित कवि का परिवार उनकी मृत्यु के पश्चात् पूरी तरह से सुखी और निरंतर समृद्ध होता गया था। अब यह तय कर पाना मुश्किल है कि दु:ख तथा अवसाद कवि के द्वारा पैदा करके फैलाये गये थे या कवि ही दु:खों में जीने का अभ्यस्त था या वास्तव में उसके भीतर बैठी महान आत्मा अपने ही साहित्यिक समाज के लोगों द्वारा उपेक्षित होकर...दु:ख के अन्तर्लोक में डूबकर...अनंत यात्रा पर चली गयी थी।'

ऐसा नहीं कि केवल निर्वासन की थीम ही उर्मिला शिरीष की पहचान है। उनके यहाँ सर्जनात्मक अनुभवों की लम्बी फेहरिस्त है जो रोजनामचे की उबाऊ ए जिन्दगी से प्रारंभ होकर संबंधों के असंख्य बिम्बों के घने धुँधलके तक फैलती जाती है। उनके यहाँ प्रेम के अनूठे अनुभवों की कहानियाँ हैं जो अधेड़ मनोविज्ञान के सूखते तटबंधों को भी अपनी संवेदना में लपेट

लेती हैं। मौन प्रेम की व्यथा जो मरते हुए प्रेमी की स्मृति में घर कर गयी है-'अभी सपने में दिखी थीं। वही वर्षों पुराना चेहरा। जब मैं जाता था और वो सामने आकर खड़ी हो जाती थीं। खयालों से जाती ही नहीं हैं, बुला रही हैं या तकलीफ में हैं।'

विषय के अनुरूप भाषा का कोमल और मद्धिम स्वर विन्यस्त हुआ है-'सीमा को लगा कोई ऐसा तार टूट रहा है जिससे वह गहरे तक जुड़ गयी थीं। हृदय गहन पीड़ा में डूब गया। अपनी सखी से दूर होने की वेदना समा गयी थी या जयन्त से न मिल पाने की तड़प। बिस्तर पर लेटे-लेटे वह कभी अम्बिका को देखती तो कभी सितारे जड़ित आकाश में लुक-छिप करते चेहरे को ढूँढ़ रही थी। मौन अँधेरे में डूबा कॉरीडोर।' इसी कहानी में कहीं-कहीं ऐसे वाक्य भी हैं-'जीवन में हम जिनको बहुत प्यार करते हैं वो अक्सर दूर चले जाते हैं, परिस्थितियों के बहाने या भाग्य के कारण।' एक और कहानी 'मन न भए दस बीस' की तनु अपने विवाह से नाखुश अपने पति के साथ अमेरिका नहीं जाना चाहती। विवाह पूर्व प्रेम की स्मृतियों से चालित तन और मन से थकी हुई-'उसका हृदय चट्टानों की तरह धसकता जा रहा था। आज जिस जगमगाहट के लिये हिन्दुस्तान का सारा युवा वर्ग पागल हो गया है। उस वक्त उसके मन में कोई उत्साह नहीं था।' और प्रेमी के आने की 'प्रतीक्षा की घड़ियाँ भारी तथा लंबी होती जा रही थीं। रात अँधेरी थी और उसका मन भी अंधकार में डूबा था। इधर ओस गिर रही थी उधर उसके आँसू। चारों तरफ नीरवता थी। उसके हृदय में गहरा निशब्द विषाद। हवाओं ने उसके कानों को थपथपाना शुरू कर दिया।' किताबों की दुकान पर मिलने वाले सलिल और पाती के भीतर भावनाओं का संसार कुछ इस तरह आकार लेता है-'रास्ते हैं, खुलते हुए! रास्ते हैं आमंत्रण देते हुए! रास्ते हैं भटकाते हुए! रास्ते हैं कैद करते हुए! निर्विकार इच्छाएँ जमीन की तलाश में चिड़िया की तरह उड़ने लगी हैं। भूख बढ़ती जा रही है। जब कोपल फूटती है तो उसे भी तो धूप, हवा, तफ़ान को झेलना होता है तब कहीं जाकर वह पत्ती या शाख बन पाती है।' **(मुआवजा)**।

यहाँ उर्मिला शिरीष प्रेम को एक भिन्न संवेदना के कोण से आविष्कृत भी करना चाहती हैं। यहाँ प्रेम सतही विवरणों का आख्यान न होकर अनुभव का अन्तर्लोक निर्मित करता है। आशय और अभिव्यक्ति दोनों ही कोणों से कहानीकार के रचना विधान में अनुभव का वैशिष्ट्य समाया हुआ है। इनके प्रेम पात्रों में प्रेमोन्मत्त व्यवहार नहीं दिखता बल्कि हार्दिक आवेश का नि:शब्द भावोच्छवास ही अधिक सुन पड़ता है। अक्सर इनकी कहानियों में नेचुरल लय का अद्भुत विन्यास छिपा रहता है जो अनुभवों को अतीन्द्रिय आभा से मंडित करता है। उनके पात्रों की सभी भावनाएँ उसी प्राकृतिक लय में अपने आप विन्यस्त हो जाती हैं। यह इनकी कला की सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है। पात्रों के भावात्मक संस्पर्श अपने अवसाद और अकेलेपन को ही नहीं अपनी दुविधा और बिगूचन को भी उसी कोमलता से प्राकृतिक अनुभवों या टुकड़ों में पर्यवसित कर देते हैं। वहाँ कहानियाँ लिरिकल और स्वचेत रंगत में जीवन का मार्मिक छन्द बन कर पाठक की चेतना पर छा जाती हैं। निर्मल वर्मा सरीखे लयात्मक आवेशों वाला गद्य कौंधने लगता है। यह एक प्रकार की ऐन्द्रिक चेतना है जो प्राकृतिक व्यापार से खुदबखुद जुड़ जाती है। यहाँ पर कहानी सीधे 'समय' को उसके यथार्थ वाले चौखटे से बाहर के समय में उछाल देती है।

यों तो उर्मिला शिरीष के अनेक कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें प्रकाशित कहानियों की चर्चा की गयी। लेकिन दो संग्रह प्रकाशित 2011 तथा प्रकाशित 2012 इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं कि इनमें व्यक्त होने वाला यथार्थ समय के चौखटे से बाहर नहीं बल्कि अपनी विचारधारा को कुछ-कुछ अर्जित करता हुआ लगता है। किसी रचनाकार के लिये यही सही रास्ता भी है। वह आइडियोलोजी से सम्वेदना की ओर नहीं बल्कि संवेदना से आइडियोलोजी की ओर गमन करता हुआ दिखे तभी उसे प्रामाणिक भी मानना चाहिए। उसके

कलात्मक अनुभव में ही कुछ सूत्र मिलने चाहिए जिससे वह तीखे यथार्थ का 'ट्रीटमेंट' कर सके। इन दोनों संग्रहों से उर्मिला जी की कहानी का प्रवाह अधिक स्पष्ट और एक नया मोड़ लिये हुए दिखता है। कहानी जितनी ही संप्रेषणक्षम हुई है वह उतनी ही कला के निकट भी गयी है। इस दृष्टि से दो कहानियों पर ध्यान दिया जाना जरूरी लगता है। एक है 'लकीर तथा अन्य कहानियाँ' में प्रकाशित और दूसरी है 'असमाप्त' 'कुर्की और अन्य कहानियाँ' में प्रकाशित। दोनों कहानियाँ अत्यन्त निकट के भयावह यथार्थ से सीधी मुठभेड़ करना चाहती हैं।

पहली कहानी में साम्प्रादायिक दंगों का मारा एक शहर है जिसकी सर्वधर्म समभाव वाली फिजा बदल गयी है। घोर साम्प्रदायिक दबावों से सड़क के दोनों ओर रहने वाली कौमें अलग-अलग हो गयी हैं। दंगों की मार से आहत 'खौफ के मंजर से सहमे हुए अपनों को खो चुके जिन्दा जला दिये गये लोगों के परिवार वाले और जिनके घर घनी बस्तियों में जला दिये गये थे दुकानें फूँक दी गयीं थीं और जो अब पूरी तरह से जीविका के साधनों से वंचित कर दिये गये थे जिनके पास दो वक्त क्या एक वक्त खाने के लिये दाना नहीं बचा था। ऐसे ही लोगों ने वहाँ उस नजूल की जमीन पर शरण ली थी और अपनी छोटी सी बस्ती बसा ली थी।' इस बस्ती का नाम रखा गया है-'हजरत निजामुद्दीन कालोनी'। लेकिन इस बस्ती में 'अब चिरंतन संबंधों में प्रेम की जगह घृणा थी, विश्वास की जगह अविश्वास, अपनत्व की जगह परायापन। यादें ऐसी कड़वी कि छाती में कटार भोंक दें और बातें ऐसी कि खून की धार बहा दें। तो ये लोग कोई और नहीं अपनों के द्वारा अपनों के बीच से भगाये गये लोग थे।' (पृ. 97)। धीरे-धीरे इस 'बस्ती में जीवन अपनी पाँखें खोलने लगा, लेकिन न तो वहाँ कोई ठेले वाला आता था और न ही चक्कीवाला। न सब्जी वाला न किराने की दुकान थी। हफ्ते के हफ्ते बस्ती वाले मंडी जाते और गाँव से आने वाली गाड़ियों से गल्ला खरीदकर ले आते।'

एक दिन अचानक शहरी वैमनस्यता को चुनौती देता एक ग्रामीण रामरतन बैलगाड़ी पर गेहूँ लादे मुसलमानों की इस बस्ती में प्रवेश कर जाता है। उसे गेहूँ बेचने की चिन्ता है क्योंकि सोसायटी से कर्ज लेकर रामरतन ने गेहूँ बोया था। गेहूँ बेच कर कर्ज पटाना था। लेकिन बाजार में भाव गिरने के कारण उसका गेहूँ नहीं बिक पा रहा था। भारी मन से उदास वह लौट रहा है निजामुद्दीन कालोनी में जा पहुँचता है। लोगों ने डराया भी कि उस बस्ती में न जाये लेकिन वह समझ नहीं पाता है कि-'आखिर वहाँ जाने में हर्ज क्या? जहाँ लोग रहेंगे वहाँ अनाज और सब्जियाँ तो खपेंगी ही और फिर बेचने और खरीदने वालों की कोई जाति और धर्म तो होता नहीं। अरे, बाजार का क्या धर्म? खरीदने के लिये तो पैसा भर चाहिए।' (पृ. 99)।

एकदिन वहाँ उसकी दुकान बन जाती है। कुछ लोग विरोध भी करते हैं। बदला लेना चाहते हैं उसकी दुकान भी जला देते हैं किन्तु परिस्थितियों की असहायता के आगे सब लाचार उसे बर्दाश्त कर लेते हैं। एक दिन वही रामरतन उनकी जरूरतों का हिस्सा बन कर वहाँ का पार्षद बन जाता है। कथानायक एक अर्से बाद उस बस्ती में जाता है और उसे यह पता चलता है- यही सच के आगे का सच है। इस कहानी में आज का यथार्थ आदर्शवादी रंग में चित्रित है इसलिए वह जरा कम फबता है। कहानी कुल मिलाकर अपनी रचनात्मक प्रक्रिया में अन्तर्विरोध का दंश उभारती है किन्तु अपनी व्याप्ति में समझौतावादी जान पड़ती है। यह उसकी रचना प्रक्रिया से ही स्पष्ट हो जाता है।

दूसरी कहानी 'असमाप्त' एक ट्रक ड्राइवर हामिद लँगड़ा की कहानी है जो मक्सी के स्टेशन से किसी लावारिस बच्चे को घर लाकर पालता-पोसता है। उसका नाम है-प्रिंस। कहानी के पूर्वार्द्ध में हामिद बहुत क्रूर और असभ्य दिखता है जो बात की बात में प्रिंस की माँ-बहन करता रहता है। प्रिंस हिन्दू लड़का है जिसका दुनिया में कोई नहीं है। हामिद ही उसका

अब्बा है। दो जून की रोटी उसी के कारण मिलती है इसलिये लगातार गालियाँ खाकर भी रह लेता है। ब्यावरा-राजगढ़ राजमार्ग पर हवा भरने और पंक्चर बनाने की हामिद की दुकान है जो आने-जाने वाले ट्रक ड्राइवरों के लिये किसी सराय से कम नहीं है। वहीं पर प्रिंस काम करता है। हामिद की पत्नी फरीदा प्रिंस को बहुत प्यार करती है। वह किसी लाइलाज बीमार से ग्रस्त होकर मर जाती है। हाफिज साहब के कहने से हामिद लँगड़ा अपने से बहुत छोटी लड़की रिजवाना से दूसरी शादी कर लेता है जिसके सामने वह शारीरिक रूप से अपंग साबित होता है। वह कुंठित हो जाती है।

इधर हामिद लँगड़ा दीनी तालीम की ओर अभिमुख होने लगता है, उसको रिजवाना की हँसी-खुशी भी भाती नहीं। वह धीरे-धीरे एक श्रद्धालु मुसलमान के रूप में बदल रहा है। घर से अक्सर बाहर जमात में शामिल होने लगता है और कभी-कभी कई महीनों बाद घर आता है। उनकी अनुपस्थिति में रिजवाना और प्रिंस में शारीरिक संबंध हो जाता है और घर से बाहर लोगों की कानाफूसी का विषय भी बन जाता है। प्रतीत होता है कि इस बात की खबर हामिद लँगड़ा को भी है। लेकिन किसी के द्वारा मजाक करने पर भी वह अपार धैर्य का परिचय देता है। उसमें सचमुच ही एक रूपान्तरण घटित हो रहा है। प्रिंस के संबंध से रिजवाना माँ बनने वाली है और लोग हामिद को बधाई भी देते हैं जिसमें व्यंग्य का स्वर ही प्रमुख है तो भी हामिद लँगड़ा चुपचाप स्वीकार कर लेता है। अचानक एक बार हमेशा की तरह जमात जाकर वह नहीं लौटता बल्कि किसी आतंकवादी गिरोह में शामिल हो जाता है। इसका पता प्रिंस को बहुत दिनों बाद चलता है। हामिद के जाने के तीन-चार साल बाद किसी सांप्रदायिक दंगे में रिजवाना और उसके बच्चे को दंगाई जिन्दा जला देते हैं। वह एक दिन अपने अकेलेपन में टीवी देखते हुए किसी भयानक विस्फोटक हादसे के मास्टर माइंड के रूप में अपने अब्बा को देख कर बिफर उठता है।

प्रश्न है कि हामिद ऐसा क्यों करता है? यदि उसने रिजवाना और प्रिंस के संबंध को जान लिया तो विरोध क्यों नहीं करता? क्यों वह चुपचाप विरक्त होता जाता है और एक आतंकवादी गिरोह का सदस्य बन जाता है? उसमें 'रिएक्शन' की भावना इस कदर विलगाव 'सेंस आफ एलियनेशन' पैदा करती है कि वह तीव्र अनुभवों के परिमार्जन में इस्लामिक राज्य को बचाना चाहता है। संभवत: तालिबानों के समान जो राजनीति के बरक्स अपना ईमान दीन से बिठाना चाहते हैं। यह एक प्रकार का रुग्ण पुनरुत्थान है जो असमाप्त इतिहास को पीछे ले जाना चाहता है। शायद हामिद लँगड़ा व्यवस्था के इस खुलेपन को जिम्मेदार मानता है जिसके कारण दो नादान जिन्दगियाँ उस खेल को खेलने लग जाती हैं जिस पर धार्मिक पाबंदी है, मनाही है। उसके पास इन दोनों को अलग से खत्म कर देने का विकल्प खुला हुआ है जैसा कि 'मनोहर कहानियाँ' के नायक किया करते हैं।

लेकिन वह तो इस समूची व्यवस्था को ही मिटा देना चाहता है जिसकी आड़ में ऐसे संबंध पनपने लगते हैं। इस दृष्टि से कहानी में एक अजब अर्थ-विस्तार पैदा होता है और तब हमें अपने समाज के चारों ओर फैले अलगाववादी-नक्सलवादी प्रवृत्तियों को देखने का एक अलग ही नजरिया दिखायी देने लगता है। जैसा कहा गया इतिहास के अंत के इस निर्णायक दौर में मूल्यों का तेजी से ह्रास हुआ है वह इस कहानी से और अधिक 'प्रूब' होता है। यह राजगढ़-ब्यावरा राजमार्ग वैश्विक पूँजी के बहाव का बहुराष्ट्रीय चैराहा नजर आता है जहाँ पर 'प्रिंस' अकेले भटक रहे हैं और 'हामिद' अपनी पहचान के संकट से ग्रस्त हो कर कुछ भी करने पर आमादा हैं। इस भयावह यथार्थ का सामना करने वाली उर्मिला शिरीष अपने समय की समर्थ और बहुत जागरूक कहानीकार के रूप में अपनी पहचान बनाती हैं।

5, वर्धमान परिसर, चूना भट्ठी कोलार रोड,
भोपाल-462016 (म.प्र.)
मो.-9826628267

उर्मिला शिरीष के उपन्यासों में भारतीय समाज का ग्लोबल संदर्भ

- बिभा कुमारी

जन्म - 29 अप्रैल 1976।
शिक्षा - एम.ए., एम.फिल., पीएच.डी.।
रचनाएँ - दस पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान - मिथिला रत्न सम्मान सहित अनेक संस्थाओं से सम्मानित।

उर्मिला शिरीष जितनी सशक्त कहानियाँ लिखती हैं, उतने ही सशक्त उपन्यास भी उन्होंने लिखे हैं। उनके उपन्यास 'चाँद गवाह' को पढ़ते हुए पाठक को एकबार भी यह नहीं लगता कि ये उनका पहला उपन्यास है। इस उपन्यास में एक बिल्कुल नवीन विषय अपने विविध आयामों के साथ धीरे-धीरे परत-दर-परत पाठकों के समक्ष खुलता है जो पाठक को एक सकारात्मक दृष्टि प्रदान करता है। परिवार और समाज निरंतर परिवर्तन की घोषणा करता आ रहा है, स्वतंत्रता-समानता की दुहाई देता रहा है, पर क्या समानता की इन दलीलों में स्त्री की स्थिति को सही-सही बताया गया है? उपन्यास में कथा-तन्तु में पिरोकर उपन्यासकार ने यह स्पष्ट किया है कि समानता के ये दावे खोखले और निराधार हैं। एक ही परिवार के बच्चे लैंगिक भेदभाव के कारण अलग-अलग साँचों और खाँचों में बिठाकर समाज के समक्ष प्रस्तुत किए जाते हैं। उनकी दिनचर्या, परवरिश और जीवनचर्या के मापदण्ड भिन्न बनाए गए हैं। बेटियों के वैवाहिक जीवन में जो भी समस्या आती है, उसके लिए उसे बार-बार दोषी ठहराया जाता है। जिस घर में वह जन्म लेती है, वहीं उसे कोई समझने की कोशिश नहीं करता है। उसे विवाह के पश्चात् किसी प्रकार की आर्थिक मदद यदि माता-पिता या भाई-बहन की ओर से दी जाती है तो उसमें भार उठाने या एहसान जताने जैसे भाव ही प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट किए जाते हैं।

यह उपन्यास समाज में स्त्री-पुरुष भेदभाव, आर्थिक संकटों से जूझती स्त्री के पारिवारिक-सामाजिक जीवन में आनेवाले झंझावातों को प्रखर स्वर देता है। एक स्त्री यदि पढ़-लिखकर अपनी वैचारिकता को पूर्णत: समृद्ध कर चुकी होती है तब भी उसकी पढ़ाई-लिखाई, समझदारी, कैरियर इत्यादि पक्षों की पूर्ण अनदेखी करते हुए उसके विवाह को प्राथमिकता दी जाती है। इस प्राथमिकता को इतनी त्वरित गति से अंजाम तक पहुँचाया जाता है कि इस बात की तरफ ध्यान भी नहीं दिया जाता है कि जिस लड़के से उसका विवाह करके मायके के लोग निश्चिंत हो जाएँगे, उसमें थोड़ी सी सद्भावना, संवेदनशीलता और सदाशयता जैसे आधारभूत गुण हैं भी या नहीं? वैवाहिक जीवन में असंतुलन से उत्पन्न संकटों से त्रस्त लड़की को बार-बार यह उपदेश दिया जाता है कि सामंजस्य करो। सामंजस्य करती हुई वह अथाह पीड़ाओं में घिरी हुई एक सामान्य जीवन जीने को विवश हो जाती है, जिसमें कुछ भी उसके मन के अनुकूल नहीं होता है। उसके जख्मों पर मरहम लगाने की आवश्यकता किसी को भी प्रतीत नहीं होती है। भयंकर संकट की स्थिति बन जाने पर उसे यदि आर्थिक सहायता मायके से मिलती भी है, तो उसका एहसान जताया जाता है। हर बात में उसमें सभी नुक्स निकालना आरम्भ कर देते हैं।

विवाहित होकर दो बेटियों की माँ दिशा अपनेआप को अकेली ही महसूस करती है। उसे धरती, नदी पेड़-पौधे इत्यादि प्राकृतिक अवयवों का संरक्षण करते हुए अपना जीवन बिताना

उपयुक्त लगता है। उसके प्रकृति-पर्यावरण प्रेम को कोई समझने की कोशिश नहीं करता है अपितु उसके किसी अन्य पुरुष से मिलने-जुलने की जानकारी मिलते ही चारों ओर लोग उसके चरित्र पर ही संदेह करने लग जाते हैं।

इस उपन्यास में प्रकृति और पर्यावरण के बड़े फलक के समानांतर सामाजिक विसंगतियों को उपन्यासकार उर्मिला शिरीष ने प्रतीकों व संवादों के माध्यम से जीवंत रूप में चित्रित किया है। आर्थिक अभाव से जूझने वाली कर्मठ दिशा की समस्त अच्छाई को अनदेखा कर परिवार और समाज उसे प्रश्नों के कठघरे में खड़ा कर देता है। यहाँ तक कि बेटियाँ भी उसे अपराधिनी घोषित कर देती हैं।

यहाँ भारतीय समाज की दो पीढ़ियों का संघर्ष है, जहाँ दिशा की पीढ़ी पूरे समाज से अकेली जूझती हुई एक ऐसी दुनिया का निर्माण करने में जुटी है जो आनेवाली पीढ़ी को एक बेहतर वातावरण प्रदान कर सकेगी, वहीं दिशा की अगली पीढ़ी का प्रतिनिधित्व कर रहीं उसकी बेटियाँ स्वतंत्रता के नाम पर नैतिकता को ही विस्मृत कर दे रही हैं। यहाँ उर्मिला शिरीष ने पीढ़ियों के मध्य एक प्रकार के संतुलन का संकेत किया है। कहने को समाज आगे बढ़ रहा है लेकिन वैचारिकता और विवेक का निरंतर ह्रास सम्पूर्ण जगत के लिए खतरे की घंटी है, इसीलिए आवश्यकता है समय रहते इन खतरों से मानवमात्र को बचा लेने की। दिशा मानव समुदाय के उन्नयन का प्रतीक बनकर खड़ी है। अपने कष्टों में भी वह किसी शॉर्टकट की तलाश में नहीं है, वह निंदा-प्रशंसा से ऊपर उठकर कार्य कर रही है, उनके लिए भी उसका कार्य कल्याणकारी साबित होगा जो आज उससे असहमत हैं अथवा उसकी हँसी उड़ा रहे हैं।

भारतीय समाज जिन ओढ़े हुए सिद्धांतों की बार-बार दुहाई देकर स्त्रियों का जीवन दूभर कर देता है, दिशा उन सिद्धांतों से स्वयं को पूर्णत: मुक्त रखती है। उपन्यास में तथाकथित शिक्षित-संभ्रांत परिवारों की दोहरी सोच पर भी उपन्यासकार प्रश्न उठाती हैं। ऐसा देखा जाता है कि निम्न तबके में स्त्री-पुरुष दोनों ही कार्यरत होते हैं, दोनों आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होते हैं तो स्त्रियाँ अपने कई निर्णय भी स्वयं ले लेती हैं, मगर संभ्रांत परिवारों में महिलाओं के उच्च शिक्षा ग्रहण कर लेने तथा आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो जाने के पश्चात् भी उनपर अनेक प्रकार के अंकुश लगाए जाते हैं। उपन्यास में दिशा की बहन मंचों से स्त्री के अधिकार का समर्थन करती है, परंतु जब उसे पता चलता है कि दिशा की किसी पुरुष से मित्रता है तो वह दिशा पर प्रश्नों की बौछार करने लगती है। दिशा उनके प्रश्नों से बिल्कुल भी विचलित नहीं होती है, बल्कि उत्तर देती है और वह भी कविता में-

'मैं चक्की में पड़े दानों की तरह
पिसती रही,
लोग सोचते रहे कि
चक्की गा रही है औरतों के गीत।'

समय के साथ बहन को भी यह अनुभूति होती है कि महज लेखों और मंचीय भाषणों से स्थिति को बेहतर नहीं बनाया जा सकता है। धीरे-धीरे वह दिशा की सोच और प्रयास का स्वागत करने लगती है। वह जब भाई से यह कहती है कि उसकी चिंता आप न करें तो उस वाक्य में एक संदेश छुपा है और वह संदेश है कि महिला के प्रति चिंता व्यक्त कर उसपर जो अंकुश लगाए जाते हैं, वे निश्चित रूप से अमानवीय हैं। अभी भी समय है कि समाज सँभल जाए और हर वक्त महिला को संदेह की दृष्टि से देखने की मानसिकता को नियंत्रित कर ले। यह कैसा समाज है जो व्यावहारिक रूप से महिला को कुछ भी सोचने और करने का अवसर नहीं देता है। उसकी इच्छा-अनिच्छा की परवाह किए बिना उसपर अनायास ही सारे निर्णय थोपता चला जाता है, फिर चाहे निर्णय उसके जीवन के लिए कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो? स्त्री अपने जीवन को अपनी तरह से जीने की कोशिश में यदि कोई निर्णय लेले, भले ही वह उसके और समाज के हित में हो तो

भी समाज उसके निर्णय और प्रयासों की खिल्ली उड़ाता है। इन विरोधों-प्रतिरोधों को झेलती हुई दिशा जैसी कर्मठ, स्वयंसिद्धा स्त्री टूटती-बिखरती नहीं है, बल्कि अपने लक्ष्य को साकार करने के लिए लगातार काम करती हुई आगे बढ़ती जाती है।

'खैरियत है हुजूर' का विषय पहले उपन्यास 'चाँद गवाह' से पूर्णत: भिन्न है, परंतु आज के संदर्भों को इस उपन्यास में भी उतनी ही गंभीरता से उठाया गया है। एक सरल हृदय, मध्यवर्गीय सामान्य परिवार का पुत्र, एक अत्यंत मेधावी छात्र कितना ही परिश्रम करके, घनघोर संघर्षों का सामना करके डॉक्टर बनता है और एक कारोबारी परिवार का दामाद बनने के बाद उनके ही कारोबार में शामिल होकर कहीं का नहीं रह जाता। डॉक्टरी तो चली ही जाती है, ससुरालवालों के कारोबार में अधिक दिनों तक समायोजन हो नहीं पाता है। उनके विशाल कारोबार के समानांतर न अपना कारोबार ही चल पाता है और न ही किसी कंपनी का ऑर्डर ही वह हासिल कर पाता है।

उपन्यास सम्पूर्ण बिंदुओं पर समग्रता से विचार करते हुए आगे बढ़ता है। एक आम व्यक्ति जिसने कभी बड़ी मेहनत से अपनी पढ़ाई पूरी की थी और डॉक्टर बना था, वह जैसे अचानक ही बेकार हो गया। उसके पास जैसे कोई रास्ता ही नहीं बचा, परिस्थितियों ने उसे एक ऐसे मोड़ पर ला पटका जहाँ वह कैसे, कब, कितना गलत होता चला गया, स्वयं भी नहीं जान पाया। गलत लोगों और गलत रास्तों में ऐसा उलझा कि वह जितना बड़ा गुनाहगार था नहीं, उससे कहीं ज्यादा बड़े आरोपों में उलझकर जेल तक पहुँच गया। हवालात, पूछताछ की लंबी प्रक्रिया, कोर्ट की तारीखें, कैद और उससे आगे भी लंबे समय तक चले मुकदमे की तारीखों ने तो संजीव को पूरी तरह तोड़कर ही रख दिया। उसके लिए इन सभी पीड़ाओं से बड़ी पीड़ा थी, पत्नी की नजर में अपराधी हो जाना। वह बार-बार कहता कि मुझपर लगाए गए आरोप गलत हैं, पर उसे हरबार यही लगता कि पत्नी भी उसे अपराधी समझ रही है। जेल के भीतर उसने जो दुनिया देखी उससे उसे दुनिया का एक अलग रूप समझ में आ गया। उसे यही लगा कि इस गेट के भीतर की दुनिया जैसे एक रहस्य है।

'एक के बाद एक नए रहस्यों का उद्घाटन होता रहा। एक ऐसी विचित्र, अनोखी दुनिया जिसे जानने का दावा तो सैकड़ों लोग करते हैं, पर वास्तव में पूरा-पूरा सच कोई नहीं जानता।' संजीव तो अपना व्यवसाय जमाने के लिए प्रयासरत था, फिर धीरे-धीरे न जाने कैसे और कब वह इन गतिविधियों में शामिल हो गया। एक संभ्रांत व्यक्ति जितनी पीड़ा जेल में रहने में नहीं महसूस करता है, उससे अधिक उस अपमान बोध को समाज के सामने लाने, माता-पिता, भाई बहन तथा छोटे बच्चों के सामने प्रस्तुत करने में होता है। संजीव के जेहन में लगातार यह ग्लानि है कि उसने ऐसी गलती क्यों और कैसे कर ली ?

शीर्षक में जेल के कैदियों के दर्द की अनुभूति को समझने का संकेत है। पुलिस वाले द्वारा पूछे जाने पर अपराधी जिस अंदाज में अपनी खैरियत बताते हैं, उपन्यासकार ने उसे ही शीर्षक बना दिया है।

'शाम को छ: बजे के बाद खैरियत होती है। पुलिस वाला हर बैरक से बैरक का नम्बर बोलते हुए उसके अंदर के अपराधियों की खैरियत लेता है। यही बात रात्रि ग्यारह बजे के बाद रिपीट होती है। उसके बाद बैरक की लाइट बुझा दी जाती है।'

जेल के भीतर और बाहर की दुनिया का जिस तरह मुख्यपात्र संजीव के अंतर्द्वंद्व के माध्यम से चित्रांकन किया है वह पाठक को सोच-विचार के लिए प्रेरित करता है। वास्तव में हर इंसान के कई-कई पहलू हैं, जेल के भीतर भी इंसानियत और भाईचारे के जीवंत दृश्य उपन्यास में अत्यंत सजीव रूप में संजीव के माध्यम से पाठकों तक प्रेषित किए गए हैं।

'थोड़ी बहुत जान-पहचान के बाद बैरक के अंदर की

गतिविधियाँ, खाना खाने के पहले जो कि शाम के छः बजे ही लाया जा चुका होता और ढककर रखा होता क्योंकि पूजा-पाठ, आरती, नमाज का दौर शुरू हो जाता। ऐसा भव्य स्वरूप! सुरों में आरती गायी जा रही थी, पूरे खुले गले से भक्ति गीत मनोभाव के साथ गाये जा रहे थे। पूरी शिद्दत के साथ नमाज अदा की जा रही थी और एक-दूसरे के लिए दुआएँ माँगी जा रही थीं। कहीं भी बनावटीपन नहीं था।'

'कोई एक सपना' युवा पीढ़ी की दृढ़ इच्छा-शक्ति का बेहतरीन उदाहरण प्रस्तुत करता हुआ उपन्यास है। बड़े सपने और उसे साकार करने की जद्दोजहद को जिस सरलता से चित्रित किया गया है, वह पाठक को एकदम अपना सा लगता है। सुमित और उसकी माँ और उसके मामा इसी समाज के लोग हैं। सुमित के पापा एक आम भारतीय मध्यवर्गीय पिता को पूर्णतः आत्मसात किए पाठकों के बीच अवतरित होते हैं। सुमित का संघर्ष आज की युवा पीढ़ी की सच्ची कहानी है। आज जिस तरह से बेरोजगारी समाज में पसरती जा रही है, एक सामान्य मध्यवर्गीय परिवार के युवाओं को अपने सपनों को साकार करने के लिए स्वयं को मिटा देने की हद तक संघर्ष करना पड़ता है। अपने देश से लेकर विदेश तक भारतीय युवकों के लिए बेहतर रोजगार की तलाश आकाशकुसुम साबित होता जा रहा है। जितनी भी योजनाएँ हैं उनका वास्तविक लाभ लोगों तक नहीं पहुँच पाता है। नए लोगों को अपना वजूद तलाशने के लिए जमीन-आसमान एक करना पड़ता है। बैंक का कर्ज चुकाने के लिए घर की सारी जमा-पूँजी लुटा देनी पड़ती है, परंतु वह एक रुपए का कारोबार भी नहीं कर पाता है। बड़ी-बड़ी कंपनियों में अपना माल लगवा पाना नए कारोबारियों के लिए लगभग असंभव कार्य हो चुका है। पैसा, परिश्रम सबकुछ लगा देने के बाद कुछ नई उम्मीदों के साथ विदेश में नए प्रयत्न और फिर एक और लंबा संघर्ष। उपन्यास में कई ऐसे बिन्दु हैं जो आज की बेरोजगारी की समस्या को विश्वस्तर पर गंभीरता से बताने में समर्थ हैं। भारतीय युवा लगन, प्रतिभा और परिश्रम को झोंककर भी अपने सपनों को साकार नहीं कर पा रहे हैं। पर अंत तक आते-आते सुमित के लिए राहें बन जाती हैं। इस सकारात्मक अंत से पाठक को थोड़ा सा संतोष मिलता है, परंतु उपन्यास में उठाए गए प्रश्न उसका पीछा फिर भी नहीं छोड़ते हैं।

उपन्यास में कथ्य के साथ-साथ शिल्प में भी कई नए प्रयोग किए गए हैं, जो उपन्यास को मजबूती देने के लिए पर्याप्त हैं। 'चाँद गवाह' में विभिन्न स्त्रियों के जीवन की पीड़ा को चित्रित करने के लिए उपन्यासकार ने कपाटों का प्रतीक उपस्थित किया है। पत्र, डायरी, कविता इत्यादि को उपन्यास में जिस संतुलन से शामिल किया गया है, वह उपन्यास के प्रभाव को कई गुणा बढ़ाने में समर्थ है। एक विधा के अन्तर्गत अनेक विधाओं को जीवंत कर देने की यह कला निःस्संदेह उपन्यास के शिल्प पक्ष अत्यंत महत्त्वपूर्ण व सशक्त शिल्प के रूप में उभरकर आई है।

'वह कपाट खोल तो देती है, पर बंद करना भूल जाती है। वह चाहती है यह कपाट अब खुले ही रहना चाहिए। इनके खुले रहने का वक्त आ गया है।'

तीनों ही उपन्यास बड़े फलक के हैं पर आकार अधिक दीर्घ नहीं है। जिस तरह आज लोगों की दिनचर्या बहुत व्यस्त हो चली है, उपन्यासकार ने कम पृष्ठों के उपन्यास लिखकर पाठकों को एक बेहतरीन उपहार प्रदान किया है। आज विश्व भर में जो ज्वलंत मुद्दे हैं वे उपन्यास में किसी न किसी रूप में अवश्य ही उपस्थित हैं। भाषा सरल और युगीन है। वर्तमान समाज में बोली जानेवाली भाषा उपन्यास को पाठकों के लिए और सहज बना देती है।

सहायक प्राध्यापक,वीसजे महाविद्यालय,
राजनगर, मधुबनी।
मो.- 8800270718)

साहित्य और संस्कृति को समर्पित व्यक्तित्व : डॉ. उर्मिला शिरीष

- सुधीर कुमार शर्मा

जन्म - 4 मई 1963।
शिक्षा - एम.ए., एम.फिल., पीएच.डी.।
रचनाएँ - दो पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान - गीत गौरव सम्मान।

महाविद्यालय में नैक का मूल्यांकन होने को है, इसी की तैयारियाँ जोरों पर हैं। सभी विभागों में गहमा-गहमी है। प्रात: 8: 40 बजे कक्षाएँ प्रारंभ हो जाती हैं, फिर भी नैक की तैयारियों के कारण महाविद्यालय स्टाफ को घर लौटने में देर हो ही जाती है। चतुर्थ श्रेणी से लेकर प्रथम श्रेणी तक सभी अधिकारी, कर्मचारी अपनी पूरी ऊर्जा के साथ लगे हैं। महाविद्यालय के पुराने भवन और नवनिर्मित भवन की रंगाई-पुताई हो चुकी है। नैक के मानकों के अनुसार दस्तावेज व्यवस्थित किये जा रहे हैं। कक्षाएँ नियमित रूप से लग रही हैं। पीरियड की समाप्ति पर बेल बजती है, तभी छात्राओं का शोर कॉरिडोर में सुनाई देता है, छात्राएँ एक कक्षा से दूसरी कक्षा में चली जाती हैं, फिर से शांति व्याप्त हो जाती है। मैं भी अपनी कक्षाओं और अन्य कार्यों में व्यस्त हूँ। कक्षाएँ लेने के बाद दो-बार विभाग में झाँक कर आया हूँ, एचओडी मैडम दिखाई नहीं दी हैं। एक बार पता चला कि वे कक्षा में हैं, दूसरी बार पता चला कि वे कार्यालय में हैं। मुझे अपने आवेदन पर उनके हस्ताक्षर करवाने हैं। अब डेढ़, पौने-दो का समय है। अचानक मेरे मोबाइल की घंटी बजती है। मनोविज्ञान विभाग के प्रोफेसर कुशवाह का फोन है। 'अरे सुबह से दिखाई नहीं दिए'-दूसरी तरफ से आवाज आई। 'कक्षाओं में व्यस्त था, अब थोड़ा समय मिला है, आप कहाँ हैं?' मैंने कहा। 'कैंटीन में हूँ, आ जाइए प्रोफेसर पटेल भी साथ में हैं।' कुशवाह जी ने कहा। 'आ रहा हूँ'-कहकर मैंने फोन बंद कर दिया और कैंटीन पहुँच गया। कैंटीन पहुँचकर हम लोगों ने चाय का स्वाद लिया। थोड़ी देर इधर-उधर की बातें कीं, फिर लौट कर अपनी कक्षा लेने चला गया। कक्षा लेने के बाद मैं विभाग में पहुँचा। अब चार बज चुके थे, देखा एचओडी मैडम सामने अपनी सीट बैठी किसी कार्य में व्यस्त हैं। मैंने अपना आवेदन उन्हें दे दिया। आवेदन पर हस्ताक्षर कर उन्होंने आवेदन मुझे वापस कर दिया। अरे! यह क्या, मैंने देखा कि मैडम की एक आँख के आधे भाग में जैसे खून का थक्का जमा है, और वे स्वस्थ भी नहीं दिख रही हैं। पूछने पर उन्होंने बताया कि तबीयत ठीक नहीं है। 'फिर आपको अवकाश लेना था'-मैंने चिंतित स्वर में कहा। 'डॉक्टर को दिखा दिया है, उन्होंने कहा है कि दो-चार दिन में ठीक हो जाएगा और फिर नैक के लिए विभागीय तैयारियाँ भी करनी हैं। विभाग के काफी काम अभी शेष हैं।' मैडम ने कहा। 'मैडम! हम लोग ये सारे काम कर लेंगे, आप तो अपने स्वास्थ्य पर ध्यान दीजिए' मैंने जोर देकर कहा।

'नहीं सर, दो-चार दिन में सब ठीक हो जाएगा'-उन्होंने कहा। और उन्होंने नैक के मूल्यांकन होने तक महाविद्यालय से कोई अवकाश नहीं लिया। तत्परता से अपना अध्यापन और अन्य कार्य करती रहीं। यह एचओडी मैडम कोई और नहीं, वह हैं डॉ. उर्मिला शिरीष। पूर्णत: कर्तव्य

परायण। अभी तो उन्होंने स्वैच्छिक सेवा निवृत्ति ले ली है, लेकिन जब तक वे महाविद्यालयीन सेवा में रहीं, उन्होंने अपने प्राध्यापकीय दायित्व का पूरी निष्ठा से पालन किया। पारिवारिक दायित्व का निर्वाह करते हुए अपने शासकीय दायित्व का निर्वहन भी उन्होंने पूर्ण तत्परता और निष्ठा से किया। अकादमिक और साहित्यिक आयोजनों में मैडम की गहरी रुचि रही।

बात 2018 की है। विभाग में तय हुआ कि एक राष्ट्रीय शोध संगोष्ठी का आयोजन किया जाए। विषय भी तय हो गया–'हिंदी कविता में राष्ट्रीय संचेतना।' यह भी तय हो गया कि वित्तीय व्यवस्था महाविद्यालय के स्वायत्त प्रकोष्ठ की रहेगी। उसी के अनुदान से सेमिनार का आयोजन होगा। शिरीष मैडम तैयारियों में जुट गईं। विवरणी और कार्ड भी छप गए। बाहर से आने वाले विषय विशेषज्ञों के नाम भी तय हो गए। स्थानीय साहित्यकारों के पास मैडम ने स्वयं जा जाकर उन्हें आमंत्रित किया। इस आयोजन प्रक्रिया में मैं भी उनके साथ रहा। यहाँ तक तो सब ठीक था। आयोजन तिथि से एक सप्ताह पूर्व यह ज्ञात हुआ कि संबंधित सत्र में अकादमिक आयोजनों के लिए स्वायत्त प्रकोष्ठ के पास कोई अनुदान शेष नहीं है। आयोजन कैसे होगा? सारी तैयारियाँ शिरीष मैडम ने व्यक्तिगत स्तर पर कर ली हैं। हिंदी भवन के कुछ कमरे अतिथियों आदि के ठहरने के लिए बुक कर लिए गए हैं। आयोजन कैसे हो? यह गंभीर प्रश्न था। विभागीय बैठक का आयोजन किया गया। शिरीष मैडम ने कहा कि इस स्टेज पर आयोजन निरस्त नहीं किया जा सकता। वित्तीय भार वे स्वयं वहन करेंगी। प्राचार्य को भी विभाग की ओर से आश्वासन दिया गया कि सेमिनार का आयोजन निर्विघ्न संपन्न होगा। विभाग के सभी सदस्यों और आयोजन समिति के अन्य सदस्यों ने पूर्ण सहयोग किया। राष्ट्रीय शोध संगोष्ठी का आयोजन सफल रहा। सारी व्यवस्थाएँ मैडम ने आगे बढ़कर कीं। भोजन, आवास, प्रतिभागियों के लिए किट आदि का सारा वित्तीय भार शिरीष मैडम ने अग्रिम रूप से उठाया। जैसी कि मान्यता है कि उदात्त संकल्प से किए गए कार्यों में दिव्य शक्तियाँ सहयोगिनी बन जाती हैं। यहाँ भी ऐसा ही हुआ। पंजीयन शुल्क के रूप में महाविद्यालय को डेढ़ लाख रुपए प्राप्त हुए। इसी से सभी व्ययों का समायोजन हुआ और शोध आलेखों की पुस्तिका भी प्रकाशित की गई। सामान्यत: लोग दूसरों की निंदा करते रहते हैं।

डॉ. उर्मिला शिरीष के व्यक्तित्व में निंदक तत्व दूर-दूर तक नहीं मिलता। मृदु-मंद स्मित रेखा उनके चेहरे पर खिली रहती है। वे अजातशत्रु हैं, मैंने कभी उन्हें ऊँची आवाज में किसी छात्रा को भी डाँटते नहीं देखा। कभी किसी छात्रा को समझाना होता है तो उनकी डाँट में भी दुलार का पुट मिला रहता है। साहित्य और संस्कृति को पूरी तरह समर्पित हैं वे। महाविद्यालय में युवा उत्सव का आयोजन हो, वार्षिकोत्सव का आयोजन हो या अन्य साहित्यिक, सांस्कृतिक गतिविधियों के आयोजन हों, इन आयोजनों के लिए प्राचार्य को जो नाम सबसे पहले याद आता रहा है, वह नाम है डॉ. उर्मिला शिरीष का। महाविद्यालय में अध्यापन, साहित्यिक, सांस्कृतिक गतिविधियों के निरंतर आयोजनों की व्यस्तता के बावजूद भी उनकी साहित्य-सर्जना अनवरत चलती रही है। साहित्य और संस्कृति के संस्कार नई पीढ़ी में अंतरित हों, महाविद्यालय में विद्यार्थियों के बीच साहित्यिक वातावरण बने, उनकी साहित्यिक अभिरुचि विकसित हो, इसकी चिंता भी वे लगातार करती रही हैं और इसीलिए प्रतिष्ठित साहित्यकारों विद्वानों के व्याख्यानों, काव्य पाठ आदि के आयोजन महाविद्यालय में इनके द्वारा निरंतर किए जाते रहे हैं। डॉ. उर्मिला शिरीष का रचनाशील प्राध्यापकीय व्यक्तित्व विद्यार्थियों के साथ-साथ प्राध्यापकों के लिए भी प्रेरणा का स्रोत रहा है।

69, नर्मदा नगर, बावड़िया कला,
भोपाल-462026 (म.प्र.)
मो. -6261273564

उर्मिला शिरीष की कहानियों का आयतन

– स्मृति शुक्ल

जन्म – 17 फरवरी 1969।
शिक्षा – एम.ए., पीएच.डी।
रचनाएँ – चार चुस्तकें–प्रकाशित।
सम्मान – म.प्र. साहित्य अकादमी के नंददुलारे बाजपेयी सम्मान सहित अनेक सम्मान।

उर्मिला शिरीष हिन्दी की प्रतिष्ठित कहानीकार हैं। उर्मिला शिरीष की कहानियाँ उनके लेखन की गहराई, उनके अंत:करण के आयतन की विशालता और उनकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि और गहन सामाजिक सरोकारों के निहितार्थों को रोचकता से अभिव्यक्त करने वाली मुकम्मल कहानियाँ हैं। उनकी कहानियों के केन्द्र में स्त्रियाँ और उनके जीवन की जटिलता है। लेकिन इन स्त्रियों के बहाने ही वे व्यापक सामाजिक परिदृश्य को अपनी कहानियों में समेटती हैं। इसलिए उनकी कहानियों का आकलन किसी विमर्श के सीमित दायरे में नहीं किया जा सकता। वस्तुत: उर्मिला शिरीष व्यापक फलक की कहानीकार हैं। उनकी कहानियों में स्त्रियाँ, बच्चे, बुजुर्ग, युवक–यवुतियाँ, उनका मनोविज्ञान और उनकी समस्याएँ सभी प्रामाणिकता के साथ गुँथे हुए हैं। उर्मिला शिरीष ने अपनी लेखनी के बलबूते पर हिन्दी कथा–जगत में प्रतिष्ठा और पाठकों के हृदय में स्थान पाया है। उनकी कहानियाँ पढ़ते हुए लगता है कि वे परकाया प्रवेश करना जानती हैं, पात्रों के अन्तर्जगत में पैठकर वे ऐसे किरदार रचती हैं जो हमारे बहुत निकट होते हैं। उर्मिला शिरीष के अब तक अठारह कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उनके उपन्यास 'चाँद गवाह' को पाठकों और साहित्यकारों का अभूतपूर्व स्नेह प्राप्त हुआ है।

उर्मिला जी की दो सौ से अधिक कहानियों में से मैं उनकी कुछ प्रतिनिधि कहानियों को आधार बनाकर एक पाठक की हैसियत से ही मैं अपनी बात लिख रही हूँ। उर्मिला शिरीष समकालीन परिवेश पर गहरी पकड़ के साथ, परिवर्तित समाज की एक–एक भंगिमा पर पैनी नजर रखती हैं। वे जानती हैं कि समाज में एक ओर अपार धन है, चंचल (आवारा) पूँजी है जो दूसरी तरफ भूख, अभाव, गरीबी और बेरोजगारी है। स्त्री की अनेक समस्याएँ हैं, व्यवस्थाजन्य विद्रूप उपभोक्तावाद, बाजारवाद, सूचनाक्रांति और तकनीक का आधिक्य और उससे उपजा तनाव है, प्रदूषित होता पर्यावरण है, स्त्री की बहुविध समस्याएँ है, मूल्यों का क्षरण है, तो इसके बरअक्स चमचमाते मॉल हैं विकास के नये–नये द्वार हैं, अनेक योजनाएँ हैं। उर्मिला शिरीष एक समाज शास्त्री की तरह समाज में घट रही एक–एक घटना पर पैनी दृष्टि रखती हैं और उनका विश्लेषण करती हैं।

आज प्रत्येक व्यक्ति देशभक्त कहलाना पसंद करता है। देशभक्ति के गीत गाना बलिदानियों की कहानियाँ दुहराना, देशभक्त शहीदों पर कार्यक्रम करना, भाषण देना ये सभी क्रियाकलाप हमारी देशभक्ति के प्रमाण हैं। उर्मिला शिरीष की कहानी 'शहादत' हमारी इस देशभक्ति की भावना के समानांतर उस सच्चाई को सामने लाती है जो शहीद के माता–पिता की पीड़ा की गहनता को उजागर करती है। कहानी की पात्र विभा अपनी संस्था द्वारा शहीद के माता–पिता को अपने कार्यक्रम में आमंत्रित करने जाती है और मन ही मन गौरवान्वित होती है, कि आज उसे साहस और कुर्बानी के जीते–जागते किरदारों

से मिलने का अवसर मिलेगा। जब वह शहीद के माता-पिता से मिलती है तब जान पाती है कि अपने युवा पुत्र के बिछोह में उन दंपत्ति पर क्या गुजर रही है। हम तो शहीदों को एक दिन याद करके विस्मृत कर देते हैं या कार्यक्रमों में उनके माता-पिता को आमंत्रित करके अपने को गौरवान्वित अनुभूत करते हैं, उनकी तस्वीरों को धरोहर समझकर सँजो लेते हैं, लेकिन उन माता-पिता पर क्या गुजरती है जिन्होंने देश की सुरक्षा के लिए अपने युवा पुत्र की भेंट चढ़ा दी है। जिनके पुत्रों ने देश की सरहदों की हिफाजत करते हुए सीने पर गोलियाँ खाई हैं। कहानी 'शहादत' ऐसी कहानी है जो शहीदों के परिवारों की व्यथा को, उनके जीवन की मर्मांतक सच्चाई को पाठकों के सामने लाती है। कहानीकार ने पिता के मुँह से जो कहलवाया है उस पर हमें गौर करने की आवश्यकता है- 'बेटी युद्ध सीमा पर समाप्त हो गया है, जीवन में नहीं। असली युद्ध तो युद्ध समाप्ति पर शुरू होता है। जहाँ शहीदों के परिवार अपने बेटों या भाइयों को खोकर अकेले हो जाते हैं और वे जो अपंग हो गये हैं-उस जीवन की त्रासदी को जीना किसी युद्ध से कम कष्टदायी होता है क्या?' आगे वे कहते हैं कि 'यह जरूरी तो नहीं कि हर कोई सम्मान करें, हो सके तो युद्ध के कारणों और उसकी विभीषिका को समझने का प्रयास करें ताकि आने वाली पीढ़ी तो सुरक्षित रह सके।' यहाँ उर्मिला जी ने हम सभी का ध्यान उस सत्य की ओर आकर्षित किया है जिसे हम जानना नहीं चाहते। सैनिक तो हँसते-हँसते कुर्बान हो जाते हैं पीछे छूट जाती है जीवन की गहन कुहेलिका। जहाँ माता-पिता अपने बचे हुए जीवन के प्रत्येक क्षण में मृत्यु तुल्य वेदना को झेलने के लिये विवश होते हैं। वे उस दुख को अपने हृदय पर प्रतिपल लिये घूमते हैं जो मृत्यु से भी ज्यादा कठिन है। वे नहीं चाहते कि खोखले शब्दों से बार-बार उनका सम्मान किया जाये या उनके दुख का तमाशा बनाया जाए।

इस पूरी कहानी में उर्मिला शिरीष प्रतीकों और संकेतों के माध्यम से एक गहन विषाद की सजीव उपस्थिति कराती है। घर के बाहर पड़ा खाली झूला किसी की स्मृतियों में खोया एकाकी पड़ा है। पेड़-पौधों की पत्तियाँ समय से पहले सूख चुकी हैं, जड़ तक उनकी शाखें पीली और विवर्ण होकर गिर रही हैं।

उर्मिला शिरीष की खूबी यह है कि वे मनुष्य के मन की अनेक परतों के भीतर छुपी सच्चाइयों का संधान करती हैं। वे ऐसे विषयों पर भी कहानी लिख सकती हैं जो अदृश्य हैं लेकिन उन अदृश्य और मन के कोनों-अंतरों भीतर छिपी गूढ़ बातों से ही व्यक्ति का बाह्य जगत् या व्यक्ति का व्यवहार संचालित हो रहा है। उनकी कहानी 'बाँधो न नाव इस ठाँव बँधु' पढ़ने के बाद पाठक के हृदय में विषाद की एक गहरी लकीर छोड़ जाती है। कहानी का शीर्षक बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु निराला के प्रसिद्ध गीत से लिया गया है। कहानी एक बुजुर्ग व्यक्ति की मृत्यु के दृश्य से शुरू होती है।

स्पंदन विहीन पड़ी देह और शांत चेहरा। उर्मिला शिरीष लिखती हैं कि-'कौन कहेगा इस चेहरे की भाव मुद्रा को देखकर कि यह वही चेहरा है, जो चीखते वक्त गुस्से से कितना भयानक और कुरूप हो उठता था।' यह कहानी एक बुजुर्ग की है जो जीवन भर अपने परिवार के लिये खटता रहा, परिवार के लिये सुख-सुविधाएँ जुटाता रहा। वह व्यक्ति अपनी सेवानिवृत्ति के बाद किस तरह धीरे-धीरे नि:सहाय होता जाता है, परिवार में पत्नी के तानों से किस तरह टूटता है, उसके जीवन में क्या कुछ घटा है, अतीत का कोई ऐसा टुकड़ा जो उसके वर्तमान से इस कदर लिपटा हुआ है जो उसे चैन नहीं लेने देता। इन सभी बातों और घटनाओं को उर्मिला शिरीष कहानी में जिस मार्मिकता से उद्घाटित करती हैं, वह मार्मिकता पूरी कहानी में आदि से अंत तक पाठक को भिगोती है। कहानी में एक ओर जहाँ मृत्यु का दर्शन है, पत्नी और परिवार के दूसरे सदस्यों का एक तटस्थ या कहें कि कर्तव्य का रिश्ता या ठंडा सा व्यवहार है वहीं दूसरी ओर बुजुर्ग के बड़े पुत्र का अपने पिता के प्रति अपार स्नेह भी प्रदर्शित है। बेटा अंतिम समय में अपने पिता का हमराज बन जाता है। पिता अपने जीवन का वह रहस्य उसके सामने उद्घाटित कर देते हैं जिसे उन्होंने वर्षों तक अपने हृदय की सात पर्तों में छुपाकर रखा था। उसे वे केवल अपनी

कविताओं में उद्घाटित करते रहे। अब जीवन के अंतिम समय में वे उस स्त्री को एक बार देखना चाहते हैं जो अपनी युवावस्था में ही विधवा हो गयी थी।

यह बात चालीस-पचास साल पुरानी है। एक सुंदर और युवा विधवा पर समाज के असामाजिक तत्वों की नजर थी तब इन बुजुर्ग ने ही उसकी मदद की थी सिलाई मशीन खरीदकर उसकी रोजी-रोटी का इंतजाम किया था। इस तरह दोनों में एक भावनात्मक लगाव हो गया था। रूपा नाम की यह स्त्री उनको सदा ही एक मानसिक संबल प्रदान करती रही थी। बड़ा बेटा यह जानकर अपने पिता को उस स्त्री से मिलवाना चाहता था ताकि अपने पिता की अंतिम इच्छा पूर्ण कर सके पर ऐसा हो नहीं पाया। मृत्यु के बाद वह उस स्त्री को पिता के द्वारा बनवाये घर में किरायेदार की हैसियत से रह रही और अब बुजुर्ग हो चुकी रूपा को निकालना नहीं चाहता क्योंकि यह पिता की अंतिम इच्छा थी। लेकिन रूपा घर की चाबियाँ सौंपकर चली गयी थी और वह सोच रहा था कि रूपा एक बार फिर बेघर हो गयी और वह पिता की अंतिम इच्छा पूरी नहीं कर पाया। अपनी सघन बुनावट और संवेदनाओं की आर्द्रता में भीगी यह कहानी जैनेन्द्र परंपरा की एक सशक्त कहानी है।

'किसका चेहरा' कहानी एक गहरे आशयों को खोलने वाली कहानी है। यह कहानी उन बेरोजगार युवाओं की कहानी है जो चंद पैसों के लिये किसी राजनैतिक पार्टी या संगठनों के लिये काम करते हैं। कहानी ट्रेन के कम्पार्टमेंट के उस दृश्य से आरंभ होती है जिसमें किसी राजनैतिक रैली में भाग लेने आये हुए युवाओं की भीड़ अचानक घुस आती है। उस कम्पार्टमेंट में अपनी मैडम के साथ बैठी कॉलेज की लड़कियाँ उन्हें देखकर अपने को किस तरह असुरक्षित महसूस करने लगती हैं। यह कहानी राजनीति के उस चेहरे की पहचान कराती है जो अपने निहित स्वार्थों के लिये गरीब युवकों का इस्तेमाल करती है। ये युवक अपराधी नहीं हैं, वे लड़कियों से छेड़छाड़ नहीं करते। पुलिस उन्हें पीटती है और डंडों से उनका सिर फोड़ देती है। उर्मिला शिरीष चूँकि अपने सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करती हैं इसलिये वे 'किसका चेहरा' जैसी भयावह सच्चाई का उद्घाटन करने वाली संवेदनात्मक कहानी रच पाती हैं।

उर्मिला शिरीष की अनेक कहानियों के केन्द्र में स्त्री है। पितृ सत्तात्मक व्यवस्था से लहूलुहान स्त्रियों के अनेक चेहरे, इस समाज व्यवस्था और उसकी सत्ता के आतंक-तले घुटती स्त्री, अपनी भावनाओं, इच्छाओं, स्वप्नों और प्रेम का गला घोंटकर जीने को मजबूर स्त्री, शारीरिक शोषण अन्याय और अत्याचार की शिकार स्त्री के साथ अपने स्व को पहचानने वाली स्त्री, अपनी अस्मिता और व्यक्तित्व के प्रति सजग स्त्री, अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करने वाली स्त्री उनकी कहानियों में मूर्त होती है। स्त्री की संवेदनाओं और उसकी समस्याओं को पाठक की चेतना का अनिवार्य हिस्सा बनाने के लिये वे गहरी मार्मिक संवेदनात्मक और बिम्बात्मक भाषा का सृजन करती हैं। उनकी कहानियाँ स्त्रियों के अंतरंग और बहिरंग पक्ष का, उनकी मन:स्थितियों का पारदर्शी अंकन करती हैं। उनकी कहानियाँ स्त्री की अस्मिता, स्वतंत्रता, समानता स्वाधिकार और न्याय की माँग करती हैं। इन कहानियों का दायरा किसी विमर्श तक सिमटा हुआ न होकर एक व्यापक सामाजिक फलक तक फैला है।

उनकी कहानियाँ स्त्री संघर्ष को एक नई जमीन देती हैं। उर्मिला शिरीष की बहुचर्चित कहानी 'चीख' का जिक्र करना चाहूँगी। यह कहानी सामूहिक रूप से बलत्कृत एक युवती और उसके परिवार की कहानी है। लड़की जिसके शरीर के साथ उसकी आत्मा को भी तार-तार कर दिया गया था, जिसके हृदय मन और आत्मा पर ऐसे घाव हुए थे जो अमिट थे जिसकी वेदना और टीस लिये वह पत्थर सी जड़ हो गयी थी। माँ-बाप और भाई समाज से इतना डर रहे थे कि वे कहीं भी आने-जाने में कतरा रहे थे। वे इस घटना के बाद लोगों

का सामना नहीं कर पा रहे थे। लोगों के सवाल उन्हें तीर की तरह छेद रहे थे। भाई क्रोध और विवशता में मुट्ठियाँ भींचें रहता था। इस घटना ने उनकी पूरी जीवनचर्या बदल दी थी, उनके परिवार की हँसी-खुशी को मानो ग्रहण लग गया था। कोर्ट कचहरी के चक्कर और लड़की से बार-बार पूछे जाने वाले वही सवाल।

इन सबका उत्तर देने में लड़की को बार-बार उसी दर्द, पीड़ा और जलालत से गुजरना पड़ रहा था। उर्मिला शिरीष 'चीख' में हमारे समाज की उस भयानक सच्चाई को दिखाती हैं जहाँ स्त्रियों के प्रति अत्याचार का सिलसिला थमा नहीं है। 16 दिसम्बर 2012 को हुआ निर्भया कांड हो या शक्ति मिल में घटी घटना या इसी से मिलती-जुलती हजारों घटनाएँ और इनका शिकार बनती बच्चियाँ, युवतियाँ और स्त्रियाँ जो या तो मार दी जाती हैं या ताउम्र बिना किसी अपराध के एक कलंक को ढोने के लिये विवश होती है। 'चीख' कहानी महज घटना का वर्णन करने वाली साधारण कहानी नहीं है वरन् असाधारण इस अर्थ में है कि वह ऐसी युवतियों को जीने की नयी राह दिखाती है, उनका खोया हुआ आत्मविश्वास वापस लाकर उन्हें ग्लानिबोध से मुक्त कर सामान्य जीवन जीने का मार्ग दिखाती है। कहानी में उर्मिला शिरीष एक महिला डॉक्टर पात्र को लाती है जो उस लड़की की कोख में पड़ गये अनचाहे बीज को नष्ट करने के साथ उसके मन और हृदय पर लगे घावों को साफ करने का भी काम करती हैं और कहती हैं- 'यदि तुम मेरी बेटी होती तो मैं तुम्हें कहती-उठो। जागो। जीवन को अपनी गति से चलने दो जो हुआ उसका सामना करो। कोई तुम्हें एक्सेप्ट नहीं करता मत करने दो, तुम खुद को एक्सेप्ट करो।

यह कहानी लड़की के जिस वाक्य से खत्म होती है वह स्त्री चेतना का स्वर है-' मैंने कोई गलती या अपराध नहीं किया है, जिसके लिये मैं जिंदगी भर आत्मग्लानि में घुलूँ। मम्मी मैं हर स्थिति का सामना करूँगी। चाहे कोई साथ दे या ना दे। इस प्रकार हम देखें कि उर्मिला शिरीष कहानियों में केवल समस्या का ही चित्रण नहीं करती वरन उनके सटीक हल, और समाधान भी प्रस्तुत कर वे अपनी लेखकीय जिम्मेदारी का भी बखूबी निर्वहन करती हैं।

समाज के प्रत्येक वर्ग की स्त्रियाँ उनकी कहानियों की पात्र हैं। नकली हाथ कहानी घरेलू काम करने वाली स्त्रियों के दुख-दर्दों की कारुणिक अभिव्यक्ति करने वाली कहानी है। घर-घर में ऑटोमेटिक वॉशिंग मशीन के आ जाने से कैसे घरेलू काम करने वाली गरीब स्त्रियों के काम छिनते चले गये और उनकी जो छोटी सी कमाई थी उस पर डाका पड़ गया। इस काम के जाने से उनके बच्चों और उन पर कितना बुरा असर पड़ा, इसकी बारीकी से पड़ताल इस कहानी में की गयी है। यह कहानी उन तमाम परिस्थितियों पर गौर करती है, उन कारणों को सामने लाती है जिनके कारण गाँव के लोग शहरों की शरण में आये। मशीनीकरण के फलस्वरूप गाँवों में काम मिलना बंद हुआ तो खेतिहर मजदूरों ने शहरों का रुख किया। उनकी स्त्रियाँ घरेलू बाइयाँ बन गयीं लेकिन शहरों में भी जब हाथों की जगह नकली हाथों ने यानी मशीनों ने ले ली तो ये मजदूर कहाँ जायें। इस कहानी के अंत में एक मानवतावादी दृष्टिकोण कहानीकार उर्मिला शिरीष प्रस्तुत करती हैं। कथानायिका को जब यह अहसास होता है कि उसने अपने सुख-सुविधा की खातिर कामवाली के हितों पर कुठाराघात किया है तो वह बाई से कहती है कि अब तुम अपने हाथों से ही मेरे घर के कपड़े धोओगी। तुम्हारे हाथों की जगह कोई मशीन नहीं ले सकती और बाई के चेहरे पर मेहनत और विश्वास के रंग को सुबह के सूरज की लालिमा के रंग की तरह उतरते देखकर प्रसन्न होती है।

उर्मिला शिरीष की कहानी 'रोटियाँ' कहानी मिसेज वर्मा के एक जानवर के प्रति करुणा भाव रखने और उसे रोटियाँ खिलाने के बहाने से हमारे समाज की मनोवृत्ति की गहरी छानबीन करती हैं। जिन रोटियों ने क्रांतियाँ करवाई, जिन रोटियों ने युद्ध करवाया, जिन रोटियों के लिये इंसान रात-दिन

मरता-खपता है, जिन रोटियों की चोरी करता है वही रोटियाँ आज उच्च वर्ग द्वारा फेंकी जा रही हैं और निरीह पशु के प्रति करुणा रखने वाली मिसेस वर्मा को कठघरे में खड़ा किया जा रहा है। उर्मिला जी की सभी कहानियाँ जीवन से उपजी हैं। संवेदनहीन होते जा रहे समाज में संवेदनाओं का आख्यान रचती उनकी कहानियाँ हर अन्याय को बेनकाब करती हैं, स्वार्थी मनुष्यों को निष्कवच करते हुए सच से साक्षात्कार कराती हैं। उनकी एक कहानी 'दहलीज पर' मन्नू भंडारी के उपन्यास 'आपका बंटी' के बच्चे बंटी की याद दिलाती है। 'दहलीज पर' खड़ा बच्चा बाबा जो अपने पिता की मृत्यु के बाद जन्म से ही अपनी नानी और मामा के साथ रह रहा है। मामा के बच्चों के साथ पढ़ता है, खेलता-कूदता है। उसकी जिंदगी में तूफान तब आता है जब उसकी माँ की दूसरी शादी दो बच्चों के पिता से परिवार द्वारा करायी है। शादी के समय शर्त रखी जाती है कि बाबा अपनी माँ के साथ रहेगा। माँ शादी के बाद माँ नहीं रहती वह पत्नी बन जाती है, अपने नये परिवार और पति के प्रेम में बाबा को भूल ही जाती है। उस घर में वह बच्चा अपने को अजनबी महसूस करता है। ऐसे में वह स्कूल से लौटकर मामी के घर जाता है लेकिन वह घर भी उसे अब पराया लगता है। बच्चा इस दहलीज से उस दहलीज पर जाता है। एक बच्चे का दुख, उसकी निरीहता की कारुणिक अभिव्यक्ति इस कहानी में हुई है। मामी के रूप में एक संवेदनशील स्त्री को रखकर उर्मिला शिरीष इस कहानी को एक सुखद मोड़ पर खत्म करती हैं।

'यात्रा' कहानी की माँ जो एक नदी थी, जो एक कविता थी, जो एक खूबसूरत पेन्टिंग की तरह थी, वो माँ कैसे विवाह के बाद धीरे-धीरे एक मनोरोगी बन गई थीं, उन्हें कोई शारीरिक बीमारी नहीं थी लेकिन मानसिक बीमारी जरूर थी। माँ की बेटी मन्नो ने माँ के अवसाद के कारणों को जान लिया था और अस्पताल से लौटने के बाद उनके धूल खाये कैनवास को साफ करके रंग कूची उनके हाथ में थमा दिये थे। माँ को उनका ख्वाब वापिस देकर मन्नो आश्वस्त थी कि माँ अब ठीक हो जायेंगी।

'तिकड़ी' कहानी की मीनाक्षी, छवि और लक्ष्मी 'उसका अपना रास्ता' की वृंदा और अनु दी, 'पत्ते झड़ रहे हैं' की अंबिका और सीमा, 'लौटकर जाना कहाँ है' की वन्या, 'रंगमंच' की विमला के रूप समाज की अधिसंख्य स्त्रियों के रूप और उनके जीवन की कटु सच्चाइयाँ उर्मिला शिरीष अपनी कहानियों में चित्रित करती हैं। मध्यम वर्गीय परिवारों की वे युवतियाँ जो फिल्मी दुनिया में या मॉडलिंग में कैरियर बनाना चाहती हैं, जिनके ख्वाब बहुत बड़े-बड़े हैं। जब वे अपने परंपरागत परिवारों से विद्रोह करके इस दुनिया में दाखिल होती है तब चमचमाती रोशनी के पीछे छिपे अँधेरों को देख पाती हैं। उर्मिला शिरीष ऐसी लड़कियों को आँसू बहाते नहीं दिखाती बल्कि उनकी कहानियों की ये लड़कियाँ विषम परिस्थितियों में भी टूटती नहीं हैं, अपना रास्ता स्वयं बनाती हैं।

उर्मिला शिरीष की कहानियों की खासियत यह भी है कि वे वक्त के साथ पुरानी नहीं पड़ी है वरन् और भी प्रासंगिक हो गयी हैं। उनकी कहानियों का कुछ हिस्सा सदैव बहुत गहरे अर्थों में प्रासंगिक बना रहता है और कुछ हिस्सा समकालीनता का अतिक्रमण करता है इसलिये उर्मिला शिरीष की कहानियाँ कभी पुरानी नही पड़ेंगी। कहानियों के पात्रों का जीवन संघर्ष और उनकी जीवटता को दिखाती कहानीकार उर्मिला शिरीष अपनी कहानियों में आशा की लौ प्रदीप्त रखती हैं। भाषा पर असाधारण अधिकार, शिल्प की सघन बुनावट और कथा रस की उपस्थिति पाठकों को बाँधकर रखती है। नि:संदेह उर्मिला शिरीष हिन्दी की श्रेष्ठ कहानीकार हैं जो जीवनानुभवों से प्राप्त चेतना और अनुभूतियों को अपनी कहानियों में प्रतिफलित करती हैं। जीवन और समाज से गहरी संबद्धता और मानवीयता उनके लेखन की जरूरी पहचान है। उनकी रचनाधर्मिता संवेदना के साहचर्य से आर्द्र है और मनुष्य के स्व की पहचान कराने में समर्थ है।

ए-16, पंचशील नगर,
नर्मदा रोड, जबलपुर-482001 (म.प्र.)
मो.-9993416937

उर्मिला शिरीष की कहानियाँ : मानवीयता के उत्स की खोज

– आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

जन्म – 15 अप्रैल 1960।
शिक्षा – एम.ए., पीएच.डी., डीलिट्।
रचनाएँ – आठ पुस्तकें प्रकाशित कतिपय सम्पादित।
सम्मान – अंबिका प्रसाद दिव्य रजत अलंकरण सहित अनेक सम्मानों से सम्मानित।

समकालीन हिंदी कहानी साहित्य के वृहत्तर परिदृश्य में एक चमकदार नाम है उर्मिला शिरीष। वे कई दशकों से महत्त्वपूर्ण कहानियाँ लिख रही हैं और अब 'चाँद गवाह' एवं 'खैरियत है हुजूर' उपन्यास रचकर उन्होंने हिंदी उपन्यास लेखन के क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज की है। केंचुली, शहर में अकेली लड़की, रंगमंच, निर्वासन, पुनरागमन, नाच गान, दीवार के पीछे, सहमा हुआ कल, मुआवजा, लोकप्रिय कहानियाँ आदि संग्रहों की कहानियाँ हमारे समय और समाज का प्रामाणिक साक्ष्य हैं। मनुष्य को गर्त में धकेल देने वाली उन तमाम दुर्वृत्तियों और कारणों का खुलासा करने के साथ ही उस परिवेश में जीने वाले मनुष्यों की विवशता और वैचारिक प्रतिरोध की कथा कहने में उर्मिला शिरीष का सानी नहीं है। किसी झूठे आदर्श के व्यामोह में पड़कर वे जीवन की कटु सच्चाइयों से न तो मुँह मोड़ती हैं और न ही जीवन के सुखमय पलों को नजरअंदाज करती हैं। उनकी कहानियों में जीवन की सहजता और मर्मस्पर्शिता कहीं कमतर नहीं हुई है। उन्होंने अपनी कहानियों में जिस जीवन-संसार का सृजन किया है उसमें सैकड़ों जीते-जागते स्त्री और पुरुष पात्र अपनी सोच, अपनी परेशानियों और संघर्ष के साथ मौजूद हैं। इन पात्रों के बहाने चिंतन के नये क्षितिज उद्घाटित हुए हैं। समाज के गहरे सरोकारों से उनकी कहानियों का वितान बुना हुआ है। अपने समय से निरंतर संवाद बनाये रखना उनके कहानीकार की विशेष सजगता और व्यापक जीवनबोध का प्रमाण है। यथार्थ का दंश, जीवन के नाना तनावों, प्रतिकूल परिस्थितियों, विडंबनाओं में भी वे अपने कथा चरित्रों के मन में जीवन के प्रति आशा और विश्वास का भाव बनाए रखने में विश्वास करती हैं। पराजय के अंतिम बिंदु पर पहुँच कर भी उम्मीद की एक किरण जगाए रखने में उर्मिला जी जीवन की सार्थकता मानती हैं। भटकाव और अनगढ़पन के साथ जीना उनके कथापात्रों को स्वीकार नहीं है।

साहित्य का सामाजिक दायित्व के संदर्भ में उर्मिला शिरीष एक आत्मसजग रचनाकार हैं। उन्होंने स्त्री विमर्श की ही कहानियाँ नहीं लिखी हैं। बोल्डनेस के नाम पर कुछ भी लिखना उन्हें स्वीकार नहीं है। एक जिम्मेदार नागरिक और साहित्यकार की हैसियत से वे अपने दायित्व पर विचार करते हुई कहती हैं-'मुझे लगता है कि एक लेखक को मानवीय संवेदनाओं, मूल्यों, बदलते हालातों के बीच मनुष्य की जिंदगी को देखना तथा उन अँधेरे कोनों को रोशन करना चाहिए जिस घर में या कोने में किसी की दृष्टि न गई हो।' **(राग भोपाली, उर्मिला शिरीष अंक, अप्रैल 2022,पृ. 18)** सचमुच उन्होंने अपने कथासाहित्य में समाज और व्यक्ति मन के न जाने कितने कोनों को झाँक ही नहीं लिया है, अपितु वहाँ उजाले की एक राह भी दिखाने की कोशिश की है।

आज के परिवेश में अच्छी बातों का असर किसी पर क्यों नहीं पड़ता है? आदर्श और सिद्धांत को किताबी ज्ञान मान लिया गया है। यह प्रश्न उर्मिला को भी परेशान करता है। साहित्य की भी अपनी भूमिका प्रश्नांकित हुई है। 'उस रात का सपना' कहानी में एक पात्र के हवाले लेखिका कहती है कि 'कोई रोशनी काम नहीं करती, वैसे आज कोई भी विचार, सिद्धांत

और मूल्य काम नहीं करता, सब व्यर्थ है, बेअसर, बेमानी, जानते हो क्यों? क्योंकि सब आत्मकेंद्रित हो गए हैं, स्वार्थी, स्वजीवी।' **(राग भोपाली, पृ. 68)** इतना ही नहीं वे अन्य मुद्दों पर भी अपनी बात रखती हैं-'क्या धर्म को व्यक्तिगत नहीं होना चाहिए, उसे सार्वजनिक बना दिया है, उसकी पवित्रता और गरिमा को ठेस पहुँचाई। प्रार्थनाओं का संवाहक मार्ग आलोकित करने वाला धर्म आज घृणा और वैमनस्य का कारण बन गया है। सचमुच दोस्त, सोचकर मन आहत होता है। जनसेवा और कल्याण की भावना पर तो पाला पड़ गया है। सब अपना सोचते हैं। इसीलिए तो इतनी बेईमानी आ गई है। सारी व्यवस्था में भ्रष्टाचार खुला हुआ है। इसी भ्रष्टाचार ने मेरे जीवन को, मेरे कैरियर को बर्बाद कर दिया है और ऐसा करने वालों को संरक्षण मिलता रहता है।' **(वही, पृ. 68-69)** यह चिंता हर संवेदनशील प्रबुद्ध व्यक्ति की है जो सामाजिक सरोकारों से जुड़ा हुआ है।

साहित्य लेखनयात्रा में उर्मिला जी ने कहानियों के कई दौर देखे हैं। अपने समय और समाज के बदलते चेहरे को बखूबी पढ़ लेने का माद्दा उनमें मौजूद है। कहानियों के माध्यम से उन्होंने हिंदी कथा यात्रा में एक सार्थक हस्तक्षेप किया है। उनकी कहानियाँ हमारे आसपास के जीवन यथार्थ, संघर्ष, स्त्री-पुरुष संबंधों और उसमें आये बदलाव और सामान्य जीवन के अनगिनत प्रसंगों व चरित्रों की बड़ी सजीव झाँकियाँ हैं जिसकी वैचारिक भावभूमि समृद्ध है। 'श्रेष्ठ कहानियाँ' संग्रह की भूमिका में वे लिखती हैं-'मैं अपने परिवेश से, अपने आसपास के समाज से हटकर कुछ सोच ही नहीं पाती हूँ। इसलिए जब मैं अपनी इन कहानियों चीख, बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु, संयोजक, तिकड़ी, उसका अपना रास्ता, पत्ते झड़ रहे हैं, अंगारों की हँसी, एक और प्रतिज्ञा, दीवार के पीछे के बारे में सोचती हूँ तो लगता है समकालीन जीवन, समय और समाज को लेकर लिखी ये कहानियाँ मुझे बार-बार अपनी ओर क्यों खींचती हैं। इन कहानियों को लेकर मैं इतनी पजेसिव क्यों हो जाती हूँ। शायद इसलिए कि इन कहानियों में मेरे अपने आसपास के मनुष्य, समाज का संत्रास, प्रतिरोध, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष और इन सब से लड़ने की छटपटाहट मौजूद है। यह कहानियाँ मेरे समय के यथार्थ को मानवीय जीवन की तमाम अंतर्धाराओं को, अंतर्विरोधों को व्यक्त करने की कोशिश करती हैं। मेरे लिए कहानी जीवन है, जीवन का सच है, मानवीय संवेदनाओं को बचाए रखने का सशक्त माध्यम है। इसलिए जब भी मेरे भीतर कोई वैचारिक या मानसिक आंदोलन उठकर मुझे विचलित कर देता है तब मैं कहानी में अपनी मुक्ति तलाशती हूँ।' **(पृ. 8-9)** यह मुक्ति की तलाश संवेदना और मानवीयता के उन तमाम स्रोतों से जुड़ी है जो समाज के परिवर्तन के लिए कारगर सिद्ध होंगी।

बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध से लेकर वर्तमान समय और समाज का चेहरा और उस पर लगी खरोंचों को उर्मिला ने बहुत गहराई से देखा है। दु:ख-दर्द की तमाम रेखाएँ स्पर्श करते हुए उन्होंने जीवन की कोमलता, माधुर्य, सद्भाव, प्रेम, करुणा आदि को बचाये रखना बेहद जरूरी समझा है। समस्त परस्पर विरोधी भावनाओं के बीच लेखिका जीवन के मर्म को तलाश लेती है। विरुद्धों के सामंजस्य की ही नहीं, बल्कि जीवन के मर्म को पहचानते हुए एक बेहतर इंसान और सुंदर व स्वस्थ समाज के स्वप्न को साकार करना उन्हें सुभीता लगता है। बतौर एक अनुभवी अध्यापक के रूप में उर्मिला शिरीष जीवन -जगत् के अंतर्सत्य को अपने आनुभूतिक सत्यानुभवों से जोड़कर देखती और परखती हैं। मानवीयता की डोर से बँधी कहानियों में लेखिका बहुत संजीदगी से अपने मन का द्वार खोल सकी है। कहानी में बौद्धिक विमर्श के साथ ही संवेदनशीलता की खास जरूरत होती है। अपने कहानी लेखन के उद्देश्य पर रोशनी डालते हुए उर्मिला कहती हैं-'बस दिमाग में बौद्धिक विमर्श चलता रहता है। बुद्धि और हृदय का संघर्ष एक ही सवाल पूछता है कि आखिर कहानी में कहानीपन है या नहीं? संवेदना है या नहीं? कहानी का जो मूल स्वभाव और चरित्र होता है वह है या नहीं? वह पाठकों के मर्म को छुएगी या नहीं? उसकी भाषा कहानी की आत्मा को शब्दश: पहुँचा रही है या नहीं और कहानी कहानी की तरह याद रहेगी या नहीं? जब तक लिखूँगी, यह सवाल ये द्वन्द्व, ये संघर्ष लगातार चलते रहेंगे। क्योंकि जिस दिन यह संघर्ष, यह सवालों की शृंखला, यह द्वंद्व की पीड़ा और मनुष्य समाज से अपने जुड़े होने का भाव बोध खत्म हो जाएगा उस दिन लिखना भी बंद हो जाएगा।' **(राग भोपाली,पृ. 7)**

कहानी लेखन के उद्देश्य को अपने नागरिक बोध से जोड़कर देखना उर्मिला शिरीष अपना नैतिक दायित्व मानती है। उनका कहना है-'मुझे लगता है कि एक लेखक को मानवीय संवेदनाओं, मूल्यों, बदलते हालातों के बीच मनुष्य की जिंदगी को देखना तथा अँधेरे कोनों को रोशन करना चाहिए जिस घर में या कोने में किसी की दृष्टि न गई हो।' **(रागभोपाली,पृ18)** उनकी ढेरों कहानियाँ इस बात का यकीन अपने पाठकों को दिलाती हैं। उनकी कहानियाँ वैचारिक प्रतिबद्धता और जीवन के विविध रंग रूपों को सहेज लेने की उत्कंठा के साथ पाठकों के दिलोदिमाग पर सार्थक दस्तक हैं।

स्त्री के सुख-दु:ख और संघर्ष की कहानियाँ लिखना उर्मिला शिरीष के लिए सहज और सरल जरूर लगता है, किन्तु इतने सारे स्त्री चरित्रों की धड़कनों से जुड़कर उनके मन को टटोलना और बाहरी जीवन-संघर्षों की यथार्थ परतों को उघाड़ना उनके लिए कम चुनौती नहीं है। स्त्री विमर्श से प्रेरित होकर उर्मिला जी ने सर्वाधिक कहानियाँ रची हैं। वृद्ध विमर्श का कोना भी वे झाँक आई हैं। समाज और व्यक्ति जीवन के न जाने कितने उजले और अँधेरे कोनों को पूरी संवेदनशीलता के साथ देख-समझ लेना वे अपना लेखकीय धर्म समझती हैं। मानवेतर जगत् के पात्र भी उनकी कहानियों का द्वार खटखटाते हुए दिखाई दिए हैं। 'रोटियाँ' कहानी में कुत्ते के प्रति और 'चरवाहा' में गाय के प्रति कहानीकार की संवेदना के तार इस तरह जुड़ते हैं कि पाठक का हृदय झंकृत हो उठता है। मध्यवर्गीय जीवन के सामान्य संदर्भ और कथा चरित्र भी उर्मिला शिरीष की कथा प्रतिभा और संवेदनशीलता के संस्पर्श से अद्वितीय और जीवंत बन गए हैं। कथाकार की प्रगतिशील दृष्टि, संवेदनशीलता और मानवीयता के उत्स की खोज उनकी कहानियों को नया परिप्रेक्ष्य प्रदान करती है। स्त्री हो या हाशिये का समाज, उनके जीवन-संघर्ष को लेखिका ने स्वाभाविक रूप से चित्रित किया है।

स्त्री अपने जीवन में सबसे ज्यादा दुखी अपने पति के द्वारा उपेक्षित और अपमानित होने पर होती है। जवान बेटे के सामने वह स्त्री जो एक माँ है, पति के द्वारा निगलेक्ट किए जाने पर मानसिक पीड़ा झेलती है। 'प्रार्थनाएँ' कहानी की माँ सरिता ऐसी ही माँ है जो लगातार पति की उपेक्षा का शिकार बनी हुई है। उसके सुख-दु:ख से पति का कोई लेना-देना नहीं है। यही बात बेटे को बहुत अखरती है। वह अपनी माँ के जीवन में बदलाव ले आना चाहता है। पति के कठोर व्यवहार से हारी -थकी उस माँ के प्रति सहानुभूति रखते हुए माँ के प्रति अपना दायित्व समझने वाला बेटा उसके हक में पिता से वैचारिक धरातल पर टकराने में संकोच नहीं करता है। 'लोग उस बेटे को ग़लत समझते हैं।' सबको लगता है उसके मन में माँ के लिए कुंठा पैदा हो गई है वह आहत और असुरक्षित महसूस कर रहा है। वह सबके सामने माँ की इज्जत बढ़ाना चाहता है। शायद माँ को पापा के बरअक्स खड़ा करना चाहता है। माँ-पापा के बीच दरार पैदा करना चाहता है। वह जताना चाहता है कि इस घर में उसी को इस औरत यानी अपनी माँ की चिंता है। वह साबित करना चाहता है कि वह सच्चा समर्पित और फिक्रमंद बेटा है और ताकीद करना चाहता है कि तुम सब माँ को अकेला मत समझना। 'जबकि उस बेटे की भूमिका बेहद सकारात्मक है।' वह तो पंडित के सामने बैठा है आँखें मूँदे हाथ जोड़े, सिर झुकाए, ध्यान में लीन, सचमुच प्रार्थना कर रहा है। संकल्प ले रहा है माँ-पापा को एकात्म करने का। उन्हें करीब लाने का उनके बीच प्रेमाभाव प्रस्फुटित करने का। बल्कि वह चाहता है कि जिस माँ की पवित्र मिट्टी में पापा का बीज पड़ा था, उसकी उत्पत्ति का वह प्रतिरूप है। दो शरीरों का एक शरीर एक मन एक आत्मा उसके लिए माँ-पापा धरती हैं, आकाश हैं, समंदर हैं, हवाएँ हैं, धूप हैं, पानी हैं। उन दो अलग शरीरों से उत्पन्न वह 'जीव' अनवरत कोशिश कर रहा है।

अपने माध्यम से जुड़ने का जोड़ने का और यह लोग हैं कि माँ -पापा को विलग किनारों पर खड़ा देखना चाहते हैं। नहीं वह ऐसा नहीं होने देगा। वह माँ की हर इच्छा को पूर्ण करना चाहता है। **(नाच गान, पृ. 17-18)** 'सिगरेट' कहानी भी दांपत्य जीवन के द्वंद्व को रेखांकित करती है। हर छोटी-बड़ी इच्छाओं को नजर अंदाज करने वाले अपने पति को हार्ट अटैक आने पर सबसे अधिक चिंता उस पत्नी को ही होती है जिसकी अहमियत वह पहले नहीं समझ पाया था। 'जुड़े हुए हाथ'

कहानी में निम्नवर्गीय समाज की कामकाजी महिला के दोहरे संघर्ष का मार्मिक प्रसंग वर्णित है। रूढ़ परंपरा और बाजार के दुश्चक्र में फँसी स्त्री की मनोदशा और संघर्ष को बखूबी व्यक्त करती 'उसका अपना रास्ता', एक संजीदा कहानी है। जिंदगी में आगे बढ़ने की कामना लिए वह स्त्री सौंदर्य प्रतियोगिता में शामिल होती है। इसके लिए उसे घर-परिवार की मान-मर्यादाएँ त्यागकर माता-पिता का विरोध भी सहना पड़ता है। मिस इंडिया सौंदर्य प्रतियोगिता से बाहर होते ही प्रायोजक प्रेमी उसे छोड़कर मुंबई चला जाता है। अपनी इज्जत गँवाकर वह युवती हताश और दुखी रह जाती है। 'रंगमंच' कहानी एक नवविवाहिता की करुण कथा है जिसे ससुराल में अत्याचार ही नहीं झेलना पड़ता है, बल्कि उसे जला देने का प्रयास किया जाता है। पुलिस में अपने खिलाफ बयान न देने का दबाव भी परिवार द्वारा डाला जाता है। यह त्रासदी आज भी देखी जा सकती है।

स्त्री के साहस की भी कहानियाँ उर्मिला ने रची हैं। वैसे तो हर कहानी में स्त्री पात्र जीवन के संकट से उबरने में सक्रिय दिखाई देते हैं, किंतु 'समुन्दर' कहानी की नायिका, जिसके पति की असमय मृत्यु हो गई तो वह इस चुनौती का उत्तर देने के लिए स्वयं को तैयार कर लेती है। वह अपने माता-पिता से कहती है-'हमेशा कौन किसका साथ देता है? किसका साथ रहता है? सबको अकेले ही जीना पड़ता है। क्या आपको यह बात अब भी समझ में नहीं आ रही है? पापा प्लीज़ पेड़ तो कट कर गिर ही गया है। उसकी जड़ों को मत उखाड़ो। **(रंगमंच,पृ 23)** 'शहर में अकेली लड़की' कहानी भी स्त्री सशक्तिकरण का एक अनूठा झरोखा खोलती है। अकेली लड़की पति के जुल्मों की शिकार अपनी बड़ी बहन के पक्ष में कानूनी लड़ाई लड़ने का संकल्प लेती है और अंतत: उस पति के चंगुल से बहन को मुक्त करा लेती है। पुनर्विवाह के द्वारा वह अपनी बहन के भविष्य को सँवारना चाहती है। मुक्ति की छटपटाहट हमें 'लौट कर जाना कहाँ है' कहानी की वन्या में दिखाई देती है। उसका यह कथन कितना अर्थपूर्ण है-'पापा मैं तुम्हें कभी माफ नहीं करूँगी।' जूझने की प्रवृत्ति नायिकाओं में मौजूद है। 'यही सच है' की निमी अपनी निरीहता से ऊबकर जूझने की शक्ति अर्जित कर लेती है। 'दलाल' कहानी की स्त्री का तेवर देखिए-'आग लगे रिवाजों में' जैसा कथन उसमें जग रहे विद्रोह का संकेत है। ढहते कगार की मजदूरिन रमिया एक दबंग औरत है जो मेहनती है, किन्तु किसी का अत्याचार बर्दाश्त नहीं कर सकती है। मालिक से उधार लिए गए तीन हजार रुपए के ब्याज चुका देने पर भी मूलधन बचे रहने की चिंता उसे परेशान करती है। मालिक के द्वारा किए गए अपमान और अन्याय को सहन कर रहे अपने पति की दुर्गति उसे बर्दाश्त नहीं होती है। जब एक दिन मालिक उसके पति को काम के लिए सुबह जगाने पहुँचता है तब वह पति को जगाने से इंकार कर देती है। यहाँ उसका आत्मविश्वास जागृत है। उसमें साहस का भाव संचरित होना समय की माँग है। वह अपनी चाँदी की करधनी व कड़ा बेचकर कर्जा चुका देगी। मालिक नाराज होकर काम न दे तो न सही, जहाँ भी मेहनत करेंगे वहीं काम मिल जाएगा। 'चपेटे' भी गाँव में रहने वाली दलित रामबती के विद्रोही स्वभाव की कथा है, जो बदचलनी, ऊँचे लोगों की घृणा और उपेक्षा का प्रत्युत्तर बिरादरी, कुल, परिवार की मर्यादा, जाति को पैरों तले रौंदकर देती है।

इस समाज में स्त्री की पीड़ा का वृत्तांत किसी से छिपा नहीं है। सदियों से पुरुषवादी मानसिकता और सामाजिक संरचना का स्वरूप बहुत घिनौना और खतरनाक है। एक बलात्कृत स्त्री को समाज की उपेक्षा और घृणा मिलती है जबकि विडम्बना यह है कि अपराधी पुरुष का सामाजिक बहिष्कार नहीं किया जाता है। उसे कहीं भी शर्मिंदगी महसूस नहीं होती है। यही 'चीख' कहानी का कथ्य है। स्त्री के जीवन में आया यह संकट एक बड़ा प्रश्न है। बलात्कार की शिकार युवती को देखने और समझने में लोगों का नजरिया बहुत संकीर्ण और रूढ़िवादी है। उस पीड़ित युवती और उसके परिवार का दु:ख समझने की कोशिश समाज नहीं करता है। स्वयं उस युवती को आत्मग्लानि से मुक्ति पाना होता है ।'चीख' और 'उसका अपना रास्ता' कहानी को लिखने के पीछे कहानीकार की मनोभूमि कितनी पीड़ादायक है, स्वयं उसी के शब्दों में, सवाल थे कि अंतत: बलात्कार पीड़ित लड़की या महिला को ही दोषी क्यों माना जाता है? समाज, परिवार और स्वयं पीड़िता अपराध बोध, आत्मग्लानि से क्यों भरी होती है और कानून असली अपराधियों को क्यों इतनी आसानी से छोड़ देता है?'

(राग भोपाली, पृ. 6) किसी भी उत्पीड़ित स्त्री के पक्ष में कलमकार सदैव से ही तना खड़ा रहता है। उस पीड़ित लड़की की मनोव्यथा इन शब्दों में व्यक्त हुई है-'बंद दरवाजे में मेरा दम घुटता है। ठंडी हवा आने दो ताकि मैं ठीक से साँस ले सकूँ और मेरे प्राण निर्विघ्न निकल सकें। सब के प्यार में वर्जनाएँ थीं।' यह विचार 'न बंद करो द्वार' की उस उम्र दराज माँ का है जो जीवन की अंतिम साँसें गिन रही है और जो अपने होने की तलाश में निरंतर भटकती रही है। पितृसत्तात्मक समाज की विडंबनाओं और अवमूल्यों से संतप्त और उत्पीड़ित एक स्त्री पति के कठोर व्यवहार, पुत्र की उपेक्षा और घर की वर्जनाओं से घिरी होकर दम घुटने से परेशान है और अपनी मुक्ति के लिए छटपटा रही है। समाज में रिश्तों के दरकने की आहट लेखिका ने पिता और पुत्र के बीच टूटते संबंधों में भी महसूस की है। यह दो पीढ़ियों की सोच का अंतराल है।

आज की स्त्री और उसकी आधुनिक सोच को 'एक और प्रतिज्ञा' एवं 'तिकड़ी' शीर्षक कहानियों में समझा जा सकता है। स्त्री के जीवन में आये बदलाव और चैतन्यता को मानवीयता के उत्स के रूप में देखना सुखद अनुभव है। बदलते समय और समाज के संदर्भ में स्त्री बहुत बदल गई है। उसका जीवनबोध बदल गया है। दयनीयता और अबलापन के लिए उसके जीवन में कोई स्थान नहीं है। शोषण, तिरस्कार और पीड़ा को उसने अपने जीवन से झटक दिया है। सच्चाई और न्यायप्रियता इस आधुनिक स्त्री के प्रमुख अस्त्र हैं।

स्त्री जीवन के कई प्रश्न उर्मिला शिरीष की कहानियों में उपस्थित हुए हैं। 'मुआवजा' कहानी बाल विधवा के कष्टप्रद जीवन की मार्मिक कथा है। उसे परिवार में कितने ही हाथों का खिलौना बनना होता है। पति और उसकी मृत्यु का मर्म और दर्द वह नहीं समझ पाती है। स्वयं लेखिका के शब्दों में 'बाल विधवा का जीवन कितने हाथों का खिलौना बन जाता है और वह समझ ही नहीं पाती है कि आखिर पति की मृत्यु का उसकी सहज जिंदगी से क्या संबंध है? उसका जीना, पहनना और ओढ़ना, खाना-पीना सब कुछ एक अनजानी छाया से क्यों ग्रस्त है?' **(राग भोपाली, पृ. 5)**

कथाकार की संवेदना की उर्वर और विस्तृत धरती पर हमारी जिंदगी के न जाने कितने रूप-रंग और स्वप्न बिखरे हुए हैं। व्यक्ति मन के अनेक रंग समाहित हैं। यह सच उर्मिला शिरीष की कहानियों में प्रकाशित हुआ है। उनकी कहानियाँ संवेदनशीलता के मजबूत धागे से बुनी हुई हैं। उनमें जिजीविषा का गाढ़ा रंग सबसे ऊपर है। 'पत्ते' कहानी में एक पत्नी का अपने पति की बुढ़ापे की लंबी बीमारी में सेवा-सुश्रुषा करते हुए ऊब जाना बड़ा स्वाभाविक है। पति मौत के सन्निकट है, पर मृत्यु जैसे उनसे रूठ गई थी। बीमारी, अनिद्रा, कमजोरी और उनकी आदतों से, बातों से थककर, विवश होकर जब लगा कि अब अपने वश में कुछ नहीं बचा। **(नाच-गान, पृ. 42)** उस बीमार बाप की सेवा में उसके बच्चे और पूरा परिवार भी शरीक है। यह बड़ी बात है, जब गाँव, नगर, महानगर में बड़ी तेजी से वृद्धाश्रम खुल रहे हों तब यह कहानी विश्वास दिलाती है कि अभी भी बहुत कुछ शेष है-'अर्धमूर्छित अवस्था में बड़बड़ाते दादा के सिर को अपनी गोदी में रखे वह कैसे विश्वास दिलाए कि वह अपने ही घर में, अपने ही कमरे में, अपने लोगों के बीच रहेंगे। झर-झर बहते हुए आँसुओं को वह प्रार्थना करते हुए पूछ रही है कि बस एक बार दादाजी को ठीक कर दो उनकी चेतना वापस लौटा दो ताकि उन्हें विश्वास दिलाया जा सके कि वह अपने घर में ही है।' **(पृ. 8)** लेखिका महसूस करती है कि आज संवेदना, करुणा, सुंदरता और आत्मीयता का गहरा संकट है। सब अपनी जेबें भरने में लगे हैं। समाज के हालात बच्चियों के साथ होने वाले बलात्कार नदियों और जंगलों की हालात, यह देखिए गंदगी का ढेर, भीख माँगते बच्चे, लूटपाट करते, मर्डर करते, हिंसा फैलाते युवक।' **(एक और डाक्टर, पृ. 52)** डॉक्टरी पेशे में सेवा की जगह प्रोफेशनलिज्म आ गया है। हर चीज का व्यापार हो रहा है। यह बातें हर आदमी को परेशान किए हुए हैं। लेखिका का दृढ़ विश्वास है कि ऐसा भी नहीं है कि संवेदनाएँ समाप्त हो गई हैं। कोई स्रोत अवश्य बचा हुआ है।' उसे लगता है कि जिंदगी खत्म हो रही है या कभी भी खत्म हो सकती है। पर डॉक्टर तो जीने की वजह बनते हैं।' **(पृ. 54)** राग-विराग के बंधन में मनुष्य की धड़कनें बँधी हुई हैं। बुढ़ापे में स्त्री को

अकेलेपन की समस्या परेशान करती है। 'राग विराग' कहानी में यही सच उजागर हुआ है।

प्राकृतिक संसाधनों को बचाये रखने की चिंता भी लेखिका को है। पानी जीवन के लिए सृष्टि का बेशकीमती उपहार है। इसे बचाये रखने की चिंता में 'मीठे पानी का कुआँ' कहानी रची गई है। नगर हों या फिर गाँव, पीने के पानी की विकट समस्या से जूझ रहा है। कहानीकार की संवेदनशीलता अद्भुत है कि वह इस पीड़ा का गहरा एहसास पाठकों में जगाना चाहती है। कुएँ में पानी की कराह उन्हें सुनाई देती है। 'पानी थोड़ा ऊपर आया, कुएँ की दीवार से टकराया और उदास होकर बोला मानुष, तेरा खून इतना गंदा क्यों हो गया कि पानी में मिलने पर पानी को ही त्याग दिया है।' (पृ. 91)

उर्मिला जी की कहानियों में संवेदना का पाट बहुत चौड़ा है। पशु-पक्षी भी अपनी जगह पा गए हैं। 'चरवाहा' कहानी में उस चरवाहे की कथा है जिसके लिए 'मंदिर पशुओं का वाड़ा था और देवी-देवता उसके गाय, बैल, भैंस और बछड़ा थे। चरवाहे ने यह काम अपने दादा जी से विरासत में लिया था।' (पृ. 92) चरवाहा केशव के लिए 'अपना गाँव, घर, पिता और दादा उतने ही प्रिय थे जितने कि वहाँ के पशु वह बिना पशुओं के नहीं रह सकता था।' (पृ. 94) गाँव में सूखा पड़ने की घटना याद कर वह सिहर उठता है। इसका कारण पशुओं, परिंदों की मौत, सूखते वृक्ष, खेत, कुएँ, बावड़ी का सूख जाना आदि की घटनाएँ केशव के मन को विचलित कर देती हैं। वह पशुओं को भूखा-प्यासा छोड़कर कहीं नहीं गया। 'भइया, ऐसा कौन आदमी होगा जो हमारे लिए सोचेगा। हमारे काम करवाएगा। हमारी मुसीबतों में साथ खड़ा होगा? कोई है अवतारी मानुष कोई तो आए और देखे कि हम किस हाल में हैं। सरकार बदलती है, नीतियाँ बदलती हैं, नए नाम होते हैं पर उनके भीतर का इंसान लगभग एक जैसा होता है अब ये ठगन विद्या बंद होनी चाहिए भइया।' (वही, पृ.115)

यह प्रश्न देश के किसानों का ही नहीं है, हरेक संवेदनशील आम आदमी के जीवन से जुड़ा हुआ है। अफसर, नेता, पूरा प्रशासन मौन साधे हुए है। इस व्यवस्था के खिलाफ लड़ने की जरूरत भरत महसूस करता है-'जो कागजों पर लिखा गया था, जो कागजों में था, उन्हें ठीक से समझना और पढ़ना चाहता था। उसके सामने अपनी योजना को पूर्ण करने की चुनौती थी। अन्यथा उनकी नजरों में वह भी उन लोगों की तरह झूठा, विश्वासघाती, स्वार्थी और अवसरवादी बन जाएगा। एक लंबी लड़ाई के लिए वह स्वयं को तैयार कर रहा था; क्योंकि इस बार उसकी लड़ाई स्वयं के लिए नहीं, अपने गाँव के लिए शुरू होने वाली थी।' (पृ. 117)

प्रेम जीवन का सबसे बड़ा मानवीय मूल्य और जीवन शैली है। व्यापक संदर्भ है प्रेम का उर्मिला की कहानियों में। युवा पीढ़ी प्रेम की गंभीरता और मूल्यवत्ता को ठीक से नहीं समझ पायी है। वह बहुत गैरजिम्मेदार भी है। 'बाँधों न नाव इस ठाँव बंधु' और 'पत्ते झड़ रहे हैं' कहानी में भौतिक सुख की आस में प्रेम और आत्मीयता के विलोपन की गहन अनुभूति व्यक्त हुई है। प्रेम आत्मा की उच्चतम भावस्थिति का प्रमाण है।

लेखिका अपने आसपास के जीवन यथार्थ की ऐसी जीवंत कहानियाँ रचने में माहिर है जहाँ रिश्तों के खुरदुरेपन और प्रेम की असलियत प्रकट होने के साथ ही स्त्री मुक्ति की नयी जमीन तलाश ली जाती है। कितनी भी जटिलताएँ और विडंबनाएँ हों स्त्री अपने जीवन-संघर्ष में निराश और हताश होकर जीना नहीं चाहती है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था के किले की दीवारें हिला देने की शक्ति है उसमें। दहलीज पर, निर्वासन, जुड़े हुए हाथ, प्रतीक्षा आदि अनेक कहानियों में स्त्री पात्र अपने लिए सही राह खोजते हुए समाज की रूढ़ियों, अंधविश्वासों को दरकिनार कर अपनी नई छवि गढ़ने में तत्पर हैं।

आज समाज में वृद्धों की समस्या भी हमारे जीवन मूल्यों की गिरावट और रिश्तों के खोखलेपन को प्रकट करती है। वृद्धों के प्रति लेखिका की गहरी संवेदनशीलता और जागरूकता उनकी कहानियों की मूल्यवत्ता को द्विगुणित कर देती है। परिवार में हाशिए पर धकेल दिए गए ऐसे लोगों की जिंदगी

के दर्द को वे बखूबी पहचानती हैं। बहू-बेटों के द्वारा उत्पीड़न, घर से निर्वासन, संपत्ति हड़पने का षड्यंत्र, असम्मान आदि के कारण वृद्धों का कष्टमय जीवन के संकट को वानप्रस्थ, निर्वासन, हैसियत, पत्ते , राग विराग, धरोहर, उसका अपना रास्ता, पत्थर की लकीर, धरोहर, प्रतीक्षा आदि कहानियों में दर्शाया गया है। परिवार में एकता/ आपसी समन्वय और सद्भाव का वातावरण बना रहे और उसमें स्त्रियों की सार्थक और प्रधान उपस्थित बनी रहे, यही स्वर उर्मिला शिरीष की वृद्ध विमर्श से जुड़ी कहानियों में प्रकट हुआ है। 'निर्वासन' कहानी का वृद्ध 'बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु' और 'प्रतीक्षा' कहानी में हमारे सामने प्रकट हुआ है। उसके जीवन की विडंबनाओं, विवशताओं निरीहता, उपेक्षा और उदासीनता का गहरा अवसाद लेखिका ने महसूस किया है। 'बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु' कहानी का बूढ़ा युवा विधवा रूपा की सेवा के प्रति अपनी भावनाएँ व्यक्त करना चाहता है। अशक्त बूढ़े का अपना सगा बेटा ही उसका राजदार बन गया है। रूपा से मिलने का प्रयास बूढ़ा करता है, किंतु अपनी गंभीर बीमारी के कारण वह कोमा में पहुँच जाता है। उसकी मृत्यु हो जाती है। रूपा बड़े पुत्र को घर की चाभी सौंपकर चली जाती है। प्रेम के इस शाश्वत और उदात्त रूप कहानी का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। 'निर्वासन' कहानी में वृद्ध पिता को अपने डूबते व्यापार को बचाने के लिए अपने दोनों बेटों की जरूरत पड़ती है, किन्तु उनका असहयोग का रवैया उस पिता को बहुत दुखी कर देता है। गहरे अवसाद में डूबा बूढ़ा बाप घर छोड़कर कहीं चला गया। परिवार में किसी को भी उसके जाने की कोई चिंता नहीं होती है। अचानक पोते को एक दिन भीख माँगते हुए वह दिखाई दिया और उसकी मदद से उसके दादा का निर्वासन समाप्त हो गया। 'हैसियत' और 'प्रतीक्षा' शीर्षक कहानियाँ वृद्धावस्था में अकेलेपन का दर्द जी रहे तथा परिवार व समाज में दरकिनार कर दिए गए यानी बाहरी इंसान हो जाने की पीड़ा झेल रहे एक वृद्ध की व्यथा कथा है।

जीत 'और' माँ बेटी और चिड़िया 'भी वृद्ध जीवन के एकाकीपन की व्यथा-कथा है।' पीले पत्ते' कहानी भी बुढ़ापे के दिनों में अपने ही बेटे-बहुओं की उपेक्षा, बोल-कुबोल और अनादर से दुखी माँ की पीड़ा का आख्यान है। लेखिका ने नई पीढ़ी की सोच में आये बदलाव को रेखांकित किया है 'हमारे जन्मदाता हम पर बोझ क्यों बन जाते हैं, जबकि उनकी बाँहों में हमारा बचपन बीतता है। क्या एक पीढ़ी का अंतर इतना होता है कि अपने पराए हो जाते हैं। पर भला हो ईश्वर का जिसने समय रहते मेरी आँखें खोल दीं।' आज वृद्ध माँ-बाप के प्रति बेटों की बढ़ रही उदासीनता, उपेक्षा को एक बड़ी समस्या के रूप में देखा जा रहा है। उर्मिला की कहानियाँ इस सवाल से टकराती हैं।

अपनी जिंदगी में कहानीकार ने तमाम ऐसे चरित्र और उनकी पीड़ा अपनी खुली आँखों से देखी और समझी है। वे लिखती हैं-लगता था कि कैसे उनके दर्द को साझा करूँ। मेरे लेखन का यह नया पड़ाव था। मुझे संबंधों, मूल्यों और नैतिकता का अलग रूप देखने को मिला। जिसे मैंने 'आशिक अली', 'सच के आगे का सच', 'असमाप्त अंगारों की हँसी' में अभिव्यक्त करने की कोशिश की।' **(राग भोपाली, पृ. 6)** हिंदू और मुस्लिम संबंधों में सदियों से तनाव और संघर्ष के कारण भारतीय समाज और संस्कृति को गहरा आघात पहुँचा है। इस ज्वलंत समस्या के मूल में सांप्रदायिक सोच, परस्पर अविश्वास और कुत्सित राजनीति की जड़ें गहरी और मजबूत हुई हैं। 'अंगारों की हँसी' और 'दीवार के पीछे' दोनों कहानियाँ सांप्रदायिकता के सवालों को उठाती हुई उसमें फँसे लोगों की यातना को बयान करती हैं; क्योंकि यह भी एक मानसिकता है, सोच है जो कितनी तरह की बातों को, चीजों को पुनः सोचने की तरफ खींचती है। **(पृ. 9)** आशिक अली कहानी का नायक आशिक अली निर्दोष होने के बावजूद भी सांप्रदायिक हिंसा के लिए दोषी मान लिया गया है। यह कहानी सांप्रदायिकता के वीभत्स चेहरे को उजागर करते हुए आशिक अली जैसे कामकाजी लोगों की तकलीफ़ का बयान है।

उपभोक्तावाद समाज में घटती मानवीयता, छीजते जीवन मूल्यों, पारिवारिक रिश्तों में आये विघटन के लिए जिम्मेदार माना गया है। इस व्यवस्था में अपने अस्तित्व की पहचान और

प्रतिरोध भावना को समझने की हर कोशिश उर्मिला शिरीष की स्त्री विमर्श की कहानियों में मिलती है। 'रंगमंच' कहानी संग्रह की अधिकांश कहानियाँ उपभोक्तावादी समाज में मनुष्यता की खोज की कहानियाँ हैं। न्याय व्यवस्था, अर्थतंत्र और राजनीतिक घटनाओं के दबाव में टूटे-हारे मनुष्य के कमजोर होते मनोबल, हताशा-निराशा और जीवन के अन्यान्य संघर्षों में जीने की उम्मीद को बचाये रखने की चिंता कहानीकार की मानवीय सोच और संवेदनशीलता का खुला बयान है। समाज में आये बदलाव को स्थापित करने के प्रयास में नई पीढ़ी की मानसिकता में आये परिवर्तन और समस्याओं का यथार्थपरक विश्लेषण महत्त्वपूर्ण है। अपने समय और समाज की नब्ज पर कहानीकार अपनी भरपूर पकड़ रखती है।

'तमाशा' कहानी में बाजारवादी सभ्यता की अलगाववादी सोच और जीवनशैली की शिनाख्त की गई है। महेश कटारे के अनुसार, 'इस कहानी का' वह जो पढ़ी-लिखी और प्रौढ़ भी है और हमसे क्या वास्ता रखने वाले रुझान की प्रतिनिधि है। दरअसल सफल को ही आइकॉन मानने के चलन ने दोगलेपन की जीवन पद्धति तथा अनागत भय का सृजन किया है जिसमें व्यक्ति क्रमशः आत्म निर्वासन की ओर बढ़ता है। **(राग भोपाली, पृ 92)**

किसानों के जीवन संघर्ष से भी उर्मिला शिरीष आंशिक तौर पर ही सही रू-ब-रू हुई हैं। सूखा पड़ने की स्थिति में बैंक से मिलने वाली सहायता राशि की वसूली के तौर तरीके पर उन्हें एतराज होता है। इसी पीड़ा की अभिव्यक्ति 'कुर्की' और बिवाइयाँ 'कहानी में देखी जा सकती है।' कुर्की 'कहानी में किसान की सबसे बड़ी विपत्ति बैंक का कर्जदार होना है, जिसका कोई अंत नहीं है। 'बिवाइयाँ' कहानी के उस किसान की पत्नी के पांवों में फटी बिवाइयों का दर्द समाज में कोई भी महसूस नहीं कर सकता है सिवाय उस किसान के। महाजन की दुकान से बीज-खाद के लिए पैसे उधार लेने के लिए गहने गिरवी रखने की विवशता है। इस किसान दंपति की आर्थिक विपन्नता का कोई समाधान नहीं है।

भोपाल गैस त्रासदी पर 'सहमा हुआ कल' कहानी लिखकर कहानीकार ने अपनी गहरी संवेदना व्यक्त की है। बच्चों पर केंद्रित दहलीज पर, झूलाघर, दाखिला, सुपारी जैसी कहानियाँ लिखकर उर्मिला ने अपनी चेतना को विस्तारित किया है। अछूत के प्रति लेखिका की अतिरिक्त सहानुभूति 'अछूत' कहानी में अभिव्यक्त हुई है। अंधविश्वास के चंगुल में फँसे ग्रामीण या कस्बाई इलाके के लोगों से क्या उम्मीद की सकती है? यही अभिशाप बनकर 'अभिशाप' कहानी में अभिव्यक्त हुआ है। इस देश की राजनीति के दागदार और नेताओं के भ्रष्टाचार में आकंठ डूबे चेहरे को देखने की चेष्टा 'पुनरागमन' कहानी में की गई है। इस कुत्सित राजनीति के विध्वंस में आशावाद की एक किरण ही सही, बचाने में लेखिका सफल होती है। 'मृग मरीचिका' कहानी वर्तमान भारतीय समाज का काला चिट्ठा है। यहाँ धर्म, समाज, राजनीति का गंदा चरित्र हमारे सामने खोलकर रख दिया गया है। लेखिका की चिंतित होना वाजिब है। फिर भी वह मानवीयता के सूत्रों को तलाश लेती है।

वस्तुतः समाज को समग्रता में देखने की कवायद उनकी कहानियों का विशिष्ट पक्ष है। गहरी मानवीय सोच और संवेदना के विस्तृत पटल पर जिंदगी के अनसुलझे सवालों के उत्तर तलाश लेना उनकी शख्सियत की पहचान है। विभेदकारी नीतियों और सोच के खिलाफ उर्मिला की कहानियाँ एक सामंजस्य स्थापित करने की गवाह हैं। व्यक्ति और समाज के बहुरंगेपन को उभारती कहानियाँ छीजते जीवन मूल्यों की परती पर मानवीयता के पुष्प खिलाने की अथक कोशिश है। शिरीष की कहानियाँ किसी खास देश काल की सीमाओं में न बँधकर सार्वभौमिक चेतना से अनुप्राणित हैं। अंततः हम कहना चाहते हैं कि उर्मिला शिरीष का संपूर्ण कथा लेखन इस कुरूपता, छल-छद्म, भ्रष्टाचार भरे समय और समाज के बीच से मानवीयता के उत्स की खोज है।

आचार्य, हिंदी विभाग
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर-470003 (म.प्र.)
मो. -9425656284

गुजरना सजा से इंसाफ के लिए
(खैरियत है हुजूर)

– नीरज खरे

जन्म – 1 दिसंबर 1969।
शिक्षा – एम. एससी., एम.ए., पीएच.डी.।
रचनाएँ – तीन पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – मीरा स्मृति सम्मान।

वरिष्ठ कथाकार उर्मिला शिरीष कहानियाँ लंबे समय से लिख रही हैं। उनके दर्जन भर से ज्यादा कहानी संग्रह हैं। बीती सदी के उत्तरार्द्ध से बदल रहे यथार्थ और खासतौर से स्त्री जीवन को लेकर लिखी गईं उनकी कहानियाँ विमर्श के केंद्र में रही हैं। कहानियाँ लिखने के बाद जब कोई कथाकार उपन्यास रचना की ओर आता है; तो उसकी दृष्टि समग्रता में जीवन के किसी अनजाने कोने की तलाश के लिए तत्पर होती है। इसकी रचनात्मक तैयारी कभी-कभी 'लंबी कहानी' में भी झलकती है। अपने हालिया समय की जटिलताओं और यथार्थ की गतिशीलता के चलते, समकालीन लंबी कहानियों में उनकी रचनात्मक प्रतिश्रुति देखने में भी आयी है।

जीवन की व्यापकता में किसी स्थिति, यथार्थ, अभाव या असंगति को मानवीय पक्षधरता से देखने, उसके प्रति प्रश्नाकुलता और किसी नजरिए से आलोचकीय असहमति रचना के लिए जरूरी प्रेरक हो सकती है। उनका साहित्यिक विधाओं की अंतर्ध्वनि में समा जाना स्वाभाविक है। जाहिर है कि उनकी अंतर्ध्वनि का स्पेस उपन्यास में कहीं ज्यादा है। इसीलिए लंबी कहानियाँ इन दिनों लघु उपन्यास (नॉवेला या नॉवलेट) की ओर शिफ्ट होने लगी हैं। कभी-कभी तो इनमें फर्क करना भी मुश्किल हो जाता है। उर्मिला शिरीष ने बहुत लंबी कहानियाँ लिखी या नहीं, पर अपने उपन्यास 'ख़ैरियत है हुजूर' (शिवना प्रकाशन, 2022) को लिखते हुए; लंबी कहानी और लघु उपन्यास के सैद्धांतिक भेद का पूरा ख्याल रखती हैं। यह प्रथमत: पृष्ठों की कुल संख्या को देखकर नॉवेला या नॉवलेट में ही आकारबद्ध हैं। इसके अलावा कथानक, घटना, पात्र आदि को लेकर नैरेटिव के एकाग्र नजरिए से लघु उपन्यास होने की शर्तें पूरी करता है।

आलोच्य उपन्यास में रिश्तों की क्षुद्र कुटिलताएँ, पेशेगत और व्यावसायिक स्वार्थ की कई परतें हैं। अपने संक्षिप्त कलेवर में यह संजीव नामक पात्र के जीवन से सत्ताइस साल, चार महीने और अठारह दिन के बीच गुजरी अत्यंत त्रासद व्यथा है। ऊपरी तौर पर संजीव को लेकर कथा एकरेखीय लगती है, पर वह इकहरी नहीं है। लघुता के विन्यास में भी वह बहुपरतीय है। आकार छोटा होकर भी इसका वस्तुगत घनत्व अधिक है। ऐसा होना किसी लघु उपन्यास की बेहद जरूरी खूबी हो सकती है; तभी वह लंबी कहानी से अलग भी कहा जा सकता है।

इस नजरिए से इसका फलक औपन्यासिक संभावनाएँ रखता है। उसके आयाम संजीव के साथ उसके परिवार की भी त्रासदी से सघन रूप से जुड़े हैं। खासतौर से उसकी पत्नी की पीड़ा है, जिसे ध्यान में रखकर उपन्यास काफी कुछ नैरेट हुआ है। यह स्त्री-पुरुष संबंधों की विडंबनाओं, तनावों और त्रास की बेहद असहज स्थितियों तक पाठकों को ले जाता है। कहने को कथा संजीव की निजी व्यथा है; पर उसकी इस व्यथा में हमारी न्याय व्यवस्था और आज के कारागारों के अंदरूनी व्यवस्था तंत्र की 'सच्ची कथा' भी आकर जुड़ी है। बल्कि, यही उपन्यास का खास उपजीव्य बनी है, जिसे मानवीय

अधिकार और न्याय कामना के वजूद पर लगातार छाए अंधकार के रूप में चिह्नित किया गया है। इस अंधकार को गहराने में न जाने कितनी दुरभि संधियाँ हैं–जो सच्चाई, ईमानदारी और नेक नियत का गला घोंटने पर उतारू हैं। हिंदी में ऐसे उपन्यास कम ही हैं, जिसमें आज के जेल जीवन की विसंगतियों को लक्ष्य किया गया हो! बहुत पहले लिखे गए रामवृक्ष बेनीपुरी के उपन्यास 'पतितों के देश में' जेल जीवन पर आधारित है, पर वहाँ लेखक के 1930 के कारावास–काल का अनुभव है। प्रसंगवश अनेक उपन्यासों में ऐसे अनुभव रहे भी हैं, पर मुख्य चिंता से इस अनुभव को केंद्रित करना अलग बात है। संभवत: समकालीन हिंदी उपन्यास में इस कथ्य पर कोई मुकम्मल उपन्यास नहीं है। इस तरह आलोच्य कृति में लगभग अछूते विषय को केंद्रीय कथ्य बनाने की पेशकश लेखकीय चिंता के साथ हुई है।

न्यायालय में फैसले के इंतजार की लंबी अवधि से गुजरना ही स्वयं में सजा है, भले ही बाद में फैसला ईमान के पक्ष में हो! न्याय व्यवस्था की अत्यंत मंद प्रक्रिया पर कहानियाँ कई याद की जा सकती हैं। मसलन मन्नू भंडारी की कहानी 'सजा' का कथ्य यही है पर उसका सारा संदर्भ अलग है। कथ्यगत समानता का यह (एक) पहलू इस उपन्यास की रचना भूमि का बखूबी और जरूरी हिस्सा बना है; पर संजीव की सारी व्यथा जैसे न्याय तंत्र, ईमान और नैतिकता की कसौटी बन गई है। फैसला आने के बाद संजीव अपनी पत्नी से रोते हुए गले लगाने के लिए कहता है। वह दुनियाभर के सामने, खुद के लिए और सबसे बढ़कर पत्नी के सामने निर्दोष साबित होकर बेहद खुश है। एक लंबी अवधि से दांपत्य रिश्ते पर पड़ी धूल तो झड़ जाती है; जब वे दोनों गले मिलते हैं। बड़ी कामयाबी के वक्त बेशक जश्न मनाने का मौका है। उपन्यास की समापन पंक्तियाँ हैं– 'पर वे अपमान, शर्म, यातना और संशय के सत्ताईस साल, चार महीने, अठारह दिन क्या लौट सकेंगे! और लौट सकेंगे उसके पिता... जो उसकी चिंता में असमय ही चले गए थे!' (पृ. 112) संजीव की दुखों भरी इस कथा के साथ अंत में पहुँचकर यकायक शायर मुनीर नियाज़ी का यह शेर याद आता है–

'जुर्म आदम ने किया और नस्ल-ए-आदम को सजा।
काटता हूँ जिंदगी भर मैंने जो बोया नहीं।।'

हालाँकि संजीव को अंतत: न्याय मिला, पर उस लंबे समय की यातना, उसका अपने निजी और परिवारिक जीवन से वंचित होना क्या किसी 'सजा' से कम है! इस पहलू से उपन्यास की परख करते हुए; इसके दूसरे पक्षों को नजरंदाज नहीं करना चाहिए। दूसरे अर्थ में इसकी बहुपरतीयता की हरएक परत को देखना चाहिए। आशय यह भी कि कोई भी मानवीय नियति, घटना या परिघटना निर्वात में घटित नहीं होती, उसके कार्य कारण समाज और हमारे व्यवस्था–तंत्र से ही गहरे जुड़े होते हैं। उपन्यास के इन सारे परिप्रेक्ष्यों को क्रमश: समझना चाहिए। वैसे तो संजीव और उसके साथी अमित के प्रेम–प्रसंग का भी जिक्र आता है–प्रेम कथा के विन्यास में उपन्यास के विकास की उम्मीद बनती है, पर उसका जल्दी ही पटाक्षेप होता है। अपने परिवार की आर्थिक स्थिति को लेकर संजीव के अपने काम्प्लेक्स हैं; जिससे उसके प्रेम की वैवाहिक परिणति घटित नहीं हो पाती। लेखिका इन सारे प्रसंगों को ज़्यादा विस्तार न देकर अतिशीघ्रता में दर्ज भर करती हैं। जिसका कारण यही है कि संजीव के पिता–परिवार द्वारा तय किए गए उसके विवाह के बाद, कथा को अपने मुख्य धरातल पर आना था।

स्त्री–पुरुष नजरिए से देखें तो उसकी सामाजिक कड़ी उपन्यास में मौजूद है। अगर विवाह लड़के–लड़की की रजामंदी से न हुआ हो तो उसके दुष्परिणाम दूरगामी हो सकते हैं। उन्हें संजीव और उसकी पत्नी के दांपत्य जीवन की अनेक तनावपूर्ण स्थितियों से गुजरते हुए देखा जा सकता है। संजीव मेहनती, ईमानदार और प्रतिभाशाली है। जाहिर है मेडीकल की पढ़ाई पूरी करने के बाद वह मेडीकल प्रोफेशन में आ रहा था और बेहतर डॉक्टर भी बनता। मगर पैसा उगाहने के लोभ–लालच में उसकी प्रतिभा का गलत मोर्चे पर इस्तेमाल हुआ और उसमें भी वह फर्जी अंकसूची सत्यापित करने के झूठे मामले में फँसा दिया गया। संजीव अपनी नौकरी छोड़, कमीशनखोरी की बदौलत फलने–फूलने वाले फारमासुटिकल के व्यवसाय

में जी तोड़ मेहनत करता है। ससुराल पक्ष का यह व्यवसाय उसके जुड़ने से खूब उन्नति भी करता है; लेकिन अपने ही नाते-रिश्तेदारों के दोहन का शिकार बनता है। उनके ही षड्यंत्रों के भँवरजाल में फँसता चला जाता है। संबंधों के बीच ऐसी स्थितियाँ पैदा होती हैं; तो उसके कारणों की खोज में हमारे व्यवस्था तंत्र के नामालूम अँधेरे रौशन होने लगते हैं।

हालाँकि देशकाल से परिचित कराती हुई ठीक आगे-पीछे घटित 1984 की दो घटनाओं का उल्लेख भी आता है-एक, तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की हत्या और दूसरी, दुनियाभर की बड़ी त्रासदियों में से एक भोपाल गैस कांड में बड़ी भारी जनहानि। भोपाल में इस त्रासदी की उत्तरकथा का जिक्र भी प्रसंगवश किया गया है; जब मुआवजे के लिए जोड़-तोड़ का फर्जीवाड़ा चला। इसके बावजूद गैस त्रासदी उपन्यास की मुख्य नियामक घटना नहीं है। बहरहाल, भ्रष्ट व्यवस्था के झोलों में फलता-फूलता फर्जी प्रमाण पत्र बनाने का बाजार हमेशा गर्म रहता है-चाहे गैस पीड़ित होने की झूठी दावेदारी हो या नौकरी पाने के लिए निर्धारित योग्यता का झूठा दावा! इसलिए किसी प्रशासनिक-राजनीतिक घोटाले जैसी घटना पर ही उपन्यास मूलत: आधारित कहा जा सकता है, पर उपन्यास में उस आधार घटना का कहीं भी स्पष्ट संकेत मौजूद नहीं है।

जाहिर है कि कथा का मुख्य स्थल और परिवेश भोपाल ही है। कुछ संकेतों से एक बार व्यापम घोटाला जैसे घोटाले अनायास ही कौंधने लगते हैं; पर मूल घटना का देशकाल कहीं तीन दशक पीछे से संदर्भित जान पड़ता है। जिसका एक अंदाजा आर्थिक अन्वेषण ब्यूरो के पास दर्ज हुई शिकायत की कॉपी से मिलता है; जिसका हवाला उपन्यास के पृष्ठ 71 पर आता है- उसमें तिथि 4 अगस्त 1994 लिखी गई है। वैसे भी कथा कृति में देशकाल की वस्तुनिष्ठता से ज़्यादा व्यवस्था की यथार्थपरकता महत्त्वपूर्ण हो सकती है-वह किसी खास समय और संदर्भ में ही सीमित नहीं होती। व्यवस्था के ऐसे दुश्चरित्र उजागर होते रहते हैं। जाहिर है प्राय: ऐसी खबरें और चर्चाएँ सुर्खियों में रही हैं- जिनमें नौकरियाँ दिलाने के नाम पर छल-छद्म और शोषण के अनेक कारनामे चलते रहते हैं। 'खैरियत है हुजूर' में व्यवस्था का यही चक्रवात है, जिसमें फँसा संजीव बेहद जटिल मानसिक परिस्थिति से गुजरता है। संजीव की काम की लगन, इंसानियत और संबंधों के निर्वाह में उसे धोखा मिला। जिससे उसकी जिंदगी ही नरक बन गयी। उसे आर्थिक अन्वेषण ब्यूरो के सामने पेश होना पड़ा, फिर पुलिस की निगरानी में लंबी पूछताछ। उस पर झूठे इल्जाम मढ़े गए हैं। उसे गिरफ्तार कर जेल में रखा जाता है। किसी परिवार में ऐसी घटना कितनी तकलीफदेह हो सकती है- इसे वृत्तांत कहने की सहजता से व्यक्त किया गया है। इस ढंग से कि एकतान में ही कोई अविकल रुचि और संवेदना से पढ़ता चला जाए। किसी उपन्यास में कथा प्रवाह का कौशल ही यह होता है, जो कि इस उपन्यास में मौजूद है। इस तरह कि अपने पाठक को बिना किसी चुनौती के उलझाए रखा, केवल छ: छोटे खंडों में, आकर्षित करता है।

जैसा कि बताया ही गया है कि इस दुखदायी कथा के केंद्रीय मुकाम दो बने हैं-पहला, न्याय-व्यवस्था की दीर्घकालीन प्रक्रिया और दूसरा, जेल जीवन का अंदरूनी यथार्थ। पहले का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दूसरा मुकाम भी पहले से ही गहरे संबद्ध है, पर लेखिका ने उसे एक अन्वेषण, शोध या सर्वे जैसी तथ्यपरकता से प्रस्तुत किया है। बल्कि, जेल जीवन के यथार्थ को खँगालने में ही उपन्सास-कथा शिफ्ट होती सी लगती है। जेल के दूसरे अपराधियों के साथ रहते हुए, संजीव के अनुभवों से जेल जीवन का समाजशास्त्र सामने आता है; जो बाहरी व्यवस्था के समाजशास्त्र से अलग भी नहीं है। जहाँ जेल के बाहर जैसी ही व्यवस्थाएँ कायम हैं।

किसी बाहरी सरकारी तंत्र और सामाजिक व्यवस्था जैसी ही विद्रूपताएँ जेलों के भीतर भी मौजूद हैं। संजीव को ठीक 56 दिन बाद जमानत मिली। इस बीच उसने जो कुछ जेल में अनुभव किया उसे अत्यंत वस्तुनिष्ठता से दर्ज किया गया है। जेल की दुनिया कितनी कठोर और संवेदनहीन है। अगर पैसों की ताकत है तो जेल में भी बेहतर सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं। संजीव को आश्चर्यजनक बातें जेल के बारे में पता चलती हैं।

यहाँ उसे रमेश भाई, सुरेश पंडित, इरफान चच्चा, बल्ली, फुग्गी, मुख्तार आदि मिलते हैं। अपने व्यवहार से वह बहुतों को प्रभावित करता है। उसे अपनी डॉक्टरी हैसियत के कारण और कतिपय प्रयासों से कुछ सुविधाएँ भी मिल जाती हैं। अपराधियों की इस दुनिया में उसे अपराध के झूठे-सच्चे किस्से पता चलते हैं। जेल की सुविधाएँ पाने के छल-छद्म और साँठ-गाँठ पता चलती है। इससे बढ़कर और अलग इंसानियत के अनजाने स्रोत पता चले हैं; जो अपराधी या अपराध के आरोपी करार दिए गए लोगों के भीतर छिपे हैं। कानून तो साक्ष्यों और गवाहों को देखता है, उन स्रोतों को कौन देखता है? क्या ऐसे लोगों में बेहतरी की ओर लौटने की उम्मीद है? यहाँ संजीव से मिले नए दोस्तों (पात्रों) की कथाएँ जैसे कुछ फैलने को विकल खड़ी हैं। पर ऐसी उपकथाएँ कहने का यहाँ अवकाश नहीं। जीने के लिए सुख-सुविधाएँ कैसे भी मिल जाएँ, क्या संजीव जैसे आदमी के लिए 'कैद' होने की मानसिक पीड़ा से मुक्ति मिल सकती है? फिर भी जेल के भीतर संजीव और बाहर उसकी पत्नी व परिवार संघर्ष की कड़ी परीक्षा के बाद, अंतत: अपमान से मुक्ति के इंतज़ार में हैं। कथाकार भी अपने पाठक को और अधिक इंतजार नहीं कराना नहीं चाहतीं।

स्त्री कथाकार द्वारा लिखा होने के बावजूद उपन्यास की ख़ासियत है कि वह स्त्री लेखन की सीमाओं को लाँघता है। यहाँ स्त्री को देखने का अलग ही नजरिया पेश है। विवाह मन की मर्जी से न होने और मायके व ससुराल की सर्वथा अलग आर्थिक-परिवारिक परिस्थितियों के चलते; संजीव की पत्नी को संतुलन बनाना पड़ता है। संजीव के कैरियर को दाँव पर लगाकर उसकी तबाही का रास्ता पत्नी के पिता और भाई ने ही बनवाया था। इसका एक अतिरिक्त दबाव और तनाव तो वह झेलती ही है। जिसके चलते संजीव उसे उलाहना देता है। संजीव अवसाद की स्थिति में शराब पीने लगता है और पत्नी से लड़ाई-झगड़ा। उसने अपने दांपत्य को अराजक बना डाला है।

ऐसे में एक पत्नी जो बच्चों और परिवार को चलाने के साथ कामकाजी भी है। वह बाहर-भीतर की गहन पीड़ादायी परिस्थितियों के बीच हमेशा पति का साथ देती है। हर तनावपूर्ण परिस्थिति में वह संयमित रहती है और समझदारी से तार्किक-वैज्ञानिक समाधान पाने का प्रयत्न करती है। भले ही उसके विवाह होने में मनमाफिक स्थितियाँ न रही हों, पर बाद में वह पत्नी और अपने बच्चों की माँ के रूप में अपनी जिम्मेवार भूमिका कभी नहीं भूलती। जब संजीव परेशानी से घिर जाता है; तो उसके सारे असभ्य बर्ताव, उलाहने और लड़ाई-झगड़े भी विस्मृत कर देती है। बल्कि, पति को हमेशा अपने अस्तित्व का बेहद जरूरी हिस्सा मानकर ही बर्ताव करती है। इसे अंत में संजीव ने भी महसूस किया है।

संजीव की पत्नी का नाम शुचिता है, यह राज आखिरी पेज पर पता चलता है। उस जैसी भारतीय स्त्रियों को अंतत: समझौते करके सामजस्य बनाकर ही चलना होता है। लेखिका ने उसके मन को अनेक जगह खोला है। अगर वह हर मौके पर सब्र की परीक्षा में उत्तीर्ण होती जाती है; तो उसकी निजी खूबियाँ ही उसके व्यवहार को नियंत्रित करती हैं। उसकी उपस्थिति एक पढ़ी-लिखी, संस्कारशील स्त्री के रूप में उभरती है; जिसने परंपरा और रूढ़ियों को ढोया नहीं है। उसने आधुनिक सोच और समझदारी से प्रतिकूलताओं में अपने को गलाया या तोड़ा भी नहीं है- बल्कि, तराशा है।

उसे हर मौके पर परिवार का हर रिश्ता निभाना आता है। उसकी मौजूदगी को देखकर यह उपन्यास स्त्री का विमर्श नहीं, स्त्री चेतना का करुण आख्यान है। भले ही दुखद कथा संजीव की हो पर खुद को टूटने और परिवारिक विघटन से बचाए रखने के साथ-साथ संजीव को न्याय दिलाने में उसके प्रयत्नों की बड़ी भूमिका है। भले ही लेखिका ने उपन्यास का शीर्षक जेल में कैदियों की हाजिरी लेते वक्त उनकी ख़ैरियत पूछे जाने के प्रसंग से उठाया हो, पर उस ख़ैरियत की व्यंजना सिर्फ कैदी के रूप में संजीव के लिए ही नहीं, शुचिता के लिए भी उनती ही मायने रखती हैं। पूरे कथानक में वह नामविहीन एक पत्नी है-स्त्रियों का सामान्यीकरण। इस रूप में उन स्त्रियों की 'ख़ैरियत' के अर्थ का सामान्यीकरण भी वह लगती है।

जिस स्त्री का पति किसी मामले के झूठे आरोप में जेल में रहा हो, वह किसी का सामना भी कैसे कर सकती है?

लेकिन लोगों के सवाल हैं कि पीछा करते हैं। इस तरह एक डॉक्टर के अचानक मिलने पर उसके बारे में जैसे ख़ैरियत जानने के बहाने शुरू की गई पूछताछ कितनी तकलीफजनक है– इसे उपन्यास के आरंभिक पृष्ठों पर दर्ज किया गया है। यहीं से उपन्यास लंबे फ्लैशबैक में जाता है और कथा कहने नॅरेटर की भूमिका कायदे से शुरू होती है। उसमें शुचिता की पीड़ा भरी जुबान भी घुलती जाती है।

कृति का पूरा नैरेटिव पात्र से अपनेपन, भोक्ता के आत्म और बाह्य संघर्षों को मार्मिकता से पेश करता है। ब्यौरे और वर्णन की तथ्यात्मकता कहीं शुष्क और थकाती नहीं है। यही वजह है कि बिना किसी विमर्शवादी चादर को ओढ़े; मूलत: संजीव की व्यथा, शुचिता (मध्यवर्गीय भारतीय स्त्री) का भी करुण आख्यान बनती है। एक ऐसी स्त्री जो शिक्षित और आत्मनिर्भर है, पर अनेक प्रतिकूलताओं के बीच अपने पति और परिवार के प्रति अडिग और एकनिष्ठ है। अगर कुछ शेष रह गई कथा की उपधाराओं को कुछ विस्तार मिलता–खासतौर से सुरेश जैसे पात्र की उपकथा का विकास होता, तो जरूर ही इसकी औपन्यासिक संभावना कहीं अधिक फलित हो जातीं। जेल के यथार्थ उद्घाटन के साथ–साथ वहाँ के सुधार या कैदियों के पुनर्वास पर भी कुछ रोशनी पड़ती। बहरहाल, कृति के मौजूदा स्वरूप में पूरी कथा; पटकथा की कतिपय नाटकीय शैली में विकसित होती है। इसीलिए आस्वादन की जिज्ञासा पहले ही पृष्ठ से अपने पाठक को गिरफ्त में ले लेती है।

प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
वाराणसी – 221 005
मो. 9450252498

रचनाकारों से अनुरोध

- ***मौलिक तथा अप्रकाशित-अप्रसारित रचनाएँ ही भेजें।***
- ***रचना फुल स्केप कागज पर साफ लिखी हुई अथवा शुद्ध टंकित मूल प्रति में भेजें।***
- ***रचनाकार/लेखक अपना पूरा परिचय, पता, पिनकोड, फोन नंबर एवं फोटो साथ भेजें।***
- ***डाक टिकट लगा लिफाफा साथ होने पर ही अस्वीकृत रचना वापस भेजी जा सकती है। अत: लेखकों से निवेदन है कि लेख की एक प्रति अपने पास अवश्य रखें।***
- ***'अक्षरा' में प्रकाशन हेतु रचना भेजने के बाद उसे अन्यत्र प्रकाशन हेतु न भेजें। यदि अन्यत्र प्रकाशित हो रही हो तो कार्यालय को अवश्य सूचित करें।***

चाँद गवाह की हरितभाषा

– के. वनजा

शिक्षा – एम.एस.सी., पीएच.डी.।

रचनाएँ – हिंदी में आलोचना की दस पुस्तकें प्रकाशित।

सम्मान – अनुवाद में विशेष कार्य।

मानव संस्कृति का प्रकृति के साथ अटूट संबंध है। वे परस्पर प्रभावित हैं। इसलिए प्रकृति और संस्कृति के बीच के संबंध को तलाशना आज की अनिवार्यता है। मनुष्य-मनुष्य के बीच मनुष्य और अन्य जीवजन्तुओं तथा पर्यावरण व्यवस्था के बीच जीवन को बनाए रखने के रिश्ते को भाषा के प्रभाव के स्तर पर जाँचना है। यानी कि संसार के सभी जीव-जन्तुओं और पर्यावरण व्यवस्थाओं तथा मनुष्य एवं मनुष्य के बीच के सन्तुलन को परखकर उसकी सच्चाई का पर्दाफाश किया जाना है। उनके बीच में एक पारस्परिक मेल-जोल होता ही है। वह भाषा के जरिए अभिव्यक्त किया जाता है। वर्तमान संदर्भ में सन्तुलित पर्यावरण-व्यवस्था का नाश बड़े पैमाने पर हो रहा है, इसलिए इस क्षेत्र में प्रयुक्त भाषा भी बदलती जा रही है।

मनुष्य की संस्कृति में भाषावैज्ञानिक प्रक्रिया दर्ज है। इसे सबसे पहले पर्यावरण संबंधी मुद्दों से मिला कर जर्मन चिन्तक एडवर्ड सपिर ने परिचित कराया। उन्होंने 'भाषा और पर्यावरण' शीर्षक एक लेख लिखा। सपिर भाषा और पर्यावरण को मिलाकर भौतिक एवं भौगोलिक वातावरण तक पहुँचे। सपिर के अनुसार 'पर्यावरण व्यक्ति पर सीधे असर डाल सकता है और उस प्रकार की स्थिति में हम देख सकते हैं कि शुद्ध पर्यावरणीय प्रभाव जातीय स्वभाव का कारण बनता है। इस सामान्य स्वभाव को व्यक्ति पर पर्यावरणीय प्रभावों की विभिन्न प्रक्रियाओं के संकलन का परिणाम कहा जाता है।' (सपिर, फिल और मुश्तासलर 2001 : 13 में उद्धृत)

उर्मिला शिरीष द्वारा रचित 'चाँद गवाह' शीर्षक उपन्यास पर्यावरणीय भाषा अथवा हरितभाषा के सही प्रयोग से समृद्ध है। मूल्यह्रास एवं नैतिकता संबंधी सवालों के कटघरे से ऊपर उठकर उपन्यास प्रकृति एवं मनुष्य जीवन की अवस्थिति पर बल देता है। उपयोगिता और झूठी नैतिकता के नाम पर स्त्री का शोषण समाज में चल रहा है, उसका सशक्त विरोध उपन्यास में दर्ज है। यह भी नहीं उपन्यास स्त्री-पुरुष का सहज प्रेम, प्रकृति की सहजता एवं विविधता को निर्मित करने में सकारात्मक भूमिका निभाता है। प्रेम जो मूल्य है उसकी सीमातीत शक्ति है। उससे सभी प्रकार से असंतुलित जो स्थिति है, उसका निवारण संभव है। इस उद्यम में स्त्री और पुरुष को कंधे से कंधों मिलकर काम करना है। इसलिए इस सोद्देश्यपरक उपन्यास की भाषा हरित है।

उपन्यास में सबसे सशक्त पात्र दिशा है, दिशा एक संवेदनशील व्यक्तित्व है। वह कवयित्री भी है। वह अपने लक्ष्यों और उम्मीदों को सफल बनाने के लिए एक समर्थ व्यक्तित्व की तलाश में थी। वैसे ही संदीप दिशा का मित्र है जो दिशा के घर पर यानी कि फार्महाउस में दिशा के पति और लड़कियों के साथ रहते हुए उस फार्म को सही रूप में फार्म बनाने की कोशिश करता आ रहा है। यह भी नहीं दिशा को आत्मनिर्भर बनाने में सहायक बन जाता है। दिशा और संदीप दोनों प्रकृति का अंधाधुंध जो नाश हो रहा है, उसके खिलाफ हैं। वे नए ढंग से पौधों और वृक्षों को लगाकर धरती के पोषण में लगे

रहते हैं। यह हरित भाषा की पूरी कथा में छायी है। दिशा बेकार की बातों और सामाजिक संरचना में जो स्त्री-पुरुष रिश्ते संबंधी जो झूठी धारणायें हैं, उन सबकी परवाह नहीं करती। दिशा की मित्रमंडली भी किस प्रकार की है, देखिए- 'हमारा ग्रुप जीवन और प्रकृति के बारे में विमर्श करता है, हम प्रेम की परिपूर्णता में विश्वास करते हैं, न कि जीवन के अधूरेपन में।' **(चाँद गवाह- पृ. 9)** दिशा के अनुसार मित्रता और प्रेम में जाति धर्म, ऊँच-नीच और उम्र कहीं पर भी नहीं होना है। इन दो भावों के कारण ही पृथ्वी जिन्दा है, स्पंदित है, सृजनधर्मी है और खूबसूरत भी है। इन्सान और जीव, दोनों इन्हीं भावों के कारण जिन्दा रहते हैं, वरना सारे रिश्ते आदान-प्रदान की नीति पर चलते हैं या चलते रहेंगे। यहाँ इकोफेमिनिज़्म की दृष्टि काम करती है।

इस संदर्भ में इकोफेमिनिज़्म पर थोड़ा विचार करना अनिवार्य है। ईकोफेमिनिज़्म, फेमिनिज़्म और हरित आन्दोलन के तत्वों को मिला देता है। मानव की वृत्तियों का जो बुरा प्रभाव मानवेतर जगत पर पड़ता है उसकी असलियत की पहचान उसने हरित आन्दोलन से पा ली है। उसी प्रकार फेमिनिज़्म से पराधीन, शोषित और दमित स्त्रियों के प्रति मानवीयता की दृष्टि भी। यानी कि प्राकृतिक संसार के नाश एवं अवमूल्यन तथा स्त्रियों की अधीनता एवं गुलामी को संबद्ध करके देखने की विचारधारा है, ईकोफेमिनिज़्म। कारन वारन नामक विदुषी के अनुसार 'प्रकृति और स्त्री पर पुरुष के आधिपत्य की आलोचना तथा प्रकृति और स्त्री के संबंध में लिंगातीत एक नीतिशास्त्र है इको-फेमिनिज़्म। स्त्री और प्रकृति के केन्द्र में प्रतिष्ठित एक वैश्विक विचारधारा है, ईकोफेमिनिज़्म। उपन्यास में पुरुष द्वारा निर्मित सामाजिक व्यवस्था कैसे स्त्री के अपने निर्णय की आलोचना करती है, यह विचारणीय है। पति की मूर्खता, धूर्तता, निठल्लापन, क्रूरता, आलस्य, मद्यपान आदि समाज और रिश्तेदारों के सामने कोई समस्या ही नहीं है। स्त्री-निर्णय पर अंकुश इस सामाजिक व्यवस्था के अंग बननेवाले पुरुष ही नहीं स्त्रियाँ भी लगाती हैं। इससे खुद अपने को बचाने का निर्णय लेनेवाली दिशा अन्य मित्रों को संगठित करती है, खुद स्त्रियों को और प्रकृति को बचाने के लिए। दिशा खुद अपने ऊपर होनेवाले शोषण की पहचान करती है- 'हमारी मजबूरी थी। आज भी मजबूरी है। हम कितनी घृणा के साथ उसके साथ रह रहे हैं। मेरी कला, मेरा पढ़ना-लिखना, मेरा घूमना, मेरा अपनी मर्जी के अनुसार जीना, खाना-पीना, हँसना, सब असहनीय हो गया था। कभी किसी ने महसूस किया कि तुम सब घूम रहे हो, मैं घर में कैद। तुम सब खूब पढ़ रहे हो, मैं बिन किताबों के तड़पती मछली सी। तुम सब पार्टियाँ करते समारोहों में शामिल होते, नित नये कपड़े बदलते और मैं एक कोने में पड़ी इन सबसे जूझती रात-रात भर जागती, उसकी बकवास सुनती तुम सबका दबाव कि पति है तो करो, झेलो अथवा बाहर धकेल दो।' **(पृ. 11)** यह पहचान स्त्री विमर्श है तो प्रकृति के साथ मिलकर जीने की उसकी कला और मोह पारिस्थितिक विमर्श के अंतर्गत लिया जा सकता है। दिशा और संदीप दोनों इस दिशा में अग्रसर होते हैं। इसलिए दिशा को मानसिक रूप से सहारा चाहिए, जो उसकी हर तरह से मदद कर सके। जो उसको समझे, जो उसके मानसिक और वैचारिक स्तर का हो, जिससे वह साहित्य, समाज, प्रकृति, अध्यात्म, ब्रह्मांड या अन्य विषयों पर बात कर सके। लेकिन स्त्री के इस आग्रह को समाज मानता नहीं। दिशा जब मूर्ख पति की सेवा में पूर्णत: तल्लीन थी तो वह आदर्श पत्नी और स्त्री रही थी। लेकिन स्त्री जब अपने कद्र करने लगी तो पूरी दुनिया के सामने दुष्चरित्रवाली बन गई। इससे स्त्री को बचाना उपन्यास का मुख्य मकसद है, यानी कि स्त्री को असली पहचान प्रदान करना।

उपन्यास में संदीप दिशा के जीवन में कौन सा परिवर्तन लाने में समर्थ हुआ, दिशा के ये शब्द उल्लेखनीय हैं-' आत्महत्या कर लेते अगर वे हमारे जीवन में न आते तो। उन्होंने ही हमें जीवन का अर्थ-समझाया है। भावनाओं की कद्र करना सिखाया है। जीवन में सौन्दर्य, प्रकृति, धर्म, समानता, आनंद, रस, प्रेम, सम्मान, स्वाभिमान का क्या महत्व होता है, यह उन्होंने ही बताया है।' **(पृ. 21)**। यह हरित भाषा सभी प्रकार के शोषण के खिलाफ है। संदीप कवि है, पत्रकार है, पर्यावरण और समाजसेवा से जुड़ा है। पेड़ बचाओ आन्दोलन के एन.जी.ओ. के साथ भी जुड़ा है, यानी दुनिया की जितनी भी अच्छी बातें होती हैं, उन सबको अपनाने की कोशिश में है वह। वह

विस्थापितों के लिए काम करता है, कभी वह हिंसा और आतंक के खिलाफ चलनेवाली मुहिम में शामिल हो जाता। उसके हजारों फॉलोअर्स हैं। यह निरंतर नये प्रयोग करता रहता है। उनके जीवन का यह सन्देश गाँधी जी के चिंतनों से मेल खाता है। गाँधी जी इस संसार के सबसे बड़े पर्यावरण विद् थे। उनकी भाषा हरितभाषा थी। अहिंसा एवं सत्य पर वे अड़िग रहे थे। अन्यायों के खिलाफ निरंतर इन दोनों हथियारों से लड़ते आ रहे थे।

उपन्यास में फार्महाउस जहाँ है, वहाँ जंगल है। उसे एक अच्छा खेत बनाना दिशा का मकसद है। उपन्यास में प्रकृति की अवस्थिति दिशा का सपना है-'दूर-दूर तक वीरानीयत को ओढ़े लंबे, सघन, विशाल वृक्ष। महा अंधकार में डूबा उसका खेत। खेत के किनारे बना एक हालनुमा घर। चारों तरफ खड़ी लंबी सुनहरे रंग की घास, जिसमें तंदुआ, जंगली कुत्ते, नीलगाय, शेर, लकड़बग्धा चुपचाप आकर डेरा डाल लेते हैं। आसपास इन्सान तो क्या उसका पुतला तक दिखाई नहीं देता। बस पेड़ों की घनी शाखों से बहती ठंडी हवा में मादकता घुली होती हैं। बीच-बीच में दृश्य-अदृश्य, जानवरों के पाँवों की आहट या गुर्राने का डरावना स्वर पूरे वातावरण को थर्रा देता है। आसपास सरसराते पत्ते, पत्तों में भागते साँप, छछून्दर, चूहे, खरगोश। ऊपर आकाश में टिमटिमाते नक्षत्रों की द्युति और स्थिर, शान्त, दार्शनिक मुद्रा में दिखता आसमान। आसमान को अपलक देखती आँखों में जीवन की छटा दिखाई देती है।' (पृ. 34) यह दिशा का सपना है, इसकी पूर्णता के लिए वह कोशिश करती है। इसलिए संदीप ने उसे सजग कर दिया कि यदि आत्मसम्मान के साथ अपने निर्णय पर जीना चाहती है तो उस जंगल में ही अपना सुख, अपनी सुरक्षा और अपना भविष्य सँवारना है।

चाँद गवाह में दिशा और संदीप के काम में पूरे पर्यावरण को बचाने की कोशिश है। जिस पर्यावरण संकट का हम सामना कर रहे हैं, जैसे जैव संकट, सामाजिक संकट इन सबका इशारा इसमें है। आज की औद्योगिक संस्कृति की उपज है, उपभोग संस्कार। अति उपभोग से धरती विनाश की कगार पर खड़ी है। और एक कामायनी मचने की संभावना का इनकार नहीं किया जा सकता। इसलिए इस विशेष खतरनाक स्थिति से बचने के लिए संदीप एवं दिशा नितांत जागरूक हैं। वे दोनों उस फार्महाउस के चारों ओर की जमीन को मनुष्य और अन्य जीवजन्तुओं के लिए उपयोगी बनाने के लक्ष्य में अनेक योजनाएँ तैयार करते हैं। जिस पर्यावरण संकट की पहचान सबसे मुख्य है, उसके निवारण के लिए कड़ी मेहनत करना सबसे सराहनीय कार्य है। संदीप पर्यावरण संरक्षण के लिए, नदी बचाने के लिए, हर तीन किलोमीटर पर तालाब बनाने की ओर इशारा कर रहा है। संदीप के विचार देखिए-'सरकार के भरोसे न रहकर हम सबको मिलकर यह काम करना होगा। समितियाँ बनाई जाएँ, जैसे तालाब संरक्षण समिति, कुँआ संरक्षण समिति, वृक्ष संरक्षण समिति आदि क्यों नहीं बनाई जा सकती हैं? ये समितियाँ अपने-अपने काम की जिम्मेदारी लें। ये सुझाव मैंने कहीं पढ़े थे। मैंने जता दिया कि अगर हमने ऐसा नहीं किया तो भयानक सूखा पड़ेगा। जानवर, पक्षी, सब प्यास से मर जाएँगे। वृक्ष सूख जाएँगे, पर! देखो क्या होता है। वह मेरी हर बात को काट रहा था। क्या मूर्खता है। आज बदले हुए मौसम और पर्यावरण के कारणों को वे नहीं समझ पाए तो हमारी पृथ्वी को बचाना मुश्किल हो जाएगा। पेड़ों की बेहिसाब कटाई ने मनुष्य जाति को कितने बड़े संकट में ड़ाल दिया, यह बात इन लोगों को क्यों नहीं समझ में आती है। आज एक लंबा लेख लिखता है इसी विषय पर।' (पृ. 55-56) पर्यावरण शोषण एवं विनाश के प्रतिरोध में प्रयुक्त उपर्युक्त जो भाषा है असल में हरित भाषा। इधर जैवसंकट और सामाजिक संकट की चेतावनी दी गई है।

आज इस भूमंडलीकृत उपभोग संस्कार में हमारी संस्कृति को बचाना अनिवार्य है। तब सादगीपूर्ण सहज स्वाभाविक प्रकृत संस्कृति ही हल का उपाय बनेगी। उपन्यास में देखिए वह विचार यों प्रकट है-'हमारी अपनी जो जीवनशैली है, उसका एक ही सिद्धान्त होना चाहिए-आवश्यकतानुसार चीजों का उपयोग करना। हमने जिस तरह जंगलों को काट डाला है, जिस तरह हम नदियों के साथ क्रूर व्यवहार कर रहे हैं, वह आत्मघाती कदम है। जीवन में यदि ये चीजें नहीं रही तो हम जिन्दा कैसे बचेंगे? मैं इसी बात पर फोकस करना चाहता हूँ कि एक पत्ती तोड़ने से पहले भी हमें सोचना चाहिए कि हम

क्यों तोड़ रहे हैं और इसके टूट जाने से क्या-क्या नुकसान होगा। (पृ. 56) इस प्रकार आज की उपभोग संस्कृति की प्रतिरोधी संस्कृति की प्रतिष्ठा कर अहिंसा और स्नेह पर केन्द्रित एक संतुलित दुनिया की सृष्टि करने का उत्तम विचार है इसमें। प्रौद्योगिकी एवं विज्ञान के विकास से प्रकृति एवं स्त्री केन्द्रित संस्कृति की सृष्टि करने के बदले में इन दोनों का दमन कर एक अलग संस्कृति का जो रूपायन हो रहा है, यह दुनिया के अस्तित्व के लिए हानिकारक है। आज मनुष्य और प्रकृति के बीच की दूरी बढ़ती जा रही है।

संदीप के व्यापक अनुभव और विभिन्न विषयों से संबंधित जानकारी उसके व्यक्तित्व और आचरण में प्रकट हैं। यह दिशा के सपनों को साकार बनाने में सहायक हुआ। दिशा जैसी एक महिला को राजीव जैसे मूर्ख, गँवार नहीं संदीप जैसा जहीन, समझदार और इंटेलिजेंट शख्स की जरूरत दिशा का बड़ा भाई समझता है। यही समझ और पहचान है हरितभाषा की विशेषता। इन महानगुणों को पहचाननेवाला दिशा का भाई विवेकी है और समय की नब्ज की पहचान रखता है। इसलिए सभी प्रकार से प्रताड़ित दिशा का संदीप की ओर झुकाव स्वाभाविक है। राक्षस पति और बेटियाँ दिशा की विवशता को नहीं समझते हैं, जीने के लिए पैसा नहीं, अकेली स्त्री कहाँ तक इन सबको बर्खास्त करती है। समाज दूसरों के जीवन के दोष निकालने में जो उत्सुकता दिखाता है वह दूसरों की मदद करने में नहीं है। इसलिए संदीप जैसे व्यक्तित्व से दिशा का आकर्षण स्त्री द्वारा कांक्षित एवं प्रवर्तित मूल्य बोध की निशानी है। वह है स्त्री की दुनिया के प्रति दायित्व का प्रकटीकरण। उन दोनों का रिश्ता केवल शरीर केन्द्रित नहीं था दुनिया को बचाने के दायित्वबोध से उभरी संतुलित जीवनदृष्टि का परिणाम है। इसे अंत में उपन्यास के अन्य पात्रों ने भी समझ लिया।

फार्म को तैयार करने में और पेड़-पौधों के रोपन के लिए संदीप और दिशा ने बहुत तकलीफ उठाई। अनेक लोगों, सरकारी विभागों आदि द्वारा कई अड़चनें पैदा की गई हैं। चोरी चुपके से उनके प्लान्टेशन का शोषण किया जा रहा है। संदीप के ये शब्द देखिए-'दिशा, हम लोग इसके बाद भी जहाँ तार लगे हुए हैं, उनके भीतर ही फलदार पेड़ लगा लेंगे। जितने पेड़ ये लोग चोरी-छुपे काटते हैं, उतने ही हम लोग अपनी जमीन से लगा सकते हैं। अपनी संपदा को चोरी-छुपे काटना और बेचना इन्होंने अपना अधिकार समझ लिया, किसी से डरते भी नहीं हैं।' (पृ. 64) इस प्रकार उनके लक्ष्य को पराजित करने में कितने लोग लगे हुए हैं।

दिशा को आत्मनिर्भर बनाकर अपने कर्तव्य को एक हद तक पूरा कर दिशा को उसकी परेशानियों से बचाने के लिए संदीप को दिशा और फार्महाऊस छोड़कर जाना अच्छा लगा। दिशा एक हद तक अपने लक्ष्य को पूर्ण करने की कोशिश करती रही। वह प्राकृतिक नाश अथवा पेड़ का काटना अपने को काटने के समान समझती है। पेड़ के समान मनुष्योपयोगी काम करनेवाला कोई नहीं। वे परस्पर भी सहयोग एवं मदद करते हैं, मनुष्य की मदद करने के साथ। उनके जीवन से मनुष्य को बहुत कुछ अपनाना है, नि:स्वार्थ सेवा में सदा निरत पेड़ जलवायु को कई प्रकार से सही दिशा में ले जाने का सामर्थ्य रखता है। इसलिए अतीत से वृक्ष पूजा चलती आ रही है। वैष्णव आन्दोलन में पेड़ काटने के विरुद्ध स्त्रियों ने आन्दोलन चलाया था। उस सिलसिले में अमृता देवी ने पेड़ को बचाने के लिए कुल्हाड़ियों के सामने अपने सिर को काटने के लिए समर्पित किया। दिशा एक जगह पर अपनी बेटी से कहती है-'तुम्हें पता है कि मुझे पेड़ों से कितना लगाव है, उस दिन उन पेड़ों को रोते हुए देखा था मैं ने। मैं उनको बचाना चाहती हूँ। पेड़ रहेंगे तो हम भी रहेंगे।' (पृ. 119) संदीप के लिए लिखित पत्र में उसने उल्लिखित किया कि पेड़ की जिन्दगी को मुरझानेवाली कुल्हाड़ी या दुष्ट आँधी कितना बड़ा अपराध करती है। कई प्रकार से उच्च विचारों को साथ लेकर चलनेवाली दिशा का विवेक प्रेम को साथ लेकर पुरुष सत्तात्मक पूँजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकना चाहता है। इसलिए अपने से दूर चले गए संदीप की तलाश में वह निकलती है।

अंत में बेटी ने संदीप द्वारा लिखित पत्रों को दिशा को सौंप

दिया तो स्पष्ट होता है कि उसने अपनी जिन्दगी में जिन लोगों के साथ रिश्ता निभाया उन सभी से प्रेम और न्याय किये, संदीप की पत्नी से, बेटी से और दिशा से। उसकी न्याय की लड़ाई में वह दिशा की प्रतीक्षा करता है।

अपनी पत्नी के निधन के साथ देश-विदेश के विश्वविद्यालयों में अपनी सभ्यता, संस्कृति, पर्यावरण, अध्यात्म एवं दर्शन को लेकर बोलता रहा। बाद में पेड़ बचाओ आन्दोलन को ही प्रमुखता दी गई। उसके पत्रों में पर्यावरण के नाम से झूठे आन्दोलन चलानेवालों की निंदा भी है। वैसे ही दिशा के समान नि:स्वार्थ सेवा करनेवालों की प्रशंसा भी है। इधर स्त्री द्वारा प्रकृति और खुद अपने को बचाने की कोशिश करनेवाली दिशा की दृष्टि ईकोफेमिनिज़्म की है, जो फेमिनिज़्म और पारिस्थितिकी की ऋणी है। वैसे ही इसमें एक महत्त्वपूर्ण कार्य का उद्घाटन हुआ है कि स्त्री-पुरुष-प्रकृति के संतुलन आज की माँग है। यह मनुष्य को इस उपभोग संस्कृति एवं विदेशी संस्कृति से बचाने का एकमात्र उपाय है। संदीप एक ऐसा पुरुष व्यक्तित्व है वह इस सच्चाई से अवगत है, बिना स्वार्थ एवं किसी प्रकार की लाभेच्छा के प्रेम जो मूल सद्भाव है। इसके सदुपयोग से जनकल्याण के लिए जीवनभर काम करता आ रहा है। अंत में संदीप की खोज में निकलनेवाली दिशा हमें उम्मीद प्रदान करती है।

उपन्यास में हरित आध्यात्मिकता (Green Spirituality) का दिग्दर्शन किया जा सकता है। वह प्रार्थनालयों में जाकर किसी प्रकार की मूर्ति की पूजा करने का विरोध करता है। लेकिन वह इस प्रकृति के समस्त चैतन्य का आदर सम्मान और प्रेम करता है। पारिस्थितिक विमर्श में मुख्य है भौमसदाचार और साकल्यता से युक्त हरित आध्यात्मिकता। इस विश्व के समस्त चैतन्य को मान्यता दी जाती है हरित आध्यात्मिकता में। यहाँ जन्म लेनेवाले सबको यहाँ जीने का अधिकार है। सब में जो चैतन्य है, वह पवित्र है। तब सबको मानना अहिंसा पर केन्द्रित एक विश्व दृष्टि है। किसी मूर्ति की पूजा से यह संभव नहीं। आज संसार भर में विद्वेष एवं प्रतिशोध की भावना है, प्रेम नहीं है। इसलिए आज भक्ति का शार्टकट लोग अपनाते आ रहे हैं। लेकिन हमें चाहिए परस्पर माननेवाली हरित आध्यात्मिकता। यह है इस उपन्यास का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य। इसको स्पष्ट करनेवाला एक प्रसंग देखिए-'मैं जो घोर नास्तिक हूँ, मैं जो किसी ईश्वरीय सत्ता में विश्वास नहीं करता, मैं जो पेड़-पौधों, जानवरों, नदी-तालाबों, आकाश, चन्द्रमा, सूरज, तारे सबकी सत्ता को स्वीकार करता हूँ। इन सबको साक्षी मानकर तुम्हें अपना जीवन साथी स्वीकार करता हूँ। जब तक कि इन विपत्तियों से बाहर नहीं आ जाती हो, तुम्हें तुम्हारा सम्मान और अधिकार नहीं मिल जाता है, तुम्हारा साथ निभाऊँगा मेरी प्रिये। **(पृ.-38)** इस प्रकार संदीप ने सारी प्रकृति को साक्षी बनाकर मूर्ति के चरणों के पास पड़े सिन्दूर को अपनी चुटकी में भरा और उसकी माँग में भर दिया। प्रत्येक की सत्ता को स्वीकार कर प्रेम और अहिंसा के वातावरण की सृष्टि करने की समरसता का भाव है। इसमें आध्यात्मिक एवं भौतिक दृष्टियाँ काम करती हैं। यह हरित आध्यात्मिकता आज की माँग है।

संक्षेपत: इस उपन्यास में विभिन्न प्रकार के भेदों का अतिक्रमण कर बहुलता की संस्कृति की सृष्टि की गई है। यहाँ स्त्री और प्रकृति केन्द्रित संस्कृति को प्रतिष्ठित करने के लिए पुरुष का सहयोग भी प्राप्त होता है। अथवा सामाजिक संतुलन प्रत्येक की सहभागिता से संभव हो जाता है, चाहे जड़ हो या चेतन। इस अभिन्नता के लिए अभिजात वर्ग, बुद्धिजीवी वर्ग एवं अभी तक की सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन नि:स्संदेह अनिवार्य है। तब दमित शोषित एवं कई प्रकार के उपेक्षित जैसे लिंग, जाति, धर्म, वर्ग, वर्ण, वंश आदि के आधार पर हाशिए की ओर धकेल जानेवाले सारे के सारे केन्द्र में आ जायेंगे। सबकी सत्ता की स्वीकृति होगी। यह है इस उपन्यास की अहमियत। यहाँ दर्ज जो प्रतिरोधी भाषा है वह है हरित भाषा। वह आज की अधिकांश विषम परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति और उम्मीद है।

अभिरामम
सुरभी रोड
इडप्पल्ली पी.ओ
कोच्ची - 682024

चाँद गवाह : उपन्यास में वैयक्तिक स्वातंत्र्य

– पद्मा शर्मा

जन्म – 7 जुलाई 1963।
शिक्षा – एम.ए., पीएच.डी.।
रचनाएँ – छः पुस्तकें प्रकाशित एवं कतिपय सम्पादित।
सम्मान – म.प्र. साहित्य अकादमी का सुभद्राकुमारी चौहान सहित अनेक सम्मान।

उपन्यास अपने कई सोपानों को गढ़ते हुए किस्सागोई से लेकर रहस्य, रोमांच, आदर्श, यथार्थ, ऐतिहासिक एवं मनोविश्लेषणात्मक कई रूपों में सामने आया है। समय परिवर्तन के साथ-साथ साहित्यिक विधाओं ने भी परिवर्तन के चक्र को स्वीकार कर भावगत एवं शिल्पगत नवाचार को स्वीकार किया है। नई कहानी, नई कविता के उदय के साथ-साथ ही उपन्यास की संरचना में भी निजता एवं वैयक्तिक स्वातंत्र्य का भाव अभिव्यक्त होने लगा एवं वस्तुगत कई परिवर्तन भी सामने आए।

डॉ. उर्मिला शिरीष जी का नवीन उपन्यास 'चाँद गवाह' स्त्रीमन और रिश्तों की कई परतें खोलता हुआ वैयक्तिक स्वातंत्र्य के महत्व को रेखांकित करता है और प्रेममय जीवन की सघन विवेचन करता है। उपन्यास के समर्पण में लेखिका ने लिखा है 'उन दिशाओं के नाम जो प्रेम के लिए प्रेम में जीती हैं।' दिशा एक सामान्य पात्र भर नहीं है वह उन समस्त स्त्रियों का प्रतीक है-जिनके लिए देह के संबंध से बड़े आत्मा के रिश्ते हैं। जिनके लिए दोस्ती का महत्व सर्वोपरि है। दैहिक संबंध प्राकृतिक आवश्यकता है जबकि आत्मिक संबंध प्रेम भाव का अहसास कर उसकी गहराई और सघनता को प्राप्त करता है, जो अपने प्रिय की अनुपस्थिति में भी उसकी उपस्थिति का एहसास करता है।

संवाद शैली में लिखा यह उपन्यास संवादों के माध्यम से कथानक का विस्तार एवं संपूर्ण घटनाक्रम को अभिव्यक्त करने में समर्थ है। उपन्यास का मूल मंत्र है-'जीवन जिसका है वह अपने तरीके से जिए।' नायिका दिशा उसका पति राजीव, दोनों बेटी निधि एवं पारुल सब अपनी इच्छानुकूल... अपनी शर्तों पर जीवन जीना चाहते हैं। उपन्यास बरबस ही मोहन राकेश के 'आधे अधूरे' की भी याद दिलाता है, जो जीवन की विसंगतियों को वर्णित करता है। चाँद प्रेम का प्रतीक है। शीतलता का पक्षधर है। उसकी किरणें चहुँओर अँधेरे को चीरती हुईं। अपने प्रकाश से आच्छादित करने का माद्दा रखती हैं।

दिशा एक जिज्ञासु महिला है वह कल्पनाशील है। वह खोज और प्रयोग में जीने वाली स्वाभिमानी स्त्री है। उसकी दृष्टि और विचारों में भी काल्पनिकता और कलात्मकता बसी है कि वह पत्थरों में भी कलात्मकता देख लेती है। वह डॉक्टर बनना चाहती थी, चित्रकार बनना चाहती थी, उच्च शिक्षित होना चाहती थी पर उसकी इच्छा के प्रतिकूल उसकी शादी करा दी गयी। उसमें कई खूबियाँ थीं वह बीमार लोगों को फोन पर थैरेपी भी देती थी, पर परिवार वालों ने उसकी कला या हौसले की कोई कद्र नहीं की। वह अपनों के द्वारा दिए गए दंश को झेलती रही। पति का नाकारापन और उस पर भी कटु शब्दों को, अपमान सहते जिंदगी उसके लिए नासूर बन गयी। समाज द्वारा उपेक्षित लोग भगवान की शरण में जाते हैं पर जब अपने ही लोग तिरस्कार करें तो मन किसी अपने के सहारे की तलाश करता है जो भावनात्मक सहारा दे सके, जिसकी वैचारिक धरातल पर उसके समकक्ष हो।

दिशा के जीवन में गोपेश, भट्टाचार्य, गुरु जी फिर संदीप आए, इसका मतलब यह है कि दिशा लगातार किसी ऐसे व्यक्ति की तलाश में रही जो उसके साथ खड़ा हो सके, उसके काम में, उसके जीवन में, उसके संघर्ष में उसका साथ दे सके। (पृ. 48)

कथानक में संवाद के माध्यम से जो पात्र सामने आते हैं वे हैं- पचपन वर्षीय दिशा, दिशा तीन बहने हैं, बड़ी दीदी व छोटी बहन। दिशा की माँ, दिशा के भाई हैं बड़े भाई व छोटा महेश। दिशा की दो बेटियाँ हैं, छब्बीस वर्षीय पारुल और बाईस वर्षीय छोटी बेटी निधि। उसका पति राजीव है और दिशा का एक दोस्त संदीप है। कहानी इन्हीं के आसपास घूमती है जिसका मुख्य विषय है कि दिशा संदीप के साथ रह रही है। यही संकेत घूम फिर कर मुख्य बिंदु के रूप में उभरता है और यह उपन्यास का मुख्य विषय भी है कि प्रेमी या दोस्त को पारिवारिक सदस्य के रूप में रखा जाना। दिशा के इस निर्णय से उसका परिवार सहमत नहीं है। दिशा न तो संदीप को छोड़ पाती है न अपने पति को। वह न तो पूरी तरह पति को स्वीकार कर पाती है न ही संदीप की हो पाती है।

दिशा और उसकी दीदी के वार्तालाप से ही उपन्यास का प्रारंभ होता है जिसका मुख्य विषय यही है कि दिशा का दोस्त संदीप पारिवारिक सदस्य के रूप में साथ में रह रहा है। समाज, परिवार, धर्म ग्रंथ सभी स्त्री को कर्तव्य की प्रेरणा तो देते हैं पर उसके अधिकार के संबंध में कोई दिशा-निर्देश नहीं देते। जो समाज स्त्री के वेद सुनने पर उसके कान में पिघला शीशा डालने का हिमायती है, वह एक पराए पुरुष का परिवार में रहना वह भी उस स्त्री के साथ जो किसी की माँ, बहन और पत्नी है। कैसे सहन कर सकता है? उसकी दृष्टि में स्त्री अबला ही बनी रहे, तथाकथित रिश्तेदार पुरुषों से सहयोग माँगती रहे, के चित्र हमारी आँखों में निर्धारित हो गए हैं-हाथ जोड़ती स्त्री, झोली फैलाए भीख माँगती स्त्री, अविरल अश्रु से पूरित सजला स्त्री, रोती-गिड़गिड़ाती स्त्री। अपनी स्वायत्तता को विस्मृत करके रखे।

'अपने होने का बोध होते ही इन्सान, खासकर स्त्री एक ऐसे यातनागृह में चली जाती है, जहाँ से उसका हाथ थामने वाला कोई नहीं आता। सबको एक विवेकशून्य, विचारशून्य और प्रतिप्रश्न न करने वाली औरत चाहिए होती है। सम्बन्धों में यह 'बोध', 'आत्मबोध' ज्यादा गहरा और मारक होता है। गाली को गाली न समझे, अपमान को अपमान न समझे, उसका अपना एकान्त न हो, उसकी अपनी टेबल कुर्सी न हो, उसकी अपनी बहस, विमर्श करने की बुद्धि न हो, तो देखो वह कितनी सुखी रहती है। कितना सराहा जाता है उसे परिवार में।' (पृ. 84)

दिशा अपने पति राजीव के साथ खुश नहीं हैं। वह वैचारिक धरातल पर समृद्ध है, नित नवीन ऊँचाइयों को प्राप्त करना चाहती है, आत्मनिर्भर बनना चाहती है, नवीन योजनाओं के साथ जीवन का उत्तरोत्तर विकास करना चाहती है। 'अपने लिए जगह तलाशती, अपनी पहचान तलाशती, स्थायित्व तलाशती, थोड़ा सुख और थोड़ा सा प्यार तलाशती है।' (55) दिशा इस कार्य के लिए पति का सहयोग न मिलने पर अपने दोस्त संदीप पाठक का सहयोग लेती है जो भाई, बहन, बेटी और पति सभी को नागवार गुजरता है। (पृ. 15) पर दिशा मानती है कि देह कभी अपवित्र नहीं होती।

समूचे उपन्यास में इस विरोध का सामना करती दिशा अपने जीवन की परेशानियों और तज्जन्य विभीषिकाओं की परतें खुलती जाती हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि पाठक को दिशा पर क्रोध या उसके प्रति तिरस्कार की भावना नहीं उपजती बल्कि उसके प्रति गहन संवेदना व्यक्त होती है, यह लेखिका की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

उपन्यास में शादी पर प्रश्नचिन्ह उपस्थित होने पर दिशा कहती है- 'शादी क्यों ज़रूरी है, क्या मिलता है शादी से? जीवन में खुशी और सुख-सुविधाएँ होनी चाहिए। एक आदमी को 'पति' के नाम पर जिन्दगी भर ढोना, चाहे वह पसन्द हो या नहीं, चाहे वह अच्छा लगता हो या नहीं, कितनी बड़ी सजा होती है।' (पृ. 27)

वास्तव में स्त्री का पुरुष की दृष्टि में कोई महत्व नहीं। उर्मिला

जी ने उपन्यास में गद्य के साथ-साथ कविताओं के माध्यम से भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। स्त्री जीवन का सार बताते हुए दिशा अपनी दीदी से कहती है-

'तुम्हें बूँद नहीं / नदी बनना है।
तुम्हें सहनशील और / त्यागमयी बनना है।
ख्वाब देखने वाले / तुम्हें सब कुछ बना देखना चाहते हैं।
पर कभी नहीं पूछते / कि दरअसल
तुम्हें स्वयं क्या बनना है।' (पृ. 42-43)

'जीवन की कसौटी शादी क्यों है! बिना शादी के लड़के-लड़कियों को यूँ देखा जाता है, जैसे वे अछूत हों। बिना शादी के सम्मानजनक जीवन नहीं जिया जा सकता?' **(पृ. 10)**

उसके मन में द्वंद्व जारी है-

'जिन लोगों ने पूरी जिन्दगी बच्चों और समाज के लिए समर्पित कर दी, उन्हें क्या मिला? क्या हर व्यक्ति को अपना जीवन भी नहीं जीना चाहिए! कुछ सालों के लिए या कुछ महीनों के लिए या कुछ दिनों के लिए। इतनी मोहलत तो मिलनी चाहिए इन्सान को।' **(पृ. 10)**

जापान में अब 'वीकेंड मैरिज' या 'सेपरेशन मैरिज' का चलन बढ़ रहा है। इसमें विवाह के बाद भी पति-पत्नी अलग रहते हैं और वीकेंड में मिलते हैं, जिससे उनकी निजता का हनन नहीं होता। दैनिक भास्कर समाचार पत्र, दिनांक 4 फरवरी 2023 मुखपृष्ठ दिशा के माध्यम से लेखिका ने स्त्री जीवन संबंधी विराट प्रश्न उपस्थित किए हैं, जो कड़वे हैं मगर सच्चे हैं, समाज के दृष्टि में निरर्थक हैं पर स्त्री जीवन के लिए सार्थक हैं। इन प्रश्नों से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता बल्कि लेखिका का उद्देश्य है कि समाज का परिचालन बेहतर तरीके से हो तो इन सवालों को समझना चाहिए और उसका समाधान भी करना चाहिए। **(पृ. 10)**

स्त्री के मन में सदा प्रेम जीवित रहता है, जिसे वह पसंद करती है, वैचारिक समानता के फलस्वरूप यह पसंद प्रेम में परिवर्तित हो जाती है। डॉ. उर्मिला शिरीष लिखती हैं कि -

'स्त्री के भीतर
सदा जीवित रहता है एक प्रेमी।
दुनिया की तमाम, कुरूपताओं और
जुल्मों से लड़ने की
ताकत देता है
वह प्रेमी
वह पुरुष।
यह अलग बात है कि
वह उसके प्रेम को जीती है मगर छुपाकर रखती है
मन के किसी कोने में।' (पृ. 15)

सबसे मुख्य बात यही है कि परिवार का कोई भी व्यक्ति यह नहीं सोचता की दिशा जिंदगी भर सुखी नहीं रही यदि वह अब खुश है तो हम सब खुश रहें, वरन उसका परिवार समाज को ही अहमियत देता है। भाई सोचता है कि अब सब बहनों की लड़कियों पर भी चरित्रहीनता का आरोप लगेगा। सभी उसके इस कृत्य को अपराध मानते हैं। **(पृ. 15-16/ 32)**

लेखिका ने दिशा और संदीप के रूप में ऐसे व्यक्तित्व को उकेरा है जो साहसी हैं पर पलायनवादी नहीं, जुझारू हैं पर धोखेबाज नहीं। दिशा अपने कर्तव्य से नहीं डिगी संदीप के साथ रह रही है और राजीव को भी नहीं छोड़ा है। उसकी जरूरतों का ध्यान रखती है, राजीव उसके लिए प्रतीक था सम्मान का, बचाव का। यही नहीं संदीप भी राजीव के कटाक्ष सुनता है रहता है पर जब तक दिशा को उसके लक्ष्य तक नहीं पहुँचा देता वह उसका साथ नहीं छोड़ता। वह दिशा की दीदी से कहता है-'महाराज (राजीव) मुझे गालियाँ देते हैं। नौकरों की तरह काम करवाते हैं। उनकी सिगरेट-शराब लाकर देता हूँ। दोनों बेटियों का व्यवहार आपने देखा ही है। तब भी मैं टिका हूँ। टिका रहूँगा। दिशा को खड़ा करके ही जाऊँगा। किसी रिश्ते के नाते नहीं, इन्सानियत के नाते। दोस्ती के नाते।' संदीप गम्भीर आवाज़ में बोल रहा था। उसकी आवाज़ में दृढ़ता थी और चेहरे पर रोष! **(पृ. 74)**

'मित्रता और प्रेम में जाति, धर्म, ऊँच-नीच और उम्र कहाँ देखी जाती है।' उपन्यास में लेखिका ने कविता लिखने और साहित्य पर कई व्यंग्य किये हैं **(पृ.24)** साथ ही पर्यावरण संरक्षण **(पृ. 56)**, कृषक समस्या **(पृ. 41)**, आत्मनिर्भरता

और स्टार्टअप (पृ. 40), वृक्षारोपण, गायों, कुत्तों और पशु-परिंदों का सरंक्षण(पृ. 48, 55) पर जोर दिया है।

हृदय के उद्गार व मानसिक झंझावात को उर्मिला जी ने बीच-बीच में कविताओं के माध्यम से भी उद्घाटित किया है। यह उनके शिल्प की खूबसूरती है। पूरे उपन्यास में काव्यात्मक भाषा का प्रयोग हुआ है। उपन्यास में ग्राम्य शब्द कलथ, उदकती, आवाज, चिनचिनाहट, बास, भभक, कुड़कुड़ाई, सिगरेट के टोट्टे ,अपनी मिट्टी की सोंधी खुशबू के साथ भाव को गूढ़ता प्रदान करने में सक्षम हैं। 'महाराज' संबोधन का प्रयोग दतिया में होता है यह शब्द संदीप ने राजीव के लिए प्रयुक्त किया है। उपन्यास संवाद शैली में लिखा गया है। लेखिका ने इसमें शब्द चित्र उकेर कर प्रतीक और बिम्ब भी प्रस्तुत किये हैं।

कई वाक्य शिल्प की दृष्टि से बेजोड़ हैं।

1 देर तक बहुत देर तक मन को थपथपाते रहे।

2 बीते समय की पीठ पर फिर कुछ फड़फड़ाने लगा।

पूर्वदीप्ति को नवीन रूप में प्रस्तुत किया है-पहला कपाट खुला पहली कहानी। दूसरा कपाट खुला दूसरी कहानी। ऐसे करके छ: कपाट और छ: कहानियाँ सामने आती हैं जो स्त्री शोषण की गाथा कहती हैं। साथ ही इस उपन्यास में डायरी शैली (पृ. 113) और पत्र शैली (पृ.124) का प्रयोग भी किया है।

उपन्यास में कई महत्त्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित हुए हैं जैसे-1 काम करना है तो बाहर निकलकर निडर होकर खड़े होना होगा।
2 सबसे लड़ने या बहस करने बैठ गए तो हमारा समय इसी में बर्बाद हो जाएगा जबकि हमारे लिए एक-एक पल कीमती है।
3 जीवन विराट है बहुआयामी है संघर्ष और सौंदर्य का संगम है।
4 प्रेम का पल्लवन प्रस्फुटन पेड़ों की शाखाओं से ज्यादा कौन फैलाएगा। पास में रहो तो प्रेम समझ में नहीं आता और दूर रहो तो टीस पैदा करता है।
5 स्त्री की देह हमेशा पवित्र होती है।
6 जो अपनी सच्चाई बता दे वह अनैतिक, चरित्रहीन, जो न बताए वह नैतिक चरित्रवान। बड़ा झमेला पाल रखा है हमारे समाज ने।
7 एक समय के बाद संबंध जरूरत में बदल जाते हैं।
8 संबंधों का धागा या तो मजबूत होता है या कच्चा।
केवल एक अशुद्धि वर्तनीगत मिली। पृष्ठ 73 पर 'तुम्हारे' के स्थान पर 'तुहारे' लिखा है।

पृष्ठ 98 पर जहाँ पाँचवा कपाट आना चाहिए वहाँ चौथा कपाट लिखने की पुनरावृत्ति हो गयी है। ये सब कतई महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

जीवन की कसौटी शादी क्यों है? यह प्रश्न समूचे उपन्यास की आधारशिला है पर संदीप भी उसकी माँग में सिंदूर भर देता है। अब प्रश्न यह है कि जब दोस्ती महान है तो फिर शादी का बंधन लेखिका ने क्यों बँधवाया। देहाती सुचिता ही असली पवित्रता नहीं है स्त्री के देहल में सफलता होती हैं यह अखंड प्रश्न है कि यदि एक लड़की लड़के से अपने संबंध के बारे में यदि बता देती हैं तो विवाहित स्तर पर उसे कोई पत्नी बनाने के लिए तैयार नहीं होता अब चरित्र की परिभाषा बदल गई है, संबंधों का रूप बदल गया है। अब शादी के लिए बाध्यता नहीं रही। स्त्री प्रेम में जीती है क्योंकि प्रेम के धागों को तोड़ना आसान नहीं है। प्रेम रूपी वृक्ष अपनी जड़ें गहरी जमा लेता है।

नवीन तकनीकी युग और भूमंडलीकरण की जब हम बात करते हैं तो आज हमें अपनी सोच बदलनी होगी। सुखद यही है कि दीदी, भाई महेश, और बेटी निधि दिशा और संदीप के रिश्ते के प्रति उदार होकर स्वीकृति दे देते हैं।

नवीन कथ्य पर आधारित उपन्यास के लिए डॉ. उर्मिला शिरीष जी को साधुवाद। निश्चित ही यह उपन्यास समाज की सोच बदलने में सफल होगा।

प्राध्यापक-हिन्दी
महारानी लक्ष्मीबाई कला एवं वाणिज्य
महाविद्यालय ग्वालियर - (म.प्र.)
मो. - 946989207

यथार्थ के धरातल पर मर्म उकेरतीं : उर्मिला शिरीष की कहानियाँ

- हिदायत अहमद खान

जन्म - 10 मई 1969।
शिक्षा - एम.ए., पीएच.डी.।
रचनाएँ - दो पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान - क्षेत्रीय सम्मान।

कहानी मानव जीवन में इस कदर रची-बसी है कि इसे इतर कर मानवसमाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। अपने बुजुर्गों से कहानियाँ सुनते-सुनते बच्चे बड़े होते हैं। उन्हीं बच्चों में से कुछ सहृदयी कहानियाँ गढ़ने का कार्य करते और इस सिलसिले को आगे बढ़ाने की अहम जिम्मेदारी निभाते नज़र आते हैं। यह सिलसिला आज-कल, महीनों या सालों का नहीं है बल्कि सदियों से यूँ ही चला आ रहा है। भारतीय परिवेश में तो मासूम बच्चों को कहानी की घुटी पिला कर बड़ा किया जाता है। सोने से लेकर जागने तक बच्चों के कानों में कहानी का रस घोला जाता है। कहने का अर्थ यह है कि सदियों से कहानी सुनी और सुनाई जा रही है। कहानी विधा की लोकप्रियता ही है कि इसे कालखण्ड या किसी राज्य की सीमा में बाँधा नहीं जा सका। यही वजह है कि सदियों पहले सुनाई या लिपिबद्ध की गईं कहानियाँ आज भी सुनने-सुनाने के साथ ही पड़ी जा रही हैं। ये कहानियाँ देश की सीमाओं को भी लाँघती हैं। इसके चलते भारतीय परिवेश में रची कहानियाँ पश्चिमी देशों में लोकप्रिय होती हैं तो वहीं पश्चिमी देशों में लिखीं कहानियों को हिन्दुस्तानी पाठक मिलते हैं।

इस प्रकार कहानी गद्य साहित्य की सबसे रोचक एवं लोकप्रिय विधा है। इसका मुख्य कारण कहानियों का मानव जीवन के किसी विशेष पक्ष को मार्मिक, भावनात्मक और कलात्मक ढंग से प्रस्तुत कर पाठक व श्रोता के समक्ष प्रस्तुत करना है। कहानी को परिभाषित करते हुए कहा जाता है कि यह वह विधा है जिसमें लेखक किसी घटना, पात्र या समस्या का क्रमबद्ध ब्यौरा प्रस्तुत करता है, जिसे पढ़कर रस का संचार होता है और एक समन्वित प्रभाव उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से प्रमुख कथा लेखिका उर्मिला शिरीष की कहानियों को जब हम देखते हैं तो पाते हैं कि समय और समाज के साथ मानव-जीवन का अथक संघर्ष और चुनौतियों का ताना-बाना इनमें पिरोया हुआ है, जिससे इनके कथानक हमें अपने आस-पास के ही प्रतीत होते हैं। कहानी जैसे-जैसे आगे बढ़ती है हम उसके दृष्यात्मकता को मन-मस्तिष्क में महसूस करने लगते हैं। कथा लेखिका उर्मिला शिरीष की कहानियाँ आम समस्याओं से जीवन के किसी विशेष पक्ष तक पहुँचती हैं और उसका मार्मिक, भावनात्मक और कलात्मक वर्णन करते हुए कथानक को दृष्यात्मक बना देती हैं। ऐसी ही चंद कहानियों के संग्रह का नाम है 'दीवार के पीछे'। इस कहानी संग्रह की प्रथम कहानी 'संयोजक' साहित्य, कला और संस्कृति के साथ ही साहित्यकारों और कलाकारों के कार्यक्रम और सम्मान से जुड़ी परतों को खोलती प्रतीत होती है। कहानी के प्रमुख पात्र अचला और मनीष के संवाद से कहानी का आरंभ होता है। यथा-

'तो आपने संस्था का नाम तय कर लिया?'

'नाम तो आपको ही तय करना है। हाँ नाम ऐसा हो जो लोगों की जबान पर चढ़ जाए। जिससे आभिजात्यपन का बोध हो जो आपके तथाकथित साहित्य, संस्कृति और कलाओं को एक मंच पर लाने का एहसास करवाये देखिए मुझे आप जैसी हिन्दी तो आती नहीं पूरी शिक्षा मेरी अंग्रेजी से हुई तो जाहिर है साहित्यिक भाषा तो मैं नहीं बोल पाऊँगी मगर मेरा जो आशय है, वह आप समझ गये होंगे।' अचला ने बेशकीमती मोतियों की माला को हिलाते हुए कहा। हाथ में डले हीरे के कंगन की जो चमक थी, वही उसके होंठों पर थी अँगूठियों और दाँतों की चमक मनीष को एक जैसी लग रही थी पर सबसे अद्भुत चमक थी गालों पर लगता था त्वचा के भीतर से गुलाबी प्रकाश फूट रहा हो।'

इन चंद लाइनों में ही लेखिका पूँजीपतियों की कुत्सित आकांक्षाओं, जिज्ञासाओं और उनके शिकंजे में दम तोड़ती प्रतिभाओं की ओर इंगित करने में सफल रहती हैं। कहानी मखमली चादर में लिपटे खुरदुरे सत्य को उजागर करने में

सफल रहती है। उर्मिला शिरीष के व्यापक रचना-संसार में से कुछ लोकप्रिय कहानियों को पढ़ते हुए हम पाते हैं कि जिस युग की बात लेखिका कर रही हैं वह पूरी तरह विज्ञापनों का युग है, जिसमें एक बौना कद इंसान अपने आपको विज्ञापनों के जरिये आदमकद बताने में सफल रहता है, जबकि प्रतिभाएँ दम तोड़ती नजर आती हैं। यह पाखंड का समय है, जिसमें संवेदनाएँ और भावनाएँ हीनता से अभिशप्त हैं।

प्रस्तुत कहानी के संबंध में स्वयं लेखिका कहती हैं कि, 'संयोजक' कहानी का अनुभव-क्षेत्र कुछ अलग है। कुछ खास बनने की इच्छा, कुछ खास लोगों को खरीदने-पटाने की मानसिकता और सोच हमारे समाज के लोगों में है। साहित्य और कला में सम्मान, पद, प्रतिष्ठा, पुरस्कार पाने की होड़ से उपजा विचार सपना लेकिन मुझे कई बार महसूस हुआ कि अन्ततः सम्मान का हकदार सच्चा, संघर्षशील साहित्यकार या कलाकार ही होता है। 'संयोजक' की ही तरह कहानी 'मज़ाक' भी कला, साहित्य, और संस्कृति के मंच और नैपथ्य के दृश्यों को शब्दों में ढालने की कोशिश करती है। साथ ही साहित्यकारों और कलाकारों के कथित कार्यक्रमों और सम्मानों से जुड़े राज खोलती प्रतीत होती है। यथा-

'कविता से कहिये कि चित्रा को बार-बार मंच पर न बुलाया करे। जरूरी तो नहीं कि हर प्रोग्राम में वह भाषण दे। भजन गाये। गीत सुनाये। एक से बढ़कर एक गायक बैठे हैं और वो है कि बेसुरा गाने के लिए खड़ी हो जाती है। और आजकल वो जैसा नाटक कर रही है न वह अब बर्दाश्त नहीं होता।'

मंगला ने गुस्से में आकर कहा। मंगला का गुस्सा क्या लगभग सभी का गुस्सा चित्रा की उपस्थिति को लेकर था। चित्रा जैसे ही मंच पर आती हँसी और फुसफुसाहटों की लहरें-सी उठने लगतीं। हाँ, लिहाज करके लोग मुँह पर हथेली रख लेते या महिलाएँ अपनी बेशकीमती साड़ी का आकर्षक पल्लू इस तरह सामने लहरा देती, ताकि सामने वालों को उपहास उड़ाती हँसी दिखाई न दे।'

वर्तमान संदर्भ में कहानी 'तमाशा' को देखें जिसे प्रारंभ करते हुए लेखिका लिखती हैं कि 'सुबह के नौ बजे थे। ठंड के कारण धूप भी ठिठुरी हुई लग रही थी। सूरज को सीधी आँखों से देखा जा सकता था। हवा में सुई की तरह चुभनेवाली ठंडक थी। लोगों का आना-जाना कम ही था। सड़कों पर पत्ते बिखरे थे। घर में सारे लोग रजाइयों में डुबके टी.वी. देख रहे थे या चाय पी रहे थे। वह बेटे के साथ कॉलेज जाने के लिए निकल पड़ी। तन-मन भारी होने के बावजूद कॉलेज आना जरूरी था। पेट्रोल भरवाने के लिए बेटे ने अपना पर्स खोला तो झुँझला पड़ा-'माँ, पैसे घर में ही छूट गये हैं।'

'कार्ड से निकाल लो।' उसने पर्स से कार्ड निकालकर बेटे को थमा दिया। पलटकर उसने गाड़ी एटीएम की तरफ मोड़ दी। बाहर एक स्त्री खड़ी थी। उसका सिर ढँका था। भीतर दोनों मशीनें व्यस्त थीं, इसलिए बेटा बाहर खड़ा रहा। बेटा कब भीतर गया और क्यों तीर की तरह बाहर निकल आया यकायक ही उसका ध्यान तब गया जब एक लड़की और एक आदमी को एक-दूसरे पर चीखते हुए उसने देखा।'

इस कहानी में लेखिका बहुत ही अलग अंदाज में उस यथार्थ को समाज के सम्मुख उजागर करने का प्रयत्न करती हैं जिसे देख कर भी अनदेखा किया जाता है। ठीक वैसे ही जैसे कि दो पहिया और चार पहिया वाहन में टक्कर होने पर सारी गलती चार पहिया वाहन चालक पर ही थोप दी जाती है, ठीक उसी तरह किसी लड़की और आदमी के झगड़े में पूरी गलती का ठीकरा आदमी के सिर पर ही फोड़ दिया जाता है। इस कहानी के माध्यम से उर्मिला शिरीष बतलाना चाहती हैं कि समाज में ऐसी भी नारी है जो किसी षड्यंत्र के चलते किसी सभ्य पुरुष पर लांछन लगाकर हंगामा खड़ा कर शांति भंग करने का कुत्सित प्रयास कर सकती है। बहरहाल युवक के कथानक के साथ ही लेखिका समाज को सत्य के साथ अडिग खड़े रहने का संदेश देने में सफल रहती हैं।

'दीवार के पीछे' कहानी संग्रह की अन्य कहानियाँ जिनमें प्रमुख रूप से तिकड़ी, दीवार के पीछे, अंगारों की हँसी आदि कहानियों में भी यथार्थ का बोध होता है। इन कहानियों को लेखिका ने काल अनुसार मानवीय जीवन की अधिकांश अन्तःधाराओं, अन्तर्विरोधों को इबारत में ढालकर समाज के सम्मुख लाने का महती कार्य किया है। इनके कथानक में मानव समाज का संत्रास और प्रतिरोध मौजूद है। इनमें प्रतिस्पर्धा करते पात्र हैं तो वहीं हर पल का संघर्ष और इससे लड़ने की छटपटाहट भी मौजूद है। इन कहानियों को पढ़ते हुए आपके इर्द-गिर्द समाज में क्या कुछ चल रहा है, यदि उसका भान हो जाए तो समझिये कि कहानी का कोई अहम पात्र आपके जीवन में भी मौजूद है और वह लगातार आपसे बावस्ता हो रहा है। वैसे भी कहानी को असरदार बनाने के लिए जरूरी होता है कि देश काल व वातावरण का पूरा ध्यान रखा जाए, उर्मिला शिरीष अपनी कहानियों में इसका प्रयोग करती नजर आती हैं और सफल होती हैं। इसलिए उनकी घटना प्रधान कहानी हो या फिर चरित्र प्रधान और वातावरण प्रधान कहानी की ही बात क्यों न हो सभी वास्तविकता के धरातल पर रची-बसी प्रतीत होती हैं। 'तिकड़ी' कहानी की शुरुआत ही देख लें जिसमें लेखिका मौजूदा जमाने का मंजर खींचती हैं और कथानक की मजबूत जमीन तैयार करती प्रतीत होती हैं। यथा-

'कालचक्र के किसी कालखंड में पृथ्वी पर स्थित किसी देश के किसी प्रदेश के, किसी जिले के, किसी तहसील के किसी गाँव के, किसी मुहल्ले में दो परिवार रहते थे। एक परिवार था पटेल साहब का और दूसरा परिवार था पंचायत अध्यक्ष पंडित रमाकान्त तिवारी का। दोनों परिवारों को डेढ़ सौ परिवारवाले गाँव में अच्छा-खासा रुतबा था। मान-सम्मान था। पटेल साहेब का प्रभाव पंडित तिवारी की अपेक्षा ज़्यादा था, क्योंकि उनके पास पुश्तैनी ज़मीनें थीं, हवेली थी। साहूकारी का पूरे क्षेत्र में जाल बिछा था। छोटे-मोटे, गरीब-गुरबा, बेबसी के मारे, भूखे-नंगे लोगों का बचा-खुचा सोना-चाँदी और गिलट-जो जेवरों 'गहनों' के रूप में होते-गिरवी रखे जाते थे और जिनका ब्याज मूल से ज़्यादा हो जाता था, जो उनकी हाय के रूप में इनकी पेटियों में भरे होते। लेन-देन के कारण उनकी साख बनी हुई थी। अजीब खेल था बल्कि मनोविज्ञान था कि देनेवाले का 'देना' तो सबको दीखता था पर लौटाने वाले की बात किसी के सामने न आती यानी सामाजिक रूप से वह कर्ज़दार होता जिसकी गर्दन झुकी होती जिसकी आँखों में दयनीयता होती।' इस प्रकार कहानी के प्रारंभ में ही देशकाल, वातावरण और यथार्थ के मर्म से पाठक रूबरू हो जाता है।

कहानी संग्रह 'दीवार के पीछे' की कहानियों से हटकर उर्मिला शिरीष की कहानियाँ चाहे वह 'प्रार्थनाएँ', 'राग-विराग', 'उसका अपना रास्ता' हो या फिर 'बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु!' सभी मानव समाज के संबंधों की ऐसी मर्मगाथाएँ प्रस्तुत करती हैं, जो पाठकों को सोचने पर मजबूर कर अन्त: तक उद्वेलित और आंदोलित कर देती हैं। इस समाज में अपने आसपास के परिवेश, पर्यावरण तथा सरोकारों की जीवंत तस्वीर पेश करतीं ये कहानियाँ जीवन के बिम्ब सघनता से मानस-पटल पर उकेर देती हैं। प्रत्येक क्षेत्र में वर्चस्व की जंग और सामंतवादी सोच के प्रतिरोध में खड़े कहानी पात्र संवेदना, मानवता और करुणा की रसधार से मन-मस्तिष्क को आप्लावित कर देते हैं। उर्मिला शिरीष की कहानियाँ किसी एक घटना के माध्यम से जीवन की समग्रता को समेटते हुए कथानक को पठनीय बनाने के साथ ही सहज और सरल भाषा की बानगी प्रस्तुत करती हैं। अंतत: उर्मिला शिरीष की कहानियाँ उन्हें प्रेमचंद की परंपरा के करीब ले जाती हैं। जहाँ जीवन यथार्थवादी दृष्टिकोण से परिपूर्ण होता है। मानव समाज के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद में यथार्थ का चित्रण तो किया जाता है, लेकिन इसके साथ ही आदर्श को स्थापित करने में भी कोई कोर-कसर बाकी नहीं रखी जाती है। इस प्रकार के प्रयोग प्रथमत: प्रेमचन्द की कहानियों में देखने को मिलता है। फिर चाहे वह सर्वाधिक लोकप्रिय कहानी ईदगाह हो या फिर कफन ही क्यों न हो। मुंषी प्रेमचंद ने कहानी को यथार्थवादी रखते हुए भी आदर्शोन्मुख बनाने का उदाहरण पेष किया। इस दृष्टि से उनकी प्रतिनिधि कहानियों में 'बड़े घर की बेटी', 'दुर्गा का मंदिर', 'सज्जनता का दंड', 'पंच परमेश्वर', 'नमक का दरोगा' और 'मृत्यु के पीछे' आदि का उल्लेख प्रमुखता से किया जा सकता है। कहानी ही नहीं उपन्यास में भी प्रेमचंद ने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का प्रयोग किया और बतलाया कि यथार्थ को सजीव बनाने के लिए आदर्श का उपयोग होना ही चाहिए। उनके उपन्यास गबन, गोदान और कर्मभूमि के साथ ही मंगलसूत्र इसका जीवन्त उदाहरण है। इसी प्रकार उर्मिला शिरीष की प्रतिनिधि कहानियाँ 'वे कौन थे', 'मुआवजा', 'सहमा हुआ कल', 'केंचुली', 'शहर में अकेली लड़की', 'रंगमंच', 'निर्वासन' और 'पुनरागमन' को भी आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के लिए सहेजा जा सकता है।

मानवीय इच्छाओं को फलीभूत करती ये कहानियाँ व्यक्ति का मार्ग प्रशस्त करती हैं। इन कहानियों में स्त्री जीवन के अनेक रूप सामने आते हैं। देशकाल और वातावरण के साथ ही युवाओं, किशोरों और बुजुर्गों की ईमानदार भावछवि भी रेखांकित होती चलती है। वे वृद्ध मानवजीवन के ऐसे अनदेखे पक्ष को उजागर करने में सफल रहती हैं जिनसे सामान्यजन प्राय: अपनी दृष्टि भी नहीं डाल पाता है। मानव जिजीविषा के साथ ही प्रेम, घृणा, संघर्ष और राग-द्वेष के साथ जीवन को मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर सभी को चकित भी कर देती हैं।

अमेरिकी कवि, आलोचक व कथाकार एडगर एलिन पो कहानी के संबंध में लिखते हैं कि 'कहानी एक छोटी आख्यानात्मक रचना होती है, जिसे एक ही बैठक में पढ़ा जा सके और जो पाठक पर एक समन्वित प्रभाव पैदा करने के लिए लिखी गई हो, जिसमें उस प्रभाव को उत्पन्न करने से संबंधित तमाम सहायक तत्वों के अतिरिक्त और कुछ न हो और जो अपने आप में पूर्ण हो।' एडगर की इस परिभाषा पर भी ये कहानियाँ खरी उतरती हैं। इन कहानियों का अपना एक अलग उद्देश्य है, जिसे महसूस करते हुए कहा जा सकता है कि ये कहानियाँ केवल मनोरंजन हेतु नहीं लिखी गई हैं, बल्कि इससे लोगों को प्रेरणा भी मिलती है। इसके साथ ही वह मानव समाज में व्याप्त प्रेम और घृणा, असमानता, संघर्ष और जिजीविषा, राग-द्वेष रूपी सरिता में बहते जीवन को कथानकों के माध्यम से पाठकों के समक्ष कुछ ऐसे सहज ढंग से प्रस्तुत कर देती हैं कि वह अचंभित हुए बिना नहीं रह पाता। समाज व जीवन के प्रति यथार्थवादी के साथ आदर्शोन्मुख दृष्टिकोण उर्मिला शिरीष की कहानियों को प्रेमचंद की परंपरागत कहानियों के करीब ले जाता है। इन कहानियों में जीवन के यथार्थ से भागने की परंपरा का निर्वाह कतई नहीं है अपितु जीने की चाह जागृत करने इच्छा फलीभूत होती है।

17/7, शिरीन कॉम्प्लेक्स,
बीडीए कॉलोनी, कोहेफिज़ा,
भोपाल-462001 (म. प्र.)

परिवार, प्रेम और गृहस्थी के सवालों का गवाह चाँद

- अरुणाभ सौरभ

जन्म - 9 फरवरी 1985।
शिक्षा - एम.ए., बी.एड., पीएच.डी.।
रचनाएँ - बारह पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान - भारतीय ज्ञानपीठ सम्मान सहित अनेक सम्मान।

इस सदी ने अपनी उपलब्धियों और सीमाओं का दो दशक पार कर लिया है। उल्लेखनीय है कि इसमें एक तरफ ऐसे युवाओं की फौज है जो बहुराष्ट्रीय कंपनियों मे काम कर उनके उत्पादों का उपभोग, प्रसार को बढ़ावा दे रहे हैं। एक तरफ सिनेमा, विज्ञापन पर बाजार का पूरा प्रभाव रेखांकित किया जा सकता है। दूसरी तरफ अत्यल्प लेकिन गंभीर और लीक से हटकर सोचने वाले मन भी सक्रिय हैं जिन्होंने अपनी रचनाशीलता को आधार बनाकर इस सदी को बेहतर बनाने का प्रयत्न किया है। एक चिंतनशील सक्रिय मन जो अपनी न्यून संख्या के बावजूद साहित्य-संस्कृति में अपनी सक्रियता बनाए हुए है। उर्मिला शिरीष एक बहुचर्चित स्त्री-कथाकार हैं। उर्मिला शिरीष ने कई जरूरी कहानियाँ लिखी हैं। इन कहानियों के भीतर से भारतीय समाज का स्त्री पक्ष बहुत खुलकर सामने आता है। उर्मिला जी की कहानियों में हिंदी पट्टी की एक सुव्यवस्थित लेखिका का संपूर्ण जीवन आईने की तरह सबकुछ साफ-सफ्फाक करता जाता है। इसमें मध्यवर्गीय जीवन की स्त्री और उनकी तमाम परिस्थितियाँ एक साथ कहकहे लगाती हुई दिखती हैं। इन कहानियों और उपन्यासों में उर्मिला जी ने हिंदी समाज के भीतर की वैचारिक संवेदना और हलचल को, समाज की गहरी पड़ताल करके हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। एक बहुधा अधीत लेखिका के रूप में उर्मिला शिरीष का संपूर्ण जीवन साहित्य और संस्कृति कर्म के प्रति समर्पित रहा है। इनकी कहानियाँ आश्वस्त करती हैं।

आज की हिन्दी कहानियों की प्रमुख स्त्री कथाकार उर्मिला जी की कहानियों से गुजरना समकालीन हिन्दी कहानी की धारदार दुनिया में कदम रखना है। इन्होंने अत्यन्त सहजता और धैर्य के साथ रचनाकर्म किया। हमारे दौर में एक सायलेंट वर्कर कथाकार, जिनकी कहानियाँ बोलती हैं। एक जीवन, एक मौसम, एक राग, और कहानियों के निमित्त एक वायुमंडल के मिजाज को टोहना जहाँ जरूरी काम है। सहजता के साथ जीए हुए स्त्री जीवन का जीवनानुभव, संबंध उर्मिला शिरीष की कहानियों में उपस्थित है। वह भी पूरे नागर जीवन की स्त्रियों के सामाजिक यथार्थ के साथ। इनके अबतक 18 कहानी संग्रह प्रकाशित हैं।

उर्मिला शिरीष ने तीन उपन्यास लिखा है 'खैरियत है हूजूर', 'कोई एक सपना' और 'चाँद गवाह'। चाँद गवाह उनकी ऐसी कृति है जिसके माध्यम से जीवन में जिए हुए लय, सुर ताल हैं, तो खेल भी, गति है तो विराम भी, उम्मीद है तो संघर्ष भी..कम सुखद नहीं है कि यह स्त्री कथाकार जीवन के हर खानों पर कथा बुनना जानती है, जिसमें गिनती के बाहर भी न जाने कितनी बिखरी हुई और जानी-अनजानी दुनिया है, संवेदना है। व्यवस्थित जीवन की जगह यहाँ अनगढ़पन का सौंदर्य पूरी चेतना में शामिल है। इसीलिए उर्मिला शिरीष उन बहुत कम बचे हुए लोगों को अपनी कथात्मकता में शामिल करती हैं, जिनके पास यथार्थ के स्तर पर जीवटता और उम्मीद के स्तर पर रोशनी की आखिरी किरण तक जीवन जीने वाली स्त्री जद्दोजहद, एक समर्थ रचनाकार होने

की पूरी सम्भावना से 'चाँद गवाह' में अभिव्यक्त होती है अपने समय-समाज की गंभीर पड़ताल करते हुए। दिशा का चरित्र हिंदी समाज में और साहित्य के भीतर एक अद्भुत चरित्र है। यह चरित्र जैनेंद्र कुमार की सुनीता से आगे का चरित्र है।

दिशा एक अधेड़ उम्र की स्त्री है जो अपने परिवार से, समाज से सदा अपेक्षित है। उसे न प्रेम मिला न जीवन। उसे मिला है सिर्फ भाइयों के ताने, लोगों की बातें और शराबी पति की गालियाँ। दिशा के पति का नाम राजीव है। दिशा की दो बेटियाँ हैं निधि और पारुल। दोनों बेटियाँ भी उनकी नहीं सुनतीं। उनका कोई नहीं सुनता। संदीप नामक एक व्यक्ति से उसे प्रेम हो जाता है और इस प्रेम को असली स्वरूप तक ले जाने के लिए दिशा अपने फार्म-हाउस का उपयोग करती है। उस फार्म-हाउस में संदीप के साथ वह अपने पति और बच्चों के साथ रहती है। हालाँकि संदीप उसकी मदद करता है। एक प्रेम कहानी के भीतर का पात्र जो दिशा की उलझनों को सुलझाने की कोशिश करता है। यहाँ भावुकता की रोमानी कल्पनाओं से नहीं, यथार्थ की सहज चेतना से गढ़ी हुई कथावस्तु है। इसीलिए इस यथार्थ में शिल्प का अनगढ़पन मिलना स्वाभाविक भी है और क्रिया प्रसूत भी। इन सबके केंद्र में स्त्री होने की तल्ख सच्चाइयों से कथा गढ़ने की पूरी कला उर्मिला शिरीष के पास है। स्त्री जीवन के इर्द-गिर्द घूमती है और अलग-अलग स्त्री जीवन का कोना बारीकी से अभिव्यक्त हुआ है। हर तरफ के जीवन में सवालों का अंबार है। ये सवाल हमारे दौर की मौजूँ सच्चाई है जिससे लेखिका पूरी तरह वाकिफ है।

उपन्यास में स्त्री का चेहरा कई तरह के सवालों से एक साथ संवाद करता है, इसमें एक स्त्री का सरल-सहज प्रश्न और जिज्ञासा किस प्रकार जीवन की कठिन सच्चाई से जुड़ जाती है, वह देखने लायक है। पर इनके सवाल उस सहज जिज्ञासा के उस स्वरूप तक हमें ले जाते हैं, जहाँ से जिम्मेदारियाँ ही मनुष्य को असमय वृद्ध कर देती हैं। उपन्यास की कथावस्तु के भीतर कहीं भी झटका देकर लेखिका आगे नहीं बढ़ती अपितु बहुत सहज ढंग से चुपचाप अपनी बात कह देती हैं। एक अधेड़ स्त्री जो मानसिक रूप से सम्पन्न है-वह कविता लिख सकती है, पेंटिंग बना सकती है, दिशा है, उसे अपने जीवन से जुड़ी सारी स्मृतियाँ एक-एक कर याद आती हैं पर अपने जवान चेहरे की याद नहीं आती।

लेखिका दिशा के माध्यम से स्त्री मन का कोना-कोना झाँक लेती हैं। और एक खास का साइलेंट-प्रोटेस्ट करती है। इसे हमारे दौर की रचनात्मकता की मूल प्रवित्तियाँ कहना एक तरह का सरलीकरण होगा। मौन विद्रोह को द्वंद्व और तनाव के साथ साध लेना और बिना आक्रामकता के अपनी बात को बहुत ही सहज ढंग से कह देना उर्मिला जी की अपनी विशिष्टता है। जिसके आधार पर ही दिशा जैसी पात्र गढ़ने में ये सक्षम हुईं हैं। बिना लाउड हुए भी किस तरह से तनाव के विषय को बुना जा सकता है, यह बात उर्मिला शिरीष बेहतर समझती हैं। उस समझ के धरातल से कथावस्तु का वितान खींचने में काफी सफल भी हुईं हैं। सकारात्मक सोच और गहरी समसामयिक पैठ को अपनी पैनी दृष्टि के साथ लाती हैं जिनमें गंभीर रचनात्मकता की पूरी समझ है, जीवन-जगत के प्रति जिनमें कुछ नया करने की ललक है। जीवन की ऐसी बहुलार्थता और समकालीन सरोकारों से पूर्णतया अवगत इस कथाकार के पास एक अनूठा राग है जिसे स्थितियों द्वारा गाया जा रहा है। विपरीत समय से दो-दो हाथ करने की इस रचनात्मक हिम्मत का स्वागत अवश्य होना चाहिए।

यह उपन्यास आपके अंतर्मन को झकझोर नहीं सकता, आपको बहुत बेचैन नहीं कर सकता, आपके भीतर अनावश्यक तिलमिलाहट नहीं पैदा कर सकता मगर एक क्षण के लिए आपको मौन कर सकता है और आप अचानक संवेदन तंतु के तीव्रतर होने की स्थिति में आ सकते हैं। ऐसी नायाब संवेदनात्मकता की धनी हैं, हमारी उर्मिला शिरीष। चाँद गवाह में प्रतीकात्मक विद्रोह, खामोशी की अनुगूँज और जटिल परिस्थितियाँ हैं। कई जगह कविताओं का प्रयोग है, जिसमें दिशा के कवि का एलिनेशन, मूल अर्थ के साथ जुड़ा है। जिसमें कवि के भीतर छिपी हुई स्त्री जिसको पहचानने से

दिशा का इनकार है। पहचानने से कवि इनकार करता है वह दरअसल कवि की संभावित आत्मा है या मूलात्मक जिसके पड़ोस में कवि रहता है। इस पड़ोसी को नकारने की कोशिश इतनी सहज नहीं है। यह नकार बोध अनात्मा होने की चेष्टा तक जाता है–मानवीय संबंधों को लेकर संवेदनशील रचनाशीलता का परिचय दिया है। दाम्पत्य जीवन और दाम्पत्य प्रेम के सवालों से लेखिका लगातार टकराती है।

चाँद गवाह उपन्यास की नायिका दिशा गृहस्थी के सूत्रों की पड़ताल करती है। यहाँ गार्हस्थ प्रेम की विविध भंगिमा का प्रकटीकरण असहजता में संभव हुआ है। इनकी सौंदर्य दृष्टि में भी दाम्पत्य भाव रंजित नहीं होता है। जीवन के विविध-अवयवों से और अनुभवों से, आह्लाद दिशा के मानसिक वायुमंडल के मिजाज़ को टोहना यहाँ जरूरी काम है। सहजता के साथ जीते हुए जीवन की उत्कट लालसा यहाँ उपस्थित है। गार्हस्थ जीवन का प्रेम भारतीय कथा का मूल उत्स है मगर उर्मिला शिरीष इसे चुनौती की तरह लेती हैं, वे सभी प्रश्न जिनसे इस गृहस्थी और परिवार की मूलात्मा तय होती है, उन सबको नायिका चुनौती देती है। लेखिका ने दिशा की आत्मा में प्रवेश किया है। यहाँ भारतीय परंपरा के सांस्कृतिक विवेक केंद्र में महज गृहस्थी नहीं है, एक मुक्त स्त्री का मन है जो घर, परिवार और देह की सीमाओं का अतिक्रमण करती है। जिसे लेखिका की नायिका आत्मसात करती है। और उपस्थित करती है जागृत चेतस विवेक और चुनने की आजादी। इन उदाहरणों में दिशा की कविताई में सूक्ष्मता और प्रतीकात्मकता में नवाचारों का प्रस्तुतीकरण देखने लायक है। रेत की आवाज की अनुगूँज तक नायिका सुनती है। इन सबके बीच परिवार, प्रेम और गृहस्थी से सतत् सम्वाद करती है।

उर्मिला शिरीष भारतीय भाषा की उस धाराप्रवाह परंपरा की लेखिका हैं जहाँ पर जीवन है और उसकी संपूर्णता। उस जीवन की संपूर्णता को अपनी भाषा में व्यक्त करती है। मानव जीवन की विराटता का सम्पूर्ण आख्यान रचती है। अपनी निजता से कवि जीवन के वैविध्य को प्रस्तुत करता है। भावों के प्रस्तुतीकरण में निज का परिष्कार कर जन की पीड़ा को आत्मसात करती हुई लेखिका हैं। इनका कथा साहित्य हिंदी लोक मानस का परिष्कार करना चाहता है। अस्तु साहित्य और हिंदी साहित्य में उर्मिला साहित्य की कथा सतत् प्रवाहमान धारा के साथ चलती है। प्रेम सौंदर्य और आह्लाद में जीवन के सांगोपांग को उपस्थित करने की कला उर्मिला शिरीष के पास है। उपन्यास की भाषा सर्वथा विरल है मगर सरलता के साथ। अपने जीवन को उल्लासमय ढंग से जीने वाले लोगों की भाषा इनके पास है। एक सकारात्मक संकेत की भाषा पूरे उपन्यास में मौजूद है। एक बारीक दृष्टि और पैनी नजर से लेखिका बदलते मध्यवर्ग की स्त्री भाषा को ताक रही है। मुख्यधारा से कटे हुए भी लोगों की भाषा का संपूर्ण आख्यान है–चाँद गवाह! उस आख्यान में आजाद स्त्री अपनी संपूर्ण सांस्कृतिक चेतना के साथ मौजूद है। इस उपन्यास का केन्द्रीय रस करुण है। यह रस जीवन के परिपाक से निर्मित हुआ है, जहाँ अतिंम साँस तक जिंदगी जीने की तमीज है! इस उपन्यास में इक्कीसवीं सदी की स्त्री के लिए तमाम खाद-पानी है जिनसे उनकी वैचारिक निर्मिति सम्भव होती है। उस निर्मिति में समय-समाज और विचार के साथ-साथ तमाम सवालों की टकराहट है। उन सवालों से टकराना लेखिका जरूरी समझती है। इस किताब में आज के दौर के तमाम सवाल मौजूद हैं!

लेखकों के लिए हर समय अंधकारपूर्ण ही रहा है। सृजनात्मक व्यक्तित्व उसी अंधकार से अपनी सर्जना के बीज-तत्व ग्रहण करता है। उस बीज तत्व से युग-जीवन की अतिरेकपूर्ण स्थिति का और अंधकार का आवरण हटाकर आलोकमान लोक की तरफ ले जाने का रास्ता खोजा जा सकता है। सर्जना अंधकार के खिलाफ प्रतिरोध है बशर्ते इस प्रतिरोध में आम जनता के दुख-दर्द की स्वाभाविक उपस्थिति दर्ज हो। एक बहुधा अधीत लेखिका के विचार उपन्यास में दर्ज हुए हैं। यह उपन्यास पारिवारिक अनुशासन के कई बंद द्वार खोलता है। यहाँ ज्ञान की अमूर्त शब्दावली की जगह पर साफ-सरल शब्दों का प्रयोग हुआ है। यहाँ दो टूक शब्दों के साथ वैचारिक चेतना निर्मित की पहल है। अपने समय के वाजिब सवालों से टकराकर उन तमाम सवालों का जवाब भी दिया है।

उर्मिला शिरीष के अंदर गहरी समझ और विश्व साहित्य का गंभीर अध्ययन दोनों है, जिससे इस उपन्यास की शिल्पगत रचना-प्रक्रिया मजबूत होती गयी है, शिल्प सुगठित होता गया है, भाषा निखरती गयी है। उर्मिला जी के सौंदर्य दृष्टि की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। उपन्यास में कविता की भाँति बिम्ब सृष्टि में एक साथ सभी ज्ञानेद्रियाँ प्रभावित होती हैं। प्रतीकों का उपयोग भी लेखिका ने कवि की भाँति किया है। उपन्यास में दृश्यात्मकता इतनी कि उपन्यास, कविता और चित्रकारी एक-दूसरे के पूरक हों। निर्द्वंद्व और निर्भीक स्वर के प्रति लेखिका अपनी प्रतिबद्धता को इंगित करती हैं। यहीं से जीवन और जगत के प्रति एकनिष्ठ जीवटता आती है। जहाँ छल, छद्म, पाखंड के लिए कोई जगह नहीं है। निर्भ्रांत भावों से मुक्तिकामी स्वरों की पहचान करने में उर्मिला शिरीष सक्षम रहीं हैं, तदनुरूप बिम्ब भी गढ़ लेती हैं, भाषा भी निर्मित कर लेती हैं-कवित्वमय भाषा में दिशा की कथा उपन्यास में कह देती हैं। जहाँ जीवन, भाषा, कथा और कविता एक-दूसरे में संगुंफित हो जाते हैं।

जीवनानुभावों की विविधता, संघर्षों के प्रति आस्था, जिजीविषा, कविताई का स्थापत्य, संवेदना का सुसंगत और सुगठित रूप एक साथ देखने मिल जाता है। इस उपन्यास में दुनिया में सम्बन्धों का संयोजन है, जो एक खास तरह के मानवीय सरोकार के साथ रचनात्मक शक्ति का विकास हुआ है। मनुष्यों के छल-छद्म, पाखंड और सम्बन्धों में धोखाधड़ी, काईंयापन से हृदय का त्रस्त होना भी स्वाभाविक है। संवेदनहीन दुनिया से लेखिका को चिड़ है-इसीलिए इस तरह के अनछुए पहलू पर हिंदी में उपन्यास लिखकर अपने समकालीन अवधारणात्मक गड़बड़ियों की शिनाख्त करके उनको करेक्ट करने की कोशिश उर्मिला जी की है। वैचारिक हलचलों से गुजरती स्त्री की मानसिक पड़ताल लेखिका करती हैं । वैचारिक क्षमता का आकलन करती हैं। उस वैचारिक क्षमता का मूल्यांकन करके अपनी बेबाक और विश्वसनीय भूमिका बनाने की दिशा में अग्रगामी पहल करती हैं । आज हम जिन वैचारिक संकटों का सामना कर रहे हैं उसकी बानगी यहाँ दिख रही है। हमारा समाज कई तरह से टुकड़े-टुकड़े में अपनी मर्यादा बचा रहा है तब यह स्वाभाविक है कि इस उपन्यास को युवाओं के बीच ज्यादा से ज्यादा प्रसारित किया जाए। संदीप की भूमिका पूरे उपन्यास में एक सहयोगी की है, जो दिशा को फिर से खड़ा करना और उसके परिवार को फिर से खड़ा करना चाहता है, यह पात्र भी उपन्यास की जान है। संदीप के माध्यम से लेखिका ने नए अर्थबोधों को पिरोकर रख दिया है।

इस उपन्यास का भाषाई पक्ष बहुत मजबूत है! भाषा के पक्षों पर विचार करने का सीधा अर्थ है-'बोध निर्माण की प्रक्रियाओं से सीधे जुड़ना।' उपन्यास की भाषा हमारे बोधगम्य (ज्ञान) अनुभव और संवेदना के धरातल को सुसंस्कृत करने में सहायक है। बहुलता कथा भाषा के निमित्त एक जरूरी विशेषता है। बहुलता का सरलीकरण अधिकता, सघनता या मल्टीच्यूड लिया जाता है। बहुलता एक व्यापक विश्लेषण है, जो संस्कृति की बोध-प्रणाली से हमें जोड़ती है। मनोजगत के विस्तारीकरण की प्रक्रिया बहुलता का हिस्सा है। यह विस्तारीकरण हमारी संस्कृति को व्यापक और उदार बनाता है। अंतर अनुशसनात्मक अभिधान को पुष्ट करने हेतु बहुलता आवश्यक है। उदार स्वरूपा प्रक्रिया बहुलता में ही संभव है। प्रत्यक्ष और परोक्ष वस्तुसत्य का उपन्यास की भाषा में बहुलता के साथ प्रक्षेपण श्रेष्ठ उपन्यास की ओर चाँद गवाह को ले जाता है। जिसकी भाषा का संदर्भ ही बोध से जुड़ा है और बोध की बहुलता या बोधि स्तर में बहुलता जातीयता के विविध रंग और आस्वाद को विकसित करते हैं। सापेक्ष ज्ञान का बौद्धिक धरातल पर लाने का योजना बहुलता के बिना नितांत असंभव है। भाषा हमारी भावनाओं का प्रकट रूप है तो साहित्य हमारे चिंतन का सर्वश्रेष्ठ रूप। इस उपन्यास की भाषा का अर्थ भाषा बोध को परिष्कृत कर सामान्य से विशेष अवस्था में जाना ही है। इस उपन्यास में पठनीयता इतनी है कि हमारी रुचियों को परिष्कृत कर सकती है और संस्कारों को सुरुचि प्रदान कर सकती है।

सहायक प्राध्यापक,
सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी
शिक्षा विभाग क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान,
एन.सी.ई.आर.टी, श्यामला हिल्स,
भोपाल-462002 (म.प्र.)
मो.-9871969360

उर्मिला शिरीष की कहानियों में आधुनिकता बोध

– गोविंद सिंह मीना

जन्म – 1 मई 1989।
शिक्षा – एम.ए., पी.एच.डी.।
रचनाएँ – पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित।

आधुनिकीकरण आज की दुनिया और आज के समय में बड़ी अवधारणा है। आधुनिकीकरण, आधुनिक शब्द से लिया गया है जिसका अर्थ है नया, वर्तमान, समकालीन और अन्य अनेक अर्थ। जबकि आधुनिकीकरण का अर्थ है परिवर्तन, नवीनीकरण, उच्चतम विकास और नवीनता। आधुनिकता, आधुनिकतावाद और आधुनिकीकरण एक पुरानी अवधारणा है। वे अस्पष्ट और अप्रभेद्य हैं। लोग बहुत पहले से इस अवधारणा के बारे में बात करते रहे हैं। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद और फ्रांसीसी क्रांति के दौरान भी आधुनिकीकरण की अवधारणा महत्त्वपूर्ण होने लगी। हम साहित्य में भी आधुनिकीकरण की अवधारणा को पढ़ और पा सकते हैं। अनेक उपन्यासकारों, लेखकों और कवियों ने अपने-अपने ढंग से आधुनिकीकरण की बात की है। उन्होंने आधुनिकीकरण की अवधारणा को अपने तरीके से समझाया है उन्होंने इस अवधारणा को कई प्रकार से समझाया है। कई बार ऐसा हुआ है जब लेखकों, उपन्यासकारों और कवियों ने आधुनिकीकरण के बारे में जो व्यक्त किया है, उसके लिए उन्हें बहुत आलोचनाओं का सामना करना पड़ा है। लेकिन फिर भी उन्होंने आलोचनाओं और विरोधाभासों के बावजूद अपना काम जारी रखा है। उर्मिला शिरीष की कहानियों में भी आधुनिकता बोध दृश्यमान है। 'उनके द्वारा लिखी और संपादित पुस्तकों की गिनती दो दर्जन तक पहुँचने ही वाली है। इनमें कहानी संग्रह-'बिवाइयाँ तथा अन्य कहानियाँ', 'उर्मिला शिरीष की श्रेष्ठ कहानियाँ, दीवार के पीछे, मेरी प्रिय कथाएँ, ग्यारह लंबी कहानियाँ, कुर्की और अन्य कहानियाँ, लकीर तथा अन्य कहानियाँ, पुनरागमन, निर्वासन, रंगमंच, शहर में अकेली लड़की, सहमा हुआ कल, केंचुली, मुआवजा, वे कौन थे' के अलावा प्रख्यात लेखक गोविन्द मिश्र की जीवनी 'बयावां में बहार' और साहित्यकारों से साक्षात्कार 'शब्दों की यात्रा के साथ' शामिल हैं। यही नहीं उर्मिला शिरीष ने 'खुशबू' और 'धूप की स्याही' नामक कहानी संग्रहों का संपादन भी किया। उनके द्वारा संपादित अन्य पुस्तकों में 'प्रभाकर श्रोत्रिय : आलोचना की तीसरी परम्परा', 'हिंदी भाषा एवं समसामयिकी' तथा 'सृजनयात्रा : गोविन्द मिश्र' शामिल हैं।' ऐसा माना जाता है कि आधुनिकीकरण की शुरुआत पुनर्जागरण काल के दौरान हुई।

निर्वासन कहानी संग्रह की भूमिका में अन्तर्निहित कहानियों में चित्रित आधुनिकता के बारे में व्यक्त किया है कि 'उर्मिला शिरीष की कहानियों में स्त्री और वृद्धों के प्रति गहरी संवेदना और जागरूकता दिखाई देती है। समाज का बदलता हुआ चेहरा और आज की समस्याओं का विश्लेषण

है। इसलिए ये समकालीन व प्रासंगिक कहानियाँ हैं।'

सभ्यता की शुरुआत से ही मानव जीवन पर प्रौद्योगिकी का जबरदस्त, लगभग अकल्पनीय प्रभाव पड़ा है। जबकि मानव समाज पर संपूर्ण प्रभाव का आकलन करना लगभग असंभव है, प्रौद्योगिकी ने स्पष्ट रूप से मानव जीवन को आसान, अधिक सुखद और सुविधाजनक बनाने के लिए बहुत कुछ किया है। पुनरागमन कहानी संग्रह के प्रत्यारोपण कहानी से– 'डॉ. तिवारी के फोन रखते ही जी.डी. लैपटॉप लेकर बैठ गये। ग्रे कलर की स्क्रीन वाला एक बॉक्स दुनिया जहान की जानकारी का खजाना था।' बीते वर्षों में, प्रौद्योगिकी ने हमारी दुनिया और दैनिक जीवन में क्रांति ला दी है। इसके अतिरिक्त, वरिष्ठ नागरिकों के लिए प्रौद्योगिकी ने हमारी अँगुलियों पर उपयोगी जानकारी डालते हुए अद्भुत उपकरण और संसाधन बनाए हैं। कहानी में कम्प्यूटर और फोन के उपयोग उल्लेख करते हुए आधुनिकता को दिखाया गया है। आधुनिक तकनीक ने फोन, लेपटॉप जैसे बहु-कार्यात्मक उपकरणों के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। कंप्यूटर पहले से कहीं अधिक तेज, अधिक पोर्टेबल और उच्च शक्ति वाले होते जा रहे हैं। इन सभी आधुनिक तकनीकी क्रांतियों के साथ, प्रौद्योगिकी ने हमारे जीवन को आसान, तेज़, बेहतर और अधिक मज़ेदार बना दिया है।

आधुनिकीकरण केवल आधुनिक तकनीक और मशीनों तक ही सीमित नहीं है। यह केवल विकसित प्रौद्योगिकियों और मशीनों से अधिक व्यापक अवधारणा है और लोगों को आधुनिकीकरण के बारे में इस अवधारणा को स्पष्ट करना चाहिए। निरंतर शहरीकरण, आर्थिक विकास और तकनीकीकरण हो रहा है। ये ऐसी गति से दौड़ रहे हैं जो लोगों को परंपरा से हटकर नई तकनीक की ओर उन्मुख कर रही है। भले ही वे पारंपरिक रूप से हट जाते हैं, फिर भी पुराने लोगों से उपयोगी जानकारी व अवधारणाएँ मिलती हैं। परम्पराएँ सदियों पहले विकसित हुई हैं और उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता कि आधुनिक युग में क्या हो रहा है। कुछ पुराने रीति-रिवाज व जीवन शैली अभी भी इन पारंपरिक लोगों को जीवित रखने के लिए मौजूद हैं। आधुनिकीकरण की कोई भी अवधारणा इन पारंपरिक अवधारणाओं को प्रतिस्थापित नहीं कर सकती है। सिर्फ नई संस्कृति और आदतें अपनाने से कोई आधुनिक इंसान नहीं बन जाता। नई संस्कृतियों और आदतों को अपनाकर उन्हें अलग-अलग चीजों के बारे में भी अपनी मानसिकता बदलनी चाहिए। आधुनिक काल में माता-पिता अपनी पुत्री को आज़ादी देने के पक्ष में हैं। डॉ. उर्मिला शिरीष के 'वे कौन थे' कहानी संग्रह की 'यह सच है' शीर्षक कहानी में निमी कहती है 'एक घरेलू लड़की जिसकी न कोई आकांक्षा, न व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, न कुछ कहने, बताने की इच्छा। घर का काम करती रहो और जो है पहनो, खाओ-पियो बस और कुछ नहीं। कोई चूँ-चपाट मत करो। जिन्दगी तो बस हँसी के लिए।' यहाँ माता-पिता के व्यवहार का उल्लेख किया गया है। लोग सोचते हैं कि अगर कोई लड़की और लड़का रात में एक साथ घूम रहे हैं, तो वे रिलेशनशिप में हैं। वे दिन में भी घूमते हैं फिर भी यही सोचते हैं। उन्हें इस बारे में अपनी सोच बदलनी चाहिए क्योंकि एक लड़की और एक लड़का दोस्त भी हो सकते हैं। जरूरी नहीं कि वे रिलेशनशिप में हों। अगर हैं भी तो उन्हें कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिए क्योंकि वे खुद को गलत कामों में नहीं उलझा रहे हैं। लड़की और लड़के का एक साथ घूमना बिल्कुल गलत नहीं है। इस विषय पर लोगों को अपनी धारणा बदलनी चाहिए। अगर किसी लड़की ने कोई खास ड्रेस पहनी है तो जाहिर तौर पर उनके माता-पिता या परिवार के

सदस्यों को इसके बारे में पता होगा क्योंकि वे ही उन्हें बच्चों की पसंद के कपड़े दिलाते हैं। भले ही उन्होंने खरीदा नहीं है तो भी वे जानते हैं कि उनके बच्चे ने क्या पहना है क्योंकि वे एक ही घर में रहते हैं। अगर विभिन्न चीजों के बारे में उनकी मानसिकता नहीं बदलती है और वे सिर्फ नई संस्कृतियों और आदतों का पालन करते हैं, तब भी उन्हें आधुनिक व्यक्ति नहीं माना जाता है। माता-पिता को समस्या नहीं है कि उनकी बेटी घर के अंदर या बाहर क्या पहन रही है, दूसरों को भी कोई समस्या नहीं होनी चाहिए और अन्य लोगों के जीवन और जीवन शैली में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। लोग यह भी सोचते हैं कि जब युवा या वयस्क बड़े शहरों या अपने घर के बाहर कहीं भी जाते हैं, तो वे बदल जाते हैं और खुद को खराब कर लेते हैं। ऐसा कुछ नहीं होता है। कोई फर्क नहीं पड़ता कि लोग एक नई जीवन शैली के अनुकूल हैं, वे अपनी परंपराओं, संस्कृति और विश्वासों को नहीं भूलते हैं। वे अब भी वही रहते हैं। बस उनके सोचने का तरीका बदल गया है। उनका दृष्टिकोण या तो व्यापक हो जाता है या संकुचित हो जाता है। लेकिन उनमें से ज्यादातर का दिमाग विकसित हो जाता है। अधिकांश को लगता है कि कभी-कभी अपने दैनिक और आराम क्षेत्र से बाहर निकलना, बाहरी दुनिया को देखना, अपने दिमाग का विस्तार करना और विभिन्न चीजों के बारे में सोच बदलना आवश्यक है।

धर्म-अधर्म कहानी संग्रह में परंपराओं के बारे में कहा गया है कि 'ये ढोंग कब तक चलेंगे इस बाबा ने तो तुम्हें पागल कर दिया है। कैसा नशा सवार है तुम्हारे ऊपर कि सारी फसल का पैसा तुमने उसके स्वागत-सत्कार और दान-दक्षिणा में बर्बाद कर दिया।' आधुनिकीकरण एक सतत् प्रक्रिया है। जैसे समय कभी नहीं रुकता, वैसे ही आधुनिकीकरण की अवधारणा भी नहीं रुकती। आधुनिकीकरण का मतलब यह नहीं है कि हम अपने सभी पारंपरिक मूल्यों को भूलकर वर्तमान मूल्यों को अपनाएँगे। आधुनिकीकरण यही सब कुछ नहीं है। बल्कि इसके बजाय हमें उन पारंपरिक मूल्यों को हमेशा अपने पास रखना चाहिए क्योंकि दुनिया चाहे कितनी भी आधुनिक क्यों न हो जाए, हमें अपनी विरासत, संस्कृति, तहज़ीब, तीज-त्यौहार और मान्यताओं को नहीं भूलना चाहिए। हमें एक-दूसरे की भावना और विचारों का सम्मान करना चाहिए तथा उनका समर्थन करना भी सीखना चाहिए। यह हम पर निर्भर करता है कि हम उनसे कैसे निपटते हैं। हमें मजबूत होने, सभी समस्याओं से निपटने तथा अपने विश्वासों और मूल्यों में दृढ़ रहने की आवश्यकता है। हमें यह भी समझने की जरूरत है कि हर किसी को जीवन में आगे बढ़ने की जरूरत है। लेकिन उस प्रगति को पाने के लिए हमें अपने सिद्धांतों, विश्वासों और मूल्यों को छोड़ना नहीं है। हमें इनके के बीच संतुलन बनाना सीखना चाहिए। आधुनिक बनने के साथ-साथ अपनी पारंपरिक संस्कृति, संस्कारों और मूल्यों को बनाए रखने की जरूरत है। दोनों के बीच उचित संतुलन बनाए रखना चाहिए। आधुनिकीकरण की अवधारणा के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रभाव हैं। यह हम पर निर्भर करता है कि हम इस अवधारणा को कैसे समझते हैं और चीजों को कैसे अपनाते हैं।

19वीं सदी महिलाओं और महिलाओं के अधिकारों के लिए प्रतिकूल अवधि थी। यह एक ऐसा दौर था जब समाज में पुरुषों का वर्चस्व था, जहाँ परिवार में आय का प्राथमिक स्रोत और घर के अंतिम निर्णय भी पुरुष पर छोड़ दिए जाते थे। बच्चों का पालन-पोषण अक्सर महिलाओं पर छोड़ दिया जाता था। आज की आधुनिक

21वीं सदी में महिलाओं के अधिकारों और स्वतंत्रता की दिशा में एक जबरदस्त कदम उठाया है। आधुनिक समाज में महिलाओं की भूमिकाओं का बहुत विस्तार हुआ है। निर्वासन कहानी संग्रह के किसका चेहरा कहानी में रेलगाड़ी में एक स्त्री अपनी चार बेटियों के साथ यात्रा करते समय इस प्रकार कहती है कि-'मैडम बचाइए। मैडम देखिए। हमारा सामान! हम कहाँ जाएँ? मैडम, दम घुट रहा है? यहाँ एक स्त्री को यात्रा करते समय होने वाले तकलीफ के बारे में चित्रित किया गया है।

हमारे भारतीय समाज में महिलाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। लेकिन आधुनिक समाज जिसमें पुरुष दुर्भाग्य से अभी भी 'सबसे मजबूत लिंग' हैं; हम यह नहीं भूल सकते कि एक महिला का जीवन पुरुष के जीवन से कहीं अधिक जटिल होता है। एक महिला को अपने निजी जीवन का ख्याल रखना पड़ता है और अगर वह माँ है तो उसे अपने बच्चों के जीवन का भी ख्याल रखना होगा। इससे भी बुरी बात यह है कि लड़की पीड़ित है और वह शादीशुदा है तो उसके कंधों पर अतिरिक्त दबाव पड़ सकता है। शहर में अकेली लड़की, कहानी में बदलते हुए समाज में पीड़ित लड़की और परिवार द्वारा दी जाने वाली यातनाएँ झेलती है - 'एक लड़की के पीड़ित होने से उस परिवार के कितने लोग पीड़ित हो जाते हैं, कितने लोगों की नींद उड़ जाती है, वे मुस्कुराना छोड़ देते हैं। रिश्तों की पवित्रता और गहराई से विश्वास उठ जाता है। जवान होती लड़कियों के सपने चूर-चूर हो जाते है। कौन कहता है कि इतने पढ़े-लिखे समाज में लड़कियों पर अत्याचार नहीं होते?'

मुआवजा कहानी संग्रह में पलकों पर ठहरी जिन्दगी शीर्षक की कहानी में क्षमा के बेटे के हृदय में जो छेद है उसे लोग अपशगुन मानते हैं-'इसी दुख और अपमान के कारण उसने भी हर जगह आना-जाना छोड़ दिया है। यहाँ तक कि बहन की शादी तक में नहीं गयी। लोग क्या-क्या नहीं कहते हैं। मन ही मन कितनी हिकारत और कटुता की नजर से देखते हैं और वह है कि बेटे के प्रति दिन-ब-दिन स्नेहिल और आत्मीय होती जा रही है।'

इस प्रकार यहाँ उपर्युक्त बिंदुओं से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जहाँ संरचनात्मक परिवर्तन जैसे मानक, मूल्य, कार्य प्रणाली, सांस्कृतिक लक्षण, पोशाक पैटर्न, भोजन पैटर्न, जीवन शैली और परिवार प्रणाली के कारण समाज का आधुनिकीकरण होने जा रहा है, इन पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। दुनिया में हर मूल आयाम को संरक्षित और सुरक्षित बनाए रखना चाहिए जो हमको पिछले दिनों के बारे में याद दिलाएगा। यह पारंपरिक से आधुनिक की ओर एक आंदोलन है, जहाँ बेहतर जीवन के लिए कुछ चीजें बदलती हैं। यह राष्ट्र को अपनी पहचान स्थापित करने में मदद करता है और नई तकनीकों की खोज करने और वैज्ञानिक रूप से आधुनिकीकरण में तेजी से विकास करने के लिए लोगों की जरूरतों को पूरा करने में भी मदद करता है। यह लोगों के आर्थिक जीवन को भी समृद्ध करता है।

अर्चना क्लीनिक वाली बिल्डिंग,
तीसरा तल, हार्ट रोड, सुभाष कॉलोनी,
गुना-(473001)
मो.9827108561

चाँद गवाह-स्त्री मुक्ति का संघर्ष

- सुनीता अवस्थी

जन्म - 13 अगस्त 1969।
जन्मस्थान - अजमेर (राज.)।
शिक्षा - एम.ए., पीएच.डी.।
रचनाएँ - दो पुस्तकें प्रकाशित एवं कतिपय सम्पादित।

उर्मिला शिरीष एक बेहतरीन कथाकार के साथ-साथ एक जागरूक, सजग बुद्धिजीवी हैं; जो अपने समय के बदलाव पर नजर रखती हैं। ऐसी नजर जो एकतरफा या एकांगी नहीं होती बल्कि वह सभी पहलुओं पर चर्चा एवं विचार करके उसे लेखन का हिस्सा बनाती हैं। दिलचस्प लगता है मानवीय विचारों, सोच और संवेदनाओं के द्वन्द्व को बखूबी उतारना और उसे एक सार्थक, मनोरंजक उपन्यास की शक्ल देना। 'स्त्री पैदा नहीं होती उसे बना दिया जाता है।' सिमोन द बउआर का यह कथन सभी स्त्रियों के संघर्ष को पूर्णत: बयाँ करता है। स्त्री का संघर्ष मानव सभ्यता की विकास यात्रा के समानांतर निरंतर विद्यमान रहा है। समय के साथ उसका स्वरूप अवश्य परिवर्तित हुआ परंतु अपने मूल रूप में सामंती युग से वर्तमान तक उसमें एकात्मकता है। कभी परंपरा के नाम पर, कभी पुरुष की अहं भावना के कारण तो कभी आत्मनिर्भरता की वजह से स्त्री शोषित होती रही है। विसंगति है कि उसे न केवल बाह्य समाज बल्कि अपने स्वजनों से और यहाँ तक कि स्वयं से भी संघर्ष करना पड़ा है। स्त्री विमर्श के सरोकार पर बात करती हुई रेखा कास्तकार कहती हैं कि 'स्त्री विमर्श का सरोकार जीवन और साहित्य में स्त्री मुक्ति के प्रयासों से है। स्त्री की स्थिति की पड़ताल उसके संघर्ष एवं उसकी पीड़ा की अभिव्यक्ति के साथ-साथ बदलते सामाजिक संदर्भों ने उसकी भूमिका, तलाशे गए रास्तों के कारण जन्मे नए प्रश्नों से टकराने के साथ-साथ आज भी स्त्री की मुक्ति का मूल उसके मनुष्य रूप में स्वीकारे जाने का प्रश्न है।' इसी स्वीकारोक्ति की तलाश करती हुई द सेकेंड सेक्स के हिंदी अनुवाद की भूमिका में प्रभा खेतान लिखती हैं, 'हम भारतीय कई तहों में जीते हैं। यदि हम मन की सलवटों को समझते हैं तो जरूर यह स्वीकार करेंगे कि औरत का मानवीय रूप सहोदरा कही जाने के बावजूद स्वीकार्य नहीं है। लोगों को उससे उम्मीदें बहुत होती हैं। वह अपनी सारी भूमिकाओं को बिना किसी शिकायत के निभाए, स्पष्टवादिता उसका गुनाह समझा जाता है।' वस्तुत: स्त्री का संघर्ष पुरुष से बराबरी करने या उनसे आगे निकल जाने का नहीं है बल्कि उसका संघर्ष समाज और परिवार में स्वयं को स्थापित करने तथा अपनी अस्मिता की तलाश के लिए है।

स्त्री विमर्श स्त्री के जीवन के अनछुए, अनजाने पहलुओं, पीड़ा जगत के उद्घाटन के साथ स्त्री के प्रति हो रहे शोषण के खिलाफ एक सशक्त संघर्ष है। स्त्री को मनुष्य रूप में स्थापित करने का प्रयास है। स्त्री के देह के धरातल पर मुक्ति की पक्षधरता के साथ-साथ उसकी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक समानता की बात करता है। यह मात्र देह का विमर्श नहीं बल्कि रूढ़ हो चुकी मान्यताओं, परंपराओं के प्रति असंतोष तथा मुक्ति का स्वर है। मृदुला जी के अनुसार 'नारीवाद की परिभाषा बस इतनी है कि नारी को अधिकार है यह तय करने का कि वह क्या करना चाहती है? क्या नहीं? कोई मुखौटा नहीं कि स्त्रियों पर चस्पा कर दिया जाए।'

स्त्री मन के इन्हीं भावों को प्रतिबिंबित करता है उर्मिला शिरीष का 'चाँद गवाह' उपन्यास। इस उपन्यास के माध्यम से उर्मिला शिरीष ने स्त्री मुक्ति, स्त्री सशक्तिकरण, स्त्री की सृजनात्मकता, स्त्री का स्वाधीन व्यक्तित्व, स्त्री का कला पक्ष, स्त्री की वैचारिक स्वतंत्रता, स्त्री की धार्मिक मान्यताओं, सामाजिक

कुरीतियों से मुक्ति, स्त्री समानता की धारणा जैसे अनेक उपमान और रूपक गढ़ने की कोशिश की है। उपन्यास की मुख्य पात्र दिशा समाज और परिवार की बेटियों को अपनी पहचान तलाशने के साथ अपने स्वप्न, संघर्ष और समाज से संवाद स्थापित करने का प्रयास करती नजर आती है। वह चाहती है कि उन्हें भी पुरुष की भाँति बराबर की संवेदना वाला मनुष्य समझा जाए। उसे देह से परे अपनी इच्छा से जीने का अधिकार प्रदान किया जाए। वह कहती है, 'क्या हर व्यक्ति को अपना जीवन भी नहीं जीना चाहिए। कुछ सालों के लिए या कुछ महीनों के लिए या कुछ दिनों के लिए। इतनी मोहलत तो मिलनी चाहिए इंसान को।' वह अपनी निजता को किसी के सम्मुख बंधक नहीं रखना चाहती। वह मनमाफिक जीना और काम करना चाहती है, निर्भीक रहकर। जब संदीप के साथ उसके रिश्ते पर प्रश्न चिह्न लगाए जाते हैं तो वह कहती है, 'शादी से पहले प्रेम करो तो गुनाह, शादी के बाद प्रेम करो तो और भी बड़ा गुनाह, फिर प्रेम करो कब? हर इंसान को प्रेम करने का एक मौका तो मिलना चाहिए।' वह जीवन के अधूरेपन में नहीं, प्रेम की परिपूर्णता में विश्वास करती है।

स्त्री को सहचर चुनने में उसकी स्वतंत्रता मायने रखती है न कि सामाजिक बंधन। स्त्री-पुरुष के संबंध मन और आत्मा से तय होते हैं न कि समाज की बँधी-बँधाई परिपाटी से। इस बात की गवाही देते हुए उपन्यास की नायिका दिशा विवाह संस्था की उपयोगिता पर सवाल उठाती है, 'जीवन की कसौटी शादी क्यों है! बिना शादी के लड़के-लड़कियों को यूँ देखा जाता है, जैसे वे अछूत हों। बिना शादी के सम्मानजनक जीवन नहीं जिया जा सकता?' पारुल के अनुसार आज की पीढ़ी शादी के बंधन में बँधकर अपनी स्वतंत्रता को नहीं खोना चाहती, 'आजकल कोई शादी नहीं करना चाहता, हर कोई फ्री रहना चाहता है मैं अपने ऊपर किसी का निर्णय नहीं थोप सकती, वह भी बिना प्रेम के।'

नशेड़ी राजीव के साथ शादी में जो यातना, अकेलापन, अपमान दिशा को मिला, उसी से उसका शादी पर से यकीन उठ गया, पर इस पुरुष प्रधान समाज में वह विवश है, उसे निभाने के लिये, 'हमारी मजबूरी थी। हम कितनी घृणा के साथ उसके साथ रह रहे हैं। मेरी कला, मेरा पढ़ना-लिखना, मेरा घूमना, मेरा अपनी मर्जी के अनुसार जीना, खाना-पीना, हँसना सब असहनीय हो गया था।' उसका दर्द उसकी कविताओं में भी मूर्त होता है-**'मैं चक्की में पड़े दानों की तरह पिसती रही,**
लोग सोचते रहे कि चक्की गा रही है औरतों के गीत।'

पर अंतत: वह इन बंधनों को तोड़ संदीप के साथ खुले प्रेमाकाश में विचरण कर अपने लिए सुकून तलाश करती है, 'अब हमें मानसिक रूप से सहारा चाहिए, जो हमारी हर तरह से मदद कर सके। जो हमें समझे, जो हमारे मानसिक और वैचारिक स्तर का हो, जिससे हम साहित्य, समाज, प्रकृति, अध्यात्म, ब्रह्मांड या अन्य विषयों पर बात कर सकें।' सामाजिक मर्यादा का विखंडन कर अपनी इच्छानुसार जीवन जीने पर, दिशा पर गैर जिम्मेदार होने का आरोप भी लगता है, जिसका स्पष्ट विरोध कर वह स्वयं को सिद्ध करती है, 'कौन सी जिम्मेदारी नहीं निभायी? निभा तो रहे हैं बचपन से लेकर आज तक। सच पूछो तो हमने जाना ही नहीं कि बचपन क्या होता है। बचपन में खेल क्या होते हैं। बचपन की यादें क्या होती हैं।'

प्रश्न अनेक हैं, उसके निहितार्थ भी अनेक हैं, पर माँग सिर्फ एक है, स्त्री को उसकी देह से परे एक मनुष्य समझा जाए। उसकी पवित्रता की कसौटी उसकी देह न हो। स्त्री इच्छा और स्वातंत्र्य को दो पीढ़ियों के बीच उकेरती इस उपन्यास की कथा स्त्री मन से देह तक का सफर तय करती है। देह के संबंधों से बड़े होते हैं आत्मा के रिश्ते। अपने और सन्दीप के रिश्ते को परिभाषित करते हुए दिशा का यह कथन दृष्टव्य है- 'वह देह से परे सब कुछ था, देह अलग हो जाती है, आत्मा नहीं। वह मेरे लिए 'मैं', 'या', 'वह' नहीं था!' उर्मिला शिरीष जमाने के साथ-साथ चलते हुए भी यह बात रेखांकित करना नहीं भूलती कि हर नया कदम, नए मोड़ अपने साथ चुनौतियाँ भी लाता है। यह संतुलन जीवन में भी और लोगों की सोच में भी जरूरी है। हम अकसर नए रास्तों पर, रिश्तों के नए सफर पर चल तो पड़ते हैं परंतु संतुलन रखना सोच और व्यवहार में भूल जाते हैं। यही संतुलन बनाना आवश्यक है।

सह आचार्य-हिंदी
सनातन धर्म राजकीय महाविद्यालय,
ब्यावर-305202 (राज.)
मो 9928708899

मेरे लिए साहित्य ही सर्वोपरि है

– उर्मिला शिरीष

अपने बारे में जब भी लिखने का सोचती हूँ तो एक अजीब सी उदासी घेर लेती है। कुछ यादें, कुछ घटनाएँ, कुछ इंसान, कुछ स्थान विशेष याद आते हैं तो मन उदास हो ही जाता है। वो आत्मीय, जिंदादिल, हँसमुख औरतें, लड़कियाँ जो अब इस दुनिया में नहीं हैं, बेवक्त चली-गयीं। कुछ को हमारी सामाजिक प्रथाओं ने खत्म कर दिया था तो कुछ को परिवार के दबाव ने। मैं जिन सांस्कृतिक, धार्मिक और परम्पराओं के बीच पली-बड़ी हुई हूँ, उससे अलग जब मैं अपनी ही साथ की लड़कियों और महिलाओं को विवश देखती थी तो मेरा मन कागज और कलम उठाकर कमरे के एक कोने में अपना दु:ख पेपरों पर उतारने लगता था। मेरी पीठ दरवाजे की तरफ होती और टेबल दीवार से सटी होती। बाहर से आता शोर, आवाजें मेरी पीठ से टकराकर लौट जातीं और मैं केवल अपने पात्रों के साथ होती। उन पन्नों में उतरी कहानियाँ मेरे मन के तनाव को कुछ-कुछ कम करने लगतीं। मुझे लगता मैं उनके साथ हूँ क्योंकि अब तक उनकी पीड़ा मेरे भीतर उतर आई होती थी।

जन्म गाँव में हुआ। बचपन गाँव में बीता। गाँव की गलियाँ, खेत, खलिहान, तालाब, कुआँ, मंदिर हरी-भरी फसलें और पलाश के फूल कभी मेरी स्मृति से उतरते ही नहीं हैं। उनका रंग-गाढ़ा है। उनकी छाप अमिट है। गाँव का स्कूल जो ज्यादातर खुले आसमान के नीचे ही लगता था, उसमें प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करते हुए बच्चों के लिए आने वाली तमाम पत्रिकाएँ मेरे साथ होतीं। पंचतंत्र की कहानियाँ, चाचा चौधरी, नंदन, पराग, चंपक, चंदामामा सभी में मेरे प्रिय पात्र होते। गाँव में उन दिनों भजन-मंडली आती थी जो बहुत ही भावपूर्ण भजन गाती थी। उसमें शामिल कुछ महिलाएँ नृत्य करतीं। मुझे उन रामलीलाओं की भी याद है जो गाँव में खेली जाती थी। रामलीला के किरदारों को देखना, बात करना कितना सहज होता था। सारी भूमिकाएँ लड़के और पुरुष ही निभाते थे। लेकिन जब वे अपनी वेशभूषा धारण करके हनुमान के कंधों पर बैठकर गाँव में निकलते तो सारे लोग उनकी आरती उतारते। उनका टीका करते। उन्हें घर पर भोजन पर आमंत्रित भी करते। तब मैं घर में रखी रामचरित मानस पढ़ती। पढ़ते हुए मेरे अविरल आँसू बहते। आज सोचती हूँ तो लगता है वो बचपन की भावुकता थी या रामचरित मानस का प्रभाव। अपने गाँव के मंदिर को कुछ कहानियों में चित्रित कर चुकी हूँ मगर उसका रहस्यलोक आज भी वैसा का वैसा बना हुआ है। मंदिर का प्रांगण विशाल वृक्षों के नीचे था। शाम होते ही अँधेरा यकायक सघन हो उठता और हम लोग दीपक रखकर जो दौड़कर वापस आते तो घर में ही साँस लेते थे। हम लोग रात्रि में आँगन में ही सोते थे। आँगन से दिखता जगमगाता आसमान। इतना खूबसूरत, रहस्य के जाल फैलाता। नक्षत्रों की चमक बिखेरता आसमान। सालों साल नहीं देखा था। शहर की कृत्रिम रोशनियों ने उसकी असली जादुई चमक को छुपा दिया था!

प्रतिष्ठित विद्वान ब्राह्मण परिवार में जन्म हुआ था। कहा जाता है कि दादा-परदादा राज परिवार से ताल्लुकात रखते थे। उनका प्रभाव परिवार में दिखता भी था। बड़ा-सा पुस्तकालय था। घर में भी मंदिर था। धर्म-कर्म करने में

भी मैं पीछे नहीं रहती थी–जैसे महिलाओं के जितने भी त्यौहार होते थे उनमें कथावाचक का दायित्व मेरा ही होता था। किताबों की दीवारों के बीच बैठी मैं हाथ में जो किताब आती, पढ़ने बैठ जाती। मेरे ताऊ जी राजनीति से जुड़े थे। घर में पंच–सरपंच, नेता, विधायक, अधिकारी और आसपास के लोग आते रहते थे। मेरे भीतर राजनीति के प्रति जो आकर्षण है या कहिए दिलचस्पी वो उसी वातावरण की देन है। लोगों की समस्याओं को समझने की समझ भी शायद तभी पैदा हुई थी। कुछ कहानियों में गाँव में चलते नये राजनीतिक समीकरण, जाति व्यवस्था का टूटना और एक नयी अधिकार चेतना का प्रस्फुटन उन्हीं दिनों देखने को मिला था।

चूँकि मेरे पिता बाहर आते–जाते रहते थे। उनके मन में अपने बच्चों की पढ़ाई और उनके भविष्य की चिंता रहती थी। वे सपने देखते थे। वे नया कुछ करना चाहते थे। उनके भीतर एक संघर्षपुरुष छुपा था जो कभी भी हार नहीं मानता था। वे भी बहुत पढ़ते थे। उन्होंने भाई को पहले ही पढ़ने के लिए शहर भेज दिया था। उस समय डाकुओं का भारी आतंक था। आये दिन डकैतियाँ पड़तीं और पैसे वाले किसानों का अपहरण हो जाता था। डाकुओं की बर्बर कहानियाँ सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते थे। ताऊ जी भी इस समय तक दतिया आ गये थे इसलिए एक रात जब पास वाले गाँव में सात–आठ मकान डाकुओं द्वारा जला दिये गये थे तब हम लोग गाँव से विदा हो रहे थे। दतिया में पढ़ाई आरम्भ कर दी थी। यहाँ मेरा एक बड़ा ग्रुप बन गया था। सहेलियों के साथ रहकर भी मेरी साहित्य से जरा भी दूरी नहीं बनी थी बल्कि घर के लगभग सभी प्रमुख समाचार पत्र और पत्रिकाएँ आतीं जिन्हें पढ़ना मेरी पहली प्राथमिकता होती थी। बड़े भाई पुस्तकालय से कुछ विशिष्ट किताबें लाते थे। मैंने भी अपनी एक छोटी सी लायब्रेरी बना ली थी। उन्हीं दिनों हमारे जीवन में एक ऐसे व्यक्ति यानी अध्यापक का आगमन हुआ जिसने मेरे जीवन की दिशा बदल दी। हिन्दी भाषा, साहित्य, कहानी, नाटक और एकांकी पढ़ाते थे। निर्देशन भी करते थे। कोई कहानी कैसे पढ़ी और सुनी जाती है, यह देखकर मैं अभिभूत हो जाती थी। लिखावट, शुद्धता, भाषा–शैली का ज्ञान कल्पनाशक्ति, भाव विस्तार को बढ़ाने के लिए वे कभी–कभी परीक्षा भी लेते थे। कोई भी विषय दे देते थे, लिखने के लिये। उनके दिये विषय पर मैंने कहानी लिखी थी, कहानी पढ़कर उन्होंने कहा था 'तुम कहानी लिख सकती हो।'

मैंने कहानी विधा को ही क्यों चुना, उसके पीछे भी दूसरा भावनात्मक कारण है। मैं उन दिनों रवीन्द्रनाथ टैगोर का साहित्य पढ़ रही थी। उनकी कहानी 'काबुलीवाला' पढ़कर मैं दो–तीन दिन उससे बाहर ही नहीं निकल पाई। 'हार की जीत' कहानी ने मेरे भीतर भावनाओं का तूफान ला दिया। ईमानदारी, विश्वास, करुणा, प्रेम तथा हृदय परिवर्तन करने वाले वाक्य ने भावों की धारा प्रवाहित कर दी थी। अमृता प्रीतम ने अपनी किसी किताब या साक्षात्कार में पाठकों की प्रतिक्रियाओं का जिक्र किया था। मुझे लगा कहानी में बहुत ताकत होती है उसका प्रभाव दिल दिमाग पर पड़ता है इसलिए मैंने पहली कहानी लिखी थी 'कन्या' जो उस समय की पत्रिका 'सूर्या इंडिया' में छपी थी। दूसरी कहानी भी एक बच्चे की थी जो नवभारत के रविवारीय संस्करण में छपी थी।

स्कूल की शिक्षा पूरी करके मैं बड़े भाई के पास ग्वालियर आ गई थी। यहाँ मैंने के.आर.जी. कॉलेज में एडमीशन लिया था बी.एच.एस.सी. (होम साइंस) में। ये विषय मेरे स्वभाव, रुचि और सोच से एकदम भिन्न थे क्योंकि मैं तो उपन्यासों, कहानियों और कविताओं में अपना जीवन तलाश रही थी। साइंस और होम साइंस के फार्मूले कहाँ मुझसे सधने वाले थे। तभी पिता अपना नया बिजनेस शुरू करने के लिए भोपाल आ गये थे। हम लोगों ने ग्वालियर छोड़ दिया था। मुझे इस बात की खुशी थी कि मुझे नीरस और अरुचिकर विषयों से छुटकारा मिल

जायेगा। अपने पसंद के विषय-हिन्दी साहित्य, संस्कृत साहित्य तथा भारतीय इतिहास लेकर मैंने बी.ए. में एडमीशन लिया था। मुझे भारतीय इतिहास में गहरी रुचि थी अगर मैं लिखती नहीं तो एम.ए. हिन्दी साहित्य की जगह भारतीय इतिहास में ही करती। संस्कृत, साहित्य तो मेरे लिए वरदान साबित हुआ क्योंकि उसी बहाने मुझे भवभूति, कालीदास, विशाखदत्त भरतमुनि का नाट्य शास्त्र पढ़ने का मौका मिला। चारों वेद, उपनिषद, पुराण तथा महाभारत, भगवतगीता मैंने पढ़ी। उन दिनों मेरा झुकाव भगवान बुद्ध की तरफ हो गया था। हिन्दी साहित्य से एम.ए. कर रही थी और लिख भी रही थी। पिता ने बड़े स्तर पर अपनी इंडस्ट्री शुरू कर दी थी। उस समय गाँव से आने वाले युवक अपनी जीविका की तलाश में शहर आ रहे थे। उनकी समस्याएँ उनके सपने मैंने करीब से देखे थे तभी वर्ष 1983 में मेरा पहला कहानी संग्रह आया था। 'वे कौन थे।' एम.ए. के बाद पिता चाहते थे कि मेरी शादी हो जाये पर बड़े भाई का मानना था कि मैं आगे पढ़ाई जारी रखूँ या नौकरी करूँ। वे पढ़ाई को प्राथमिकता देते थे। उन्हीं दिनों कॉलेज में भर्ती के लिए उच्च शिक्षा विभाग का विज्ञापन निकला था चूँकि मैं अद्यतन प्रथम श्रेणी में पास थी। एम.ए. में भी प्रावीण्यसूची में थी तो मेरी नौकरी शहर के महाविद्यालय में लग गई।

मैं देखती थी कि पिता और भाई अब लड़के देख रहे थे। एक लड़का देखने जा रहे थे। वे साथ में कहानी संग्रह ले गये। ट्रेन में उन्होंने मेरी कहानी पढ़ी 'कन्या।' कहानी पढ़कर वे बेहद नाराज हुये। उन्हें यह उम्मीद नहीं थी कि मैं समाज के प्रतिष्ठित, पूज्य तथा सम्मानीय व्यक्ति को लेकर ऐसी कहानी लिखूँगी। उस व्यक्ति द्वारा एक बच्ची का शोषण किया जाता है। उसकी खामोशी, भय संकोच तथा पीड़ा को मैंने उस कहानी में दिखाया था। उन्होंने कुछ दिनों के लिए मुझसे बात बंद कर दी। वे कभी भी चीखते-चिल्लाते नहीं थे। उनकी एक निगाह ही हम लोगों को एहसास करवा देती थी कि वे नाराज हैं। वे सामने बैठे थे और मैं दीवार से टिककर खड़ी थी। मैं इंतजार कर रही थी कि वे कुछ कहेंगे पर उन्होंने एक ही वाक्य कहा, आगे से ऐसी कहानियाँ मत लिखना। बाद में मेरी बाकी कहानियाँ भी उन्होंने पढ़ी होंगी। मुझे इस कहानी ने उस शादी से बचाया जो इस बात पर सवाल कर रहे थे कि लड़की ने नाक और कान में कुछ भी नहीं पहना है। शिरीष से शादी होना मेरे लिए वरदान साबित हुआ क्योंकि उन्हें साहित्य में रुचि है। वे पढ़ते हैं। अपनी अभिरुचि का डॉक्टर, साहित्य प्रेमी पति पाकर मैं खुश थी कि मैं लिख सकूँगी। मेरे ससुर भी गीत और कविताएँ लिखा करते थे। उनको परदा करना, माँग में सिंदूर भरना पसंद नहीं था। वे बराबरी से बैठकर बात करते थे।

मेरी साहित्यिक यात्रा दोनों बच्चों के जन्म के बाद स्थगित हो गयी थी। कॉलेज की नौकरी भी थी। मेरे मन में पता नहीं क्यों ये भय बैठ गया था कि बच्चों की परिवरिश ठीक से होना चाहिए अन्यथा वे गलत संगत में पड़ सकते हैं। उनका भविष्य बनाना मेरी प्राथमिकता है। संजीव की कहानी 'मरोड़' भी मेरे दिमाग में रहती थी। सात साल तक मैंने नहीं लिखा वर्ष 1985 में दूसरा कहानी संग्रह 'मुआवजा' में आया था। किसी पाठक ने समाचार पत्र में 'पाठकों के पत्र' में लिख तक दिया था कि 'कहाँ है उर्मिला शिरीष।'

मुझे दोबारा लेखन में लाने का श्रेय मेरे पड़ोसी को जाता है। जो बहुत ही अच्छे कवि थे और हमेशा पूछते कि मेरी नयी कहानी कब आ रही है। मुझे जल्द लिखना चाहिए। उन्हें पता था कि मेरे दोनों कहानी संग्रह चर्चित रहे थे। मैंने पुन: लिखना आरम्भ किया और आज तक निरंतर लिख रही हूँ। शुरू में मैं किसी भी गोष्ठी में, साहित्यक आयोजन में नहीं जाती थी। न किसी से मिलती थी। मज़ेदार बात ये कि सत्येन कुमार द्वारा संपादित कहानियों में मेरी कहानी 'सिगरेट' छपी थी। मैं बहुत समय बाद उनसे बिलासपुर में मिली थी। धीरे-धीरे मैंने साहित्य की

दुनिया को जानना शुरू कर दिया। भोपाल में बड़े-बड़े साहित्यकार आते थे। महिला कथाकार आती थीं, उनको देखकर मैं चकित हो जाती कि जिन्हें मैंने पत्र-पत्रिकाओं में देखा है, आज वे मेरे सामने हैं। बात करने में मुझे बहुत संकोच होता था। चित्रा मुद्गल को मैं पत्र लिखा करती थी। उनकी सुंदर लिखावट में लिखे पोस्ट कार्ड आज भी मेरे पास होंगे। मुझे नहीं मालूम था कि कौन किस विचारधारा का है? कौन किस संघ या संगठन का है? बाद में पता चला कि उस पत्रिका (?) में कहानी तभी छपेगी जब मैं उनके संघ या विचारधारा में शामिल होऊँगी। लेकिन मैं अपने लेखन को ही अपना संबल मानकर चलती रही। मैं मानती हूँ कि इसका मुझे नुकसान भी उठाना पड़ा। मैं देखती थी कि सभी विचारधारा में अच्छे खासे बड़े विद्वान, विचारक, चिंतक और लेखक हैं लेकिन वे दूसरे मंचों पर नहीं जा रहे हैं। उनको सुनने भी नहीं आ रहे हैं। तब हमने निश्चय किया कि एक ऐसा मंच होना चाहिए जिस पर केवल और केवल लेखक कालाकार आयें न कि उनकी अन्य बातें। मुझे यह बताते हुए खुशी होती है कि स्पंदन संस्था के मंच पर हर विचारधारा के संघ और संगठन के साहित्यकार आये उन्होंने हमेशा मेरी बात का मान रखा। मेरी नीयत साफ है, मेरा उद्देश्य भी स्पष्ट रहा पर कुछ लोगों ने मुझे उसकी सजा भी दी, मेरी उपेक्षा करके। कई जगह से मेरा नाम काटकर। साहित्य में भी कितनी राजनीति है, यह भी मैंने करीब से देखा। चार दशक तक सरकारी नौकरी (प्राध्यापक) करते हुए बहुत कुछ ऐसा भी सीखा जो जीवन के लिए जरूरी होता है। युवा पीढ़ी से जुड़कर उनके बीच रहकर मेरा अनुभव जगत समृद्ध ही हुआ था। आज संतोष इस बात का है कि मेरे बच्चे भी मेरे लेखन का सम्मान करते हैं। मेरे लेखक होने पर गर्व करते हैं। मेरी कहानियों और उपन्यासों का पाठकों ने हमेशा सम्मान किया है। प्रशंसा की है। उनकी प्रतिक्रियाएँ, चिट्ठियाँ, उनकी राय, उनके वे मनोभाव कि कौन सी कहानी पढ़कर कब किसने अपने जीवन को बदला या क्या संकल्प लिये-यह मेरे लिए सबसे बड़ी उपलब्धि रही। यहाँ उन कहानियों या चिट्ठियों का जिक्र करना आत्मकथन को और विस्तार देना होगा। उनकी चर्चा फिर कभी करूँगी लेकिन मैंने हमेशा कहा है आज फिर कहूँगी कि पाठक ही मेरी असली ताकत है। मैं साहित्य को जीवन का प्रतिबिम्ब मानती हूँ। साहित्य में मानवीय सरोकारों को चित्रित करना मेरा ध्येय है। मैं प्रकृति और मनुष्य के बीच की अंतरधारा को लेकर चलती हूँ क्योंकि इसमें जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' मुझे सजग करती रहती हैं। जीवन में दर्शन, अध्यात्म और भारतीयता के तत्व ही हमारे बौद्धिक विमर्शों को एक नयी दृष्टि देते हैं। दुनिया के तमाम देशों की यात्राओं ने वहाँ की जीवन शैली ने, सोच और मानसिकता ने मनुष्य जीवन के कितने रूप दिखाये हैं और एहसास करवाया है कि मनुष्य के पास सब कुछ होते हुए भी अपनों का न होना ही सबसे बड़ी कमी या त्रासदी है। जीवन इस 'सामूहिकता' की ओर कब लौटेगा इसका इंतजार करना होगा। लेखक अपने एकांत में रहकर भी अकेला नहीं है उसके साथ हर पल अपना समय और समाज होता है जबकि मैं देख रही हूँ आज का आदमी सबके बीच रहकर भी अकेला होता जा रहा है। उसके इसी अकेलेपन को, उसके संघर्ष को, उसके अस्तित्व को, उसकी नियति को साहित्य में लाना मेरा ध्येय है। मैं बड़े उपन्यास लिखना चाहती हूँ। मैं अपने सपनों को अपने लेखन के द्वारा ही साकार करना चाहती हूँ।

मैं इस अवसर पर मेरे बहुत ही आत्मीय और सम्मानीय दादा कैलाशचंद्र पंत जी को धन्यवाद देना चाहती हूँ। मनोज जी के चिंतन, लेखन, और जादुई वक्तृत शैली की बहुत बड़ी प्रशंसक हूँ। उन्होंने मेरे लेखन पर अक्षरा का यह अंक केन्द्रित किया है इसके लिए मैं उनकी आभारी हूँ। जया केतकी के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ।

503, ऑर्चिड, रुचिलाइफ स्केप,
जाटखेड़ी, होशंगाबाद रोड़,
भोपाल-462047 (म.प्र.)
मो. - 9303132188

उर्मिल शिरीष से जया केतकी की बातचीत

जया केतकी :- आपकी रचनात्मक यात्रा के बारे में जब मैं पढ़ रही थी तो मुझे जानकारी मिली कि आप शुरुआत में विविध विषयों पर लिखा करती थीं लेकिन मैं आपसे जानना चाहती हूँ कि जब आपने पहली कहानी लिखी तो आपको कैसा लगा?

उर्मिला शिरीष :- पहली कहानी लिखने का रोमांच ही कुछ अलग होता है। कहानी लिखते समय मेरे सामने मेरे पात्र थे, घटनाएँ थीं, परिस्थितियाँ थीं, और थी जवान होती लड़की के मन में समायी पीड़ा, भय, संकोच को वह किसके सामने व्यक्त करे क्योंकि समाज तथाकथित जन्म और कुलीन माने जाने वाले पुरुष को गलत मान ही नहीं सकता था। पता नहीं कितनी लड़कियाँ ऐसा शोषण सहन करके खामोश रह जाती होंगी कोई उनकी बातों पर यकीन भी नहीं करता होगा। उसी समय एक और कहानी लिखी थी पर यह कहानी 'सूर्या इंडिया' में प्रकाशित हुई थी। मुझे खुशी हुई थी कि अब मेरी लेखन यात्रा वाकई आरंभ हो गयी है।

प्रश्न :- क्या आपको किसी ने प्रेरणा दी थी कि आपमें लेखकीय क्षमता और कौशल हैं और इसे आप अपने जीवन का लक्ष्य बना सकती हैं?

उत्तर :- हाँ! सृजनात्मकता के पीछे प्रेरणा का भाव रहता ही है। मेरे लेखन के पीछे भी मेरे हिंदी के अध्यापक थे जो हिंदी पढ़ाते थे। वे लिखावट पर, उच्चारण पर, कोई कविता या कहानी कैसे पढ़ी जाये यानी पाठ पर, भावों की अभिव्यक्ति पर विशेष ध्यान देते थे। किस विधा में कैसे लिखा जाये, यह भी बताते थे। सबसे अच्छी बात यह थी कि वे विषय देते थे कहानी या निबंध लेखन के लिए। मुझे भी विषय दिया था। उस विषय पर लिखी कहानी को पढ़कर उन्होंने कहा था कि मुझे कहानी लिखनी चाहिए। तुम लिख सकती हो। बस वहीं से मेरी लेखनयात्रा (कहानी) की शुरुआत हुई थी। बचपन से पढ़ने का जुनून था। कहानियाँ उपन्यास, कविताएँ। 'काबुलीवाला', तथा 'हार की जीत' कहानी ने मुझे कहानी के प्रभाव और ताकत का एहसास करवाया। तब मुझे लगा, कहानी ही मेरी पहली विधा होना चाहिए। जो कहानी मनुष्य का मन बदल दे, उसका हृदय बदल दे, उसकी परिस्थितियों से परिचित करवा दे, वही सबसे बड़ा प्रदेय है। इस तरह मैंने अपना लक्ष्य निर्धारित किया। ईमानदारी, विश्वास, संवेदनशीलता, करुणा, प्रेम, इन मूल्यों को मैंने अपने जीवन का मूलमंत्र बना लिया।

प्रश्न :- आप प्राय: लंबी कहानियाँ लिखती हैं और छोटी भी। दोनों को लिखते समय किस प्रकार की लेखकीय या शिल्पगत चुनौतियाँ आती हैं?

उत्तर :- आपने ठीक पहचाना। यह विषयवस्तु पर निर्भर करता है। मैंने अनेक लंबी कहानियाँ लिखी हैं। आज आप मुझ से सवाल पूछ रही हैं तो बता दूँ कि लंबी कहानियाँ लिखने में मुझे हमेशा सुकून मिला है, एक लेखक होने का संतोष। जितनी भी लंबी कहानियाँ मैंने लिखी हैं-इसे आप आत्मप्रशंसा न समझें, वे सभी चर्चित हुई हैं। पाठकों द्वारा सराही गयी हैं। मेरी प्रिय कहानियाँ यदि आप पूछेंगी तो इन्हीं-लंबी कहानियों में से हैं। छोटी कहानियों का अपना महत्व होता है। उनमें जीवन का, परिवेश का, परिस्थितियों का विस्तार कम होता है पर बात तो वो भी पहुँचाती हैं पाठकों तक। दोनों तरह की कहानियाँ लिखते हुए मुझे किसी प्रकार की चुनौतियों का सामना नहीं करना पड़ा।

प्रश्न :- चलिए आपकी लंबी कहानियों से निकलकर अन्य लेखकों की लंबी कहानियों पर चर्चा करते हैं। आपको लंबी कहानियाँ पढ़ना और सुनना पसंद है?

उत्तर :- बिल्कुल! जब मैं स्वयं लंबी कहानियाँ लिखती हूँ और अपेक्षा करती हूँ, कि मेरी कहानियाँ पढ़ी जायें तो दूसरे लेखकों की कहानियाँ क्यों नहीं पढ़ूँगी। चेखव हों या निर्मल वर्मा, मोहन राकेश हो या गोविंद मिश्र या अलग कथाकार सभी की कहानियाँ मैंने पढ़ी हैं। मुझे लंबी कहानियाँ हमेशा पढ़ना अच्छा लगता रहा है। आज कल यू-ट्यूब पर भी काफी कहानियाँ सुनने को मिल जाती हैं।

प्रश्न :- मैंने देखा है कि आपके कहानी संग्रहों के दो से ज्यादा संस्करण प्रकाशित हुए हैं? क्या आप उनमें कोई बदलाव करती हैं या पूर्ववत् रहने देती हैं?

उत्तर :- हाँ कई संग्रहों के दो-दो या तीन-तीन संस्करण आये हैं पर कहानियों में मैंने मूलत: कोई परिवर्तन नहीं किया है। शब्दों में या वाक्यों में (व्याकरणगत) सुधार जरूर किया होगा। ये कहानियाँ जब लिखी गई थीं तब मेरी मानसिकता, मेरी सोच, समाज को देखने का मेरा नजरिया या तब की परिस्थितियाँ, भाषा शैली कैसी रही होगी, यदि आज के हिसाब से मैं उनमें बदलाव कर दूँगी तो वह मेरी रचनात्मक विकास यात्रा के साथ न्याय नहीं होगा। मेरी कहानी यात्रा के विकासक्रम को कैसे समझा जायेगा। भले ही वे कहानियाँ कितनी भी अप्रासंगिक क्यों न मानी जायें मुझे वे उसी रूप में पसंद हैं और रहेंगी।

प्रश्न :- इसी से जुड़ा एक और सवाल कि क्या प्रकाशित कहानी को पढ़कर ही राइट करने का विचार आता है?

उत्तर :- कभी नहीं! मैं जब भी कहानी लिखती हूँ तो बहुत कुछ तो वह दिमाग में ही तैयार हो जाती है। हाँ, कागज पर उतारते वक्त कई चीजें छूट भी जाती हैं। एक-दो ड्राफ्ट के बाद तीसरे ड्राफ्ट में कहानी तैयार हो जाती है। कुछ कहानियों में हद से ज्यादा ड्राफ्ट हो जाते हैं। छपने के बाद पाठकों की प्रतिक्रिया मिलने के बाद या लेखक मित्रों की राय मिलने पर मैंने कभी किसी कहानी को दुबारा नहीं लिखा क्योंकि मुझे लगता है कि वह मेरी नहीं हजारों की राय के अनुसार लिखी कहानी होगी क्योंकि मैं तो अपने हिसाब से उस कहानी को लिख चुकी थी।

कुछ कहानियों को लिखकर रख दिया कि अभी मन संतुष्ट नहीं हुआ है लिखकर। कुछ कहानियाँ रिसर्च की माँग करती हैं। बिना रिसर्च किए उनको लिखा नहीं जा सकता था जो भी होम वर्क करना है, वह कहानी छपने के पहले करती हूँ। यहाँ एक बात का जिक्र करना जरूरी लग रहा है। 'हंस' पत्रिका में कहानी भेजी तो राजेन्द्र यादव जी ने कहा इसमें नया क्या हो सकता है? सोचती रही और नयी एक-दो ही पंक्तियाँ जोड़ीं-

'उसे लगा आज आसमान एकदम स्वच्छ और चमकीला है।
जानी-पहचानी सड़क पर स्कूटर चलाते हुए
उसका मन हवा से बातें करने लगा।'

कहकर वह स्कूटर उठाकर चल दी। बस उसी एक वाक्य ने उस कहानी (चीख) को एक नया रूप दे दिया था। प्रकाशित होने के बाद वह कहानी बहुत चर्चित हुई थी।

प्रश्न :- पाठकों का आपके लेखन से कैसा संबंध रहता है? पाठकों की प्रतिक्रियाओं को आप कैसे लेती हैं या उन्हें कितना महत्व देती हैं?

उत्तर :- बहुत गहरा संबंध रहा है। पाठक ही मेरे लेखन की ताकत रहे हैं। मेरा उत्साह बढ़ाने वाले। मेरे लेखन की सार्थकता बताने वाले पाठक ही रहे हैं। तब मोबाइल फोन नहीं था। घर के फोन नंबर दिए नहीं जाते थे। हाँ पता अलबत्ता छपता था। पोस्ट कार्ड, अंतरदेशीय लिफाफे, ढेरों चिट्ठियाँ आती थीं गाँव, देहात, शहरों जहाँ तक उस पत्रिका की पहुँच होती थी वहाँ से पत्र आते थे। चीख कहानी पढ़कर उस समय गोवा की जेल से एक कैदी का लंबा पत्र आया था। उस पत्र को स्व. राजुलकर राज ने अपनी पत्रिका में कहानी के साथ प्रकाशित किया था। लौटकर जाना कहाँ है? बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु! उसका अपना रास्ता, निर्वासन दहलीज पर

धरोहर जैसी कहानियों पर असंख्य पत्र पाठकों के मिले थे। पाठक अपनी राय, भावनाएँ बहुत ईमानदारी से व्यक्त करते हैं। कहानियों के साथ पाठक अपने जीवन के बारे में, अपनी भावनात्मक समस्याओं के बारे में लिखा करते थे। कई पाठक तो सिर्फ लेखक को ही अपने मनोभाव बताते हैं। पाठक ही रचना और लेखक के बीच की सबसे खूबसूरत कड़ी होते हैं।

प्रश्न :- आपके कई कहानी संग्रह तथा उपन्यास आ चुके हैं। आपको दोनों में से बेहतर सृजन करने का एहसास किसमें हुआ?

उत्तर :- दोनों ही अलग-अलग विधाएँ हैं। उनकी सीमाएँ, संरचना तथा शिल्पविधान होता है। कहानी लिखने का अपना आनंद, पीड़ा, तनाव तथा संतोष होता है। वही भाव उपन्यास में भी होते हैं मगर उपन्यास समय, एकाग्रता सिटिंग की माँग करता है क्योंकि उपन्यास की कथा का कैनवास बड़ा होता है। पात्रों का जीवन, परिस्थितियाँ या घटनाएँ भी अनेक और व्यापक होती हैं इसलिए उपन्यास को साधना एक बड़ी चुनौती होती है। कहानी को दो-तीन दिन में या एक-दो माह में लिखा जा सकता है। दोनों के सृजन की अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं। एक-दूसरे की तुलना करके किसी को कम या ज्यादा नहीं आँका जा सकता है।

प्रश्न :- तो क्या जब कहानी से संतुष्टि नहीं मिलती है या अपनी बात नहीं पहुँचा पाती हैं तब उपन्यास लिखती हैं?

उत्तर :- नहीं! मैंने कहा न कि दोनों विधाओं का अपना-अपना महत्व है। भारतीय भाषाओं या विश्व के महानतम कथाकारों को जब आप पढ़ेंगी तो पायेंगी कि कहानी के माध्यम से जो कहना था लेखक को, वह कह देता है। उपन्यास लिखना हर लेखक का सपना होता है। उसके लेखन का विस्तार भी होता है रचनाकार का एक अन्वेषक भी होता है-जीवन का अन्वेषक। उपन्यास रचनात्मक मात्रा का हिस्सा होता है इसलिए उपन्यास एक व्यापक फलक पर अपने जन्म-समाज और देशकाल को प्रस्तुत करता है। किसी भी देश को जानने का एक माध्यम वहाँ के उपन्यास भी होते हैं। उपन्यास लिखना मेरा भी ध्येय रहता है।

प्रश्न:- आपकी कहानियों और उपन्यासों में भी विषयों की विविधता है। जैसे कई कहानियों में गाँवों का परिदृश्य और परिवेश आया है? कई कहानियों में प्रेम, साम्प्रदायिकता तथा अन्य विषय आये हैं। क्या वह सब आपके अनुभव संसार का हिस्सा रहे हैं?

उत्तर :- लेखन में विविधता होना स्वाभाविक है। एक रचनाकार एक ही विषय पर लगातार कैसे लिख सकता है। मेरी कहानियों और उपन्यासों में अलग-अलग विषय रहते हैं। जैसा मैंने बताया था कि मेरा बचपन गाँव में बीता था। शहर में आकर भी हम लोग गाँव जाते रहते थे। गाँव में होने वाली बारिश, आँधी, ओलों का गिरना, पाला पड़ना, सूखा, अकाल सब मैंने देखा था। उन प्राकृतिक आपदाओं में बर्बाद हुई फसल और बदहाल होते किसानों को मैंने देखा। वही सब मेरी कहानियों में आया। प्रेम को लेकर भी मैंने कई कहानियाँ लिखी हैं क्योंकि उन पात्रों को मैं जानती थी। उसी तरह स्त्रियों, बच्चों, वृद्धों तथा साम्प्रदायिकता को लेकर भी कहानियाँ लिखी हैं। लेखक का अनुभव संसार जितना व्यापक होगा वह लोगों के बीच जायेगा उतना ही वैविध्य उसकी रचनाओं में आयेगा ही। यही बात मेरी कहानियों तथा उपन्यासों पर लागू होती है।

प्रश्न :- आपने स्पंदन संस्था, भोपाल की स्थापना की और इसके माध्यम से साहित्य और कला जगत में बहुत से काम भी किए। इसके पीछे आपकी क्या सोच थी?

उत्तर :- भोपाल के साहित्यिक माहौल में जितनी विविधता है। जितनी अच्छाइयाँ हैं और यहाँ जितने उच्चकोटि के प्रोग्राम होते हैं उनमें जाने का अवसर मुझे मिलता था पर मैंने देखा कि कुछ ग्रुप, कुछ संघ और संगठन के लोग और साहित्यकार दूसरे प्रोग्राम में नहीं जाते थे। मुझे लगता था साहित्यकारों को संघ, संगठन की विचारधारा के आधार पर दूसरे मंचों की अवहेलना नहीं करना चाहिए। 'साहित्य' सर्वोपरि होना चाहिए। बस वहीं से इस विचार ने जन्म लिया कि एक मंच एक संस्था ऐसी भी होनी चाहिए जहाँ हर विचारधारा के, हर संघ या संगठन के साहित्यकार आयें। हमारी यह कोशिश

कामयाब रही और मुझे यह बताते हुए प्रसन्नता हो रही है कि स्पंदन संस्था, भोपाल ललित कलाओं और साहित्य की ऐसी ही संस्था के रूप में अपना अस्तित्व और पहचान रखती है। सभी साहित्यकारों के प्रति मेरा सम्मान का भाव रहा है।

प्रश्न :- साहित्य में आज शोर ज्यादा सुनाई दे रहा है?
उत्तर :- आपका इशारा फेसबुक और सोशल मीडिया के अन्य माध्यमों की ओर है। फेसबुक पर देखकर ऐसा लगता है कि साहित्य भी तेजी के साथ भाग रहा है। मुझे लगता है कि आज प्रकाशन की सुविधाएँ ज्यादा हैं। किताबें छपकर आ रही हैं। नये-नये लेखक आ रहे हैं। अगर शोर है तो वह भी समय के साथ थम जायेगा और असल चीजें जिंदा रहेंगी।

प्रश्न :- नया क्या लिखने जा रही हैं?
उत्तर :- उपन्यास! उपन्यास पर काम रह रही हूँ और कुछ कहानियाँ भी।

प्रश्न :- लेखन के अलावा आपके रुचि के अन्य विषय?
उत्तर :- घूमना! यात्राओं से मुझे ऊर्जा मिलती है। बिना यात्रा किए मैं रह ही नहीं सकती। संगीत सुनना, पेड़-पौधों को लगाना। बस यही सब है जीने के लिए।

प्रश्न :- एक जरूरी सवाल आपकी दृष्टि में साहित्य का सरोकार क्या है?
उत्तर :- समाज, मनुष्य, समाज, प्रकृति, तथा इस, पृथ्वी पर जो भी अवस्थित हैं, उनके बारे में उन समस्याओं के बारे में, मानवीय संबंधों और मानवीय मूल्यों के बारे में लिखना। समय और समाज जिस तेजी से साथ बदल रहा है उस बदलाव की छवियों और चुनौतियों के बारे में लिखना। मैं हमेशा जीवन को सकारात्मक रूप में देखने की पक्षधर हूँ शायद इसलिए कि मैं दर्शन, अध्यात्म और भारतीयता में विश्वास करती हूँ। मेरे लिए साहित्य सृजन वो माध्यम है जिसके द्वारा मैं शेष समाज से जुड़ने की कोशिश करती हूँ।

प्रश्न :- आप दुनियाभर में घूमती हैं तो उम्मीद करें कि आगामी कोई कृति उसी पर आधारित होगी।
उत्तर :- मैंने बहुत देशों की यात्रा की यात्राएँ बहुत कुछ सिखाती हैं, दिखाती हैं, मेरी दोस्त कहती हैं कि मुझे डायरी या यात्रा-संस्मरण लिखना चाहिए। मैं जब भी जाती हूँ। पति तथा बच्चों के साथ ज्यादातर घूमती हूँ। दूसरे देशों की खासकर अमेरिका की जीवन शैली, मूल्य मानसिकता सब कुछ देख समझ रही हूँ। समय आने पर जरूर लिखूँगी क्योंकि वह भी मेरे जीवन का हिस्सा है।

मो.- 9826247286

सम्मानीय मेहता परिवार एवं अक्षरा पत्रिका के सम्मानीय लेखक व पाठक वृंद
सादर अभिवादन
मैं सतना मध्यप्रदेश से ममता श्रवण अग्रवाल
मान्यवर,
अक्षरा पत्रिका में प्रकाशित मेरे आलेख, एक समग्र व्यक्तित्व के धनी नरेश मेहता जी, से संबंधित सभी जानकारी मैंने यू ट्यूब से प्राप्त की थी और उसी आधार पर मेरी लेखनी चली पर मुझे आज यह जानकर अत्यंत दुख हो रहा है कि माननीय नरेश मेहता जी के दो विवाह की जानकारी जो कि मेरे आलेख में हैं वो सत्य नहीं है और अभी मेरे पास वो वीडियो भी उपलब्ध नहीं हैं पर मैं प्रयास में हूँ कि मुझे मिल जाए तो मैं आप तक भेज सकूँ। अब मैं केवल आप सभी से यही कह पा रही हूँ कि हम सभी गूगल पर विश्वास करके गहन बातें लिख देते हैं जो कि वास्तविक भी हो सकती हैं और अवास्तविक भी और इस अवास्तविक जानकारी के प्रति मैं आप सभी से हृदय से क्षमा प्रार्थी हूँ।
ममता श्रवण अग्रवाल, सतना (म. प्र.)

बाबू की पूजा

– उर्मिला शिरीष

जन्म – 19 अप्रैल 1959।
शिक्षा – एम.ए. पीएच.डी, डीलिट्।
रचनाएँ – 14 कहानी संग्रह, 6 संपादित, 1 साक्षात्कार, 1 जीवनी, तीन उपन्यास।
सम्मान – अखिल भारतीय मुक्तिबोध पुरस्कार सहित अनेक सम्मानों से सम्मानित।

'माँ, आप घर पर हैं?'

'क्यों।'

'मैं आ रही हूँ।'

'क्यों।'

'बहुत जरूरी काम है।'

'आज बाबू की पूजा है।'

'तो क्या हुआ?'

'उसमें लड़कियाँ शामिल नहीं होती।'

'घर की लड़कियाँ भी नहीं।'

'तो क्या तुम नहीं जानती? तुमने तो कभी कुछ माना ही नहीं, न त्यौहार न रीति रिवाज। अभी सब आये हुए हैं। कल आ जाना।'

'कल....ऽऽऽ' उन्होंने गाड़ी का ब्रेक लगाया, धीमी रफ्तार करके गाड़ी को पेड़ के नीचे घनी छाँव में खड़ी की। ऑफिस जाने का समय था इसलिए ट्रेफिक बहुत ज्यादा था। गाड़ियाँ, मोटर साईकिल, बसें, रिक्शे, स्कूटर ही नजर आ रहे थे।

अब क्या करूँ? किससे कहूँ? कौन मेरी मदद करेगा। माँ ही हमेश आड़े वक्त काम आती है पर वही माँ आज दूसरे खानदान की, कुलवधू बनकर उनको पराया बताकर, अपने घर में आने से मना कर रही है। माँ अपने तथाकथित परिवार के साथ बाबू की पूजा करने में व्यस्त है। और मैं यहाँ पेड़ के नीचे खड़ी हूँ उनकी अपनी सगी बेटी मगर बाबू की पूजा में परायी!

'माँ, आखिर हम क्यों शामिल नहीं हो सकते। क्या वो हमारा परिवार नहीं है! हम उस घर के नहीं हैं क्या?' वे छोटी बच्ची की तरह माँ से सवाल कर रही थी।

'कोई जरूरी काम है क्या?'

'हाँ।'

'तो दोपहर बाद आना।' माँ ने उनकी बात सुने बिना ही फोन रख दिया। बाबू की पूजा। ये बाबू हैं क्या? ये बाबू नाम का प्राणी, देवता कुलदेवता या जो भी है, उसने भी अपने ही घर में जन्मी, पली लड़की को बाहर कर दिया और लड़कों को भीतर। ये क्या तमाशा है? वे झुँझलाकर अपने आप से ही बातें किये जा रही थीं। उनकी तार्किक बुद्धि माँ की बात को स्वीकार करने के लिए तैयार न थी! माँ का परिवार यानी दोनों बेटे, दोनों भाभियाँ, चाची, ताई, उनके बेटे, बहू, बेटे, पोते सब शामिल हो रहे हैं। वैसे ताई और चाची तो कभी माँ को फूटी आँख नहीं सुहाती थीं। सालभर कोई किसी से मिलता-जुलता नहीं था और भाभियाँ वो इस समाज की सबसे अहंकारी बहुएँ

थी। बड़ी भाभी, माँ से कभी भी बात नहीं करती। यहाँ तक कि बीमारी में देखने तक नहीं आती और छोटी वो भी कभी कभार आती थी, ये देखने के लिए कि जिस मकान में माँ रह रही हैं वहाँ कोई आकर तो नहीं रहने लगा है। लेकिन आज वे सब एक हैं। एक खानदान की और वो, वो खानदान से बाहर थी। वो जिसने बचपन से लेकर आज तक अपना जीवन सिर्फ और सिर्फ अपने परिवार को समर्पित किया है, वही उस पूजा से, अनुष्ठान से बाहर थी। जब उन्होंने होश सँभाला था तो छोटे भाई-बहिनों को घर में देखा था, जिन्हें वे अपने कंधों पर लादे गोद में लिए उनका काम करती, उन्हें नहलाती, तैयार करती फिर उनके साथ खेलतीं। बड़ा होने पर अपने साथ स्कूल ले जातीं... । उनका होमवर्क करवातीं। और बड़े हुए तो उनको डॉक्टर को दिखाना, उन्हें बाजार ले जाना उनका सामान दिलवाना उनके झगड़े निपटाना उनकी चाही-अनचाही बातों का तनाव लेना, फिर कॉलेज, कॉलेज के बाद शादी के लिए लड़के देखना शॉपिंग करना। माँ तो केवल बच्चों को जन्म देकर जैसे परायी हो गयी थी।

असली पालन पोषण तो उन्होंने ही किया था। कितनी रातें वे जागीं हिसाब नहीं, कितनी बार अपमानित हुईं याद नहीं क्योंकि भाई-बहिनों का जीवन बनाना उनका लक्ष्य था और शादी के बाद भी वे सारे काम करती रहीं थीं। पति के गुजर जाने पर वे वहीं रह गयी थीं क्योंकि उनके मन में एक ही चिंता थी कि माँ को कौन देखेगा। सबकी शादियाँ हो गयी थीं। घर बस गये थे, बच्चे हो गये थे और सब अपनी सुंदर दुनिया में जीते हुए भूल ही गये थे कि एक अकेली माँ नीम अँधियारे में डरती होगी। या रात्रि की निस्तब्धता उसे अकेले होने के एहसास से रुला देती होगी। वे आज भी हर रोज रात दस बजे माँ के पास सोने के लिए आ जाती हैं क्योंकि दोनों भाभियाँ न तो उनके साथ रहना चाहती हैं न उन्हें रखना चाहती हैं। उनके आते ही माँ निश्चित हो जाती हैं। माँ कहतीं एक मच्छर परेशान कर रहा है, वे एक मच्छर को ढूँढ़ने में सारे परदे हिलातीं, दीवारें ताकतीं, छत देखतीं पर वो मच्छर न जाने किस सुराख में जा छुपता। माँ कहतीं आज ए.सी. मत चलाना वे एसी बंद करके पंखा चला देतीं। माँ की पीठ में दर्द है, वे पीठ पर मरहम लगाकर दबातीं। माँ कहती पाँवों में दर्द हो रहा है, वे माँ के पाँव दबातीं। माँ के सोते ही वे अपने पलंग पर जा लेटतीं। आँख लगती ही थी कि माँ पेशाब जाने के लिए आवाज लगातीं, वे आँखें मलतीं माँ का हाथ पकड़कर बाथरूम में ले जातीं।

'सोई नहीं।' माँ पूछतीं।

'आप सो जाओ।'

जब पाँच बजे उनको गहरी नींद आने लगती तभी माँ आवाज लगातीं, 'गरम पानी कर दो।'

'माँ इतनी जल्दी मत नहाओ।'

'हमें बिना नहाये अच्छा नहीं लगता।'

इधर माँ नहातीं उधर वे उनकी चाय बनातीं। माँ तैयार होकर बाहर बैठ जातीं और वे नींद में डूबी थकी-हारी सी अपने घर के लिए चल देतीं। सुबह की उजास फैलने लगती। चिड़ियों का कलरव आँगन में गूँजने लगता। बाइयों का आना शुरू हो जाता। चाय-नाश्ता बनना शुरू हो जाता।

'मैडम चाय पीजिए।'

'थोड़ी देर सोना चाहती हूँ।'

'जी कब जगा दूँ?'

'साढ़े आठ बजे।'

'जी।'

बाई उनका नाश्ता टेबल पर लगाकर रख देती।
'मैडम कंधे दबा दूँ।'

'हूँ.....।'

'मैडम पूरा परिवार है वो क्यों नहीं रुकते माँ के पास।' बाई

अपनत्व से कहती।

'पर माँ को मेरा साथ अच्छा लगता है।'

'अपकी नींद पूरी नहीं हो पाती।'

'कोई बात नहीं। माँ तो सोती हैं।'

ठीक दस बजे ऑफिस जाना होता है। सार्वजनिक जीवन को भले ही उन्होंने त्याग दिया हो पर व्यक्तिगत रूप से सबसे मिलना-जुलना आज तक जारी है। अलग-अलग उम्र के लोग कोई नौकरी के लिए एप्लीकेशन लेकर आता है तो कोई एडमीशन के लिए, तो कोई अन्य कामों के लिए।

'आप दो लाइनें लिख दो।'

'कौन सुनता है मेरी?'

'फिर भी लिख दीजिए।'

'आप लोगों का मन रखने के लए लिख देती हूँ पर होना-हुबाना कुछ नहीं।' कहते-कहते उनका गला रुँधने होने लगता। 'आपका समय कभी नहीं भूल सकते मैडम। आपका समय जल्द लौटकर आयेगा।'

'आये न आये.....। हमने तो अपने जीवन की दिशा ही बदल दी। सारी अपेक्षाएँ छोड़ दीं। अपना पढ़ना-लिखना और माँ की सेवा करना बस यही जीवन का लक्ष्य बना लिया है।'

'आपने क्या-क्या नहीं किया मैडम? सारा जीवन ही लगा दिया पर सब कितने स्वार्थी निकले।'

'पुरानी बातें करने से क्या फायदा? ईश्वर की भक्ति में लीन होकर बाकी समय भी निकल जायेगा।' उसे याद आया राजरानी देवी की वो अंतिम पदयात्रा जिसमें वे अपने बचे हुये समर्थकों के साथ 'शांति पदयात्रा' पर निकली थीं। वे आगे-आगे चल रही थीं, पीछे-पीछे उनके समर्थक। 'राजरानी देवी संघर्ष करो हम आपके साथ हैं.....'

बीच-बीच में नारे गूँज रहे थे। उस दिन मई महीने का सबसे गरम दिन था। धूप, उमस, पसीना से सभी भीग रहे थे। लंबी पंक्ति धीरे-धीरे पीछे से कम होती गयी थी। 'देवी जी का राजनीतिक भविष्य खत्म हुआ समझो।'

'बेचारी ने कितनी मेहनत की। न रात देखी न दिन। चौबीस घण्टे चुनाव प्रचार में लगी रही। नदी-नाले पार करने के लिए खटिया पर बैठकर जाती थी। लोग अपनी पीठ पर बिठा लेते। पेड़ के नीचे बैठकर खाना खाती। पाँवों में छाले पड़ जाते तो कपड़ा बाँधकर चल देती। कभी शिकायत नहीं की। कभी विश्राम नहीं किया। प्रचण्ड बहुमत से मिली जीत उन्हीं की मेहनत का फल है पर आज सारी तस्वीर ही बदल गयी।'

'अपने ही लोगों ने उन्हें धोखा दिया है। पार्टी से बाहर कर दिया है। एकाएक वो कैसे परायी हो गयी।'

'ठीक वैसे ही जैसे लड़कियाँ अपने घर से परायी हो जाती हैं। 'सारे नेता एक साथ हो गये। सबकी एक ही माँग थी कि राजरानी को कुर्सी न मिले... और वैसा ही हुआ।
रातभर तड़प-तड़प कर रोती रही थी।

'आत्मा तो कलपेगी ही।'

'उनकी हाय से कोई नहीं बच सकता।'

'वो तो साधु की प्रवृत्ति की है इसलिए इतना बड़ा धोखा और सदमा झेल गयी है।'

'मैडम .... तबियत तो ठीक है।' सेविका की आवाज से उनका ध्यान भंग हुआ।

'रातभर बैचेनी सी रही। माँ बार-बार उठती है। कभी बच्चों की तरह झुँझलाती है तो कभी सपने में बर्राने लगती है। जब से पिता जी गये हैं माँ अजीब से भय से भर गयी है।

'मैडम कभी-कभी भइया लोगों को भी रुकना चाहिए।'

सेविका एक ही रट लगाये रहती।
'आपकी भी तो उम्र हो गयी है।'

'नाश्ता दे।' वे मुस्कराकर बोलीं।

'आपका मोबाइल बज रहा था।'

'ला, मोबाइल ला दे।' उन्होंने देखा ग्यारह मिस कॉल पड़े थे। एक फोन तो माँ का ही था। अब क्या हो गया? बाद में आती हूँ। उन्होंने मैसेज किया। दूसरे फोन कार्यकारिणी सदस्यों के थे। कुछ राजनीतिक हलचल शुरू हो गयी थी। चुनाव नजदीक आ रहे थे। दिल्ली से पार्टी नेता आ रहे थे। टिकिट देने की कवायद शुरू हो गयी थी। किस-किसको टिकिट दिया जाये किसके काटे जायें चर्चा जोरों पर थी। किस क्षेत्र में किसका कितना दबदबा और प्रभाव है। यह भी जमीन स्तर पर जाँच-परखा जा रहा था।

'मुझे क्या लेना-देना? अब याद आ रही है क्योंकि वो क्षेत्र मेरा है। मेरे लोग हैं। मैंने उनके लिए काम किया है। वहाँ नलकूप ठीक करवाये। तालाब, बावड़ियाँ बनवायीं। सड़क बनवाई। फैक्टरी शुरू करवायी। अपने लोगों को वैसे ही पाला-पोसा जैसे बचपन में अपने भाई-बहिनों को। मैं नहीं तो और कौन?' वे मन ही मन आत्म आकलन और आत्मालाप कर ही थी।

'मैडम, क्या आप कभी राजनीति में नहीं लौटेंगी?'

वे कुछ बतातीं या समझातीं तभी माँ का फोन आ गया- 'कुछ काम था? अभी फ्री हुए हैं। सबका खाना था। सब खाना खाकर जा चुके हैं। अब आ सकती हो?'

'नहीं कोई काम नहीं था? रात में ही आऊँगी।' उन्होंने अनमने भाव से कह दिया। माँ और पार्टी में, घर और पार्टी में क्या अंतर है? जिस पार्टी को उन्होंने अपनी माँ की तरह समझा था उसी पार्टी ने उन्हें निकाल दिया था और जिस पार्टी के लोगों को भाई बहिन की तरह मानती थी वही सब एकाएक छोड़कर चले गये थे।

क्योंकि वहाँ का बाबू अब प्रदेश का मुखिया बन गया था। उसके साथ विधायक ज्यादा थे। वह ऊपर के लोगों का भी चहेता बन गया था क्योंकि अपनी पार्टी के लिए वही सबसे ज्यादा फण्ड दे रहा था। वह लगातार सभाएँ कर रहा था। जबकि वे अपने सिद्धान्तों और ईमानदारी का त्रिशूल लिए खड़ी रहती थी। वे जानती थी कि लोग उन्हें पंसद नही करते हैं। उनके स्वभाव में वक्रता थी। उनके काम करने का तरीका ही था परिणाम। परिणामवाचक नीतियों में विश्वास करना। अधिकारी उनके सामने खड़े नहीं हो पाते थे क्योंकि वे एक-एक काम का हिसाब माँगती थीं-हिसाब समय का, दिनों का, पैसों का। समयावधि में काम न होने पर वे दुर्वासा का रूप धारण करके उन्हें डाँटती थीं। उनका तबादला करवा देती थीं या सस्पेंड के सीधे आदेश हो जाते थे और आम लोगों की भाषा में कहा जाये तो 'सार्वजनिक रूप से बेइज्जती' करती थीं। बस वही सब किसी को रास नहीं आता था। धीरे-धीरे उनके खिलाफ बगावत शुरू हो गयी थी। उन्हें हराने की साजिशें रची जाने लगी थीं। उनके खिलाफ संगठन में ऊपर शिकायतें की जाने लगी थीं। बाबू अपना कद बढ़ा रहा था बल्कि बाबू का कद बढ़ता गया था और ये उस कुनबे से बाहर कर दी गयी थीं। तभी उनके इने-गिने लोगों को लगा था कि राजरानी के साथ अन्याय हुआ है।

'बाबू को पता चल जायेगा कि कौन-कौन उनके साथ इस यात्रा में शामिल हैं।'

'अगला नंबर हमारा ही होगा।'

'चुपचाप खिसक लेते हैं। हमें कौन पूछेगा।'

'इनका लौटना तो मुश्किल है।'

'अब बाबू का समय है। बाबू को नाराज नहीं करना है।'

पीछे से जो लोग कार में थे, स्कूटर या मोटर साइकिल पर थे या योजनाबद्ध तरीके से चल रहे थे वे धीरे-धीरे नजरें बचाकर,

खुद को छुपाकर वापस होने लगे थे। जब उन्होंने अपने निवास पर स्वयं को खड़े पाया तो देखा बीस-पच्चीस लोगों से ज्यादा नहीं थे। हाँ महिलाओं की संख्या अलबत्ता चालीस-पचास रही होगी। जिन लोगों को वे नाम या चेहरे से पहचानती थीं वे सब नदारद थे। बाहर कुर्सियाँ पड़ी थीं। पर वे खाली थी। वे वहीं आकर बैठ गयी थी। पसीने से साड़ी भीग गयी थी। बाल चिपक गये। अनीता उनकी हालत देखकर चिन्तित हो गयी थी। उसने जल्दी से उनके लिए संतरे का रस बनाया था। वे चुप थीं। जो लोग आये थे, वे एकदम खामोश थे। न उनके पास कुछ कहने के लिए था न जनता के पास सुनने के लिए।

'दीदी।' मैडम।

'आप लोग जाकर आराम करिए।'

'आप? आप आगे क्या करेंगी?' वे पूछ रहे थे।

'हम तो रात की ट्रेन से निकल रहे हैं। कुछ समय एकांतवास में रहेंगे। चिंतन-मनन करेंगे।' महिलाएँ सुबकने लगीं। घेरा बनाकर उनके नजदीक आ गयीं।

'हमारा आपके सिवा कोई नहीं है।'

'आप यहीं रहो।'

'हिम्मत रखो। सब लोग मिल जुलकर काम करना अन्यथा बाबू का विरोध करने की कीमत चुकानी पड़ेगी। सत्य परीक्षा लेता है। हमने कभी कुर्सी की कामना नहीं की थी। जनता का हमारे लिए जो प्रेम था, आदर और सम्मान था, विश्वास था, उसी के कारण हम उनकी सेवा करना चाहते थे। चाहते थे- उनका पैसा, उनका हक, उनके लिए बनायी गयी योजनाओं का लाभ और सुविधाएँ उन्हें मिले लेकिन आज सच्चाई और ईमानदारी की कोई कीमत नहीं है। मैं जानती हूँ कि आज के समय में राजनीति, धर्म, ईमानदारी और कर्त्तव्यबोध नहीं हो सकती न नाते-रिश्ते। दोनों ओर पतन हो चुका है। सब दिखावा है। मेरा स्वभाव इन सबके खिलाफ खड़ा हो जाता है इसीलिए मैं कहीं भी स्वीकार्य नहीं हूँ। लोग मुझे अपने हितों के लिए इस्तेमाल करने आते हैं।'

'जी ई....।'

'फिर मिलना।' कहकर उन्होंने दोनों हाथ जोड़ दिए थे। उनका सिर उनकी हथेलियों पर टिका था। एकाएक सारी भीड़ छँट गयी थी। बरामदे में वे थीं और हथेलियों को भिगोते आँसू। सामने खाली पड़ी कुर्सियाँ। औंधे पानी के गिलास...। भरभराते पंखे।

'सब उठाकर रख दो!'

'जी।'

न जाने क्या हुआ कि वे एकाएक कार उठाकर माँ के पास चली गयी थीं और माँ के गले लगकर जो रोयीं तो माँ को स्वयं को और उनको सँभालना मुश्किल हो गया था। वो मौन की धारा थी। या माँ का स्पर्श या ताकत कि वे वहीं गहरी नींद सो गयी थीं। और जब आँख खुली तो ट्रेन का समय हो चुका था।

'अपना ध्यान रखना' माँ समझा रही थीं। एकांत! एकांत। एकांत की तलाश में अपने गुरु के आश्रम में गयी। तीन दिन वहाँ रुकी थी। छटपटाहट, संताप, आँसू, लंबी भीड़ का एकाएक कम होते जाना। जैसे सारे केंचुए एक साथ सिकुड़ गये हों। वे सिहर उठती। फिर गाँव गयीं। वहाँ पन्द्रह दिन ठहरीं। फिर वही दृश्य, हवा में लहराते, ताली बजाते हाथ। लाखों की भीड़ होती थी और उनके भाषणों पर लगातार तालियाँ बजती थीं। स्टार प्रचारक। स्टार। स्टार। तालियाँ। नारे। आवाजें, फिर बरामदे में वो गिने-चुने लोग। दुविधा में डूबे लोग इधर जायें या उधर! क्या वो कोई स्वप्न देखा था या सत्य! जब मन शांत नहीं हुआ तो लेह की तरफ निकल गयी थी। वे दृश्य वहाँ भी उनकी नींद में, शांति में खलल पैदा करते थे। अंतत: लौटते हुए जो बीमार पड़ी तो तीन महीने तक उठ न पाई थी। लोग कहते उन्हें सदमा बैठ गया है। लोग कहते वे सत्ता के बिना नहीं रह सकतीं। लोग कहते तानाशाही न की होती तो

आज यह दुर्दशा न होती। लोग कहते बाबू को साथ लेकर चलना था।

माँ ने जाकर सँभाला था। अपने साथ ले आई थी। कौन सा राजपाट छिन गया था। तुम क्यों रोती हो? बेईमान हैं सब? स्वार्थी! तुम्हारे कारण अपनी तिजोरियाँ नहीं भर पा रहे थे। गलत ढंग से जमीनें और पेट्रोल पम्प नहीं ले पा रहे थे सो निकाल दिया। तुम्हें तो खुश होना चाहिए कि अबसे आराम से जिंदगी जी पाओगी। सुख, शांति, आराम कहाँ? अपमान की चिंगारी मन में दबी पड़ी थी। चिंगारी का स्वभाव ही होता है कि हवा लगते ही आग पकड़ लेती है। उनके स्वभाव को लेकर गतिविधियों को लेकर, बयानों को लेकर इतने विरोधी तर्क खड़े कर दिए गये थे कि वे स्वयं को चारों तरफ से घिरा हुआ महसूस कर रही थी। छः महीने की लंबी यात्रा यानी देशाटन करके लौटी थी। सबको कह दिया था कि वे यहाँ नहीं है। लायब्रेरी में ही उनका ध्यान लगाना होता। वहीं वे बाकी काम करती और रात्रि में माँ के पास चली जाती उस माँ के पास जिसने उन्हें बाबू की पूजा देखने और उसमें शामिल होने से मना कर दिया था, वे माँ से पूछना चाहती थीं कि बाबू की पूजा में आपने ही निष्कासित नहीं किया बल्कि उनके जीवन में आये दूसरे बाबू ने भी उन्हें आपकी ही तरह निष्कासित कर दिया है यानी सार्वजनिक रूप से वो उसी पार्टी की है, बाहर से सम्मानित सदस्य पर उसके भीतर जाना भीतर जाने के सारे रास्ते बंद कर दिए हैं। उनकी बात, उनकी सलाह, उनकी पार्टी के लिए की गयी सेवा सब पर चर्चा निषिद्ध है। जो उनका नाम लेगा वही बाबू का कोपभाजन बनेगा। क्या उनका औरत होना सबके ईगो के आड़े आता था या सत्ता का पुरुष-वर्चस्व ..... उन्हें पीछे धकेल देता था।

'मैडम, आपसे मिलना चाहता हूँ।' सुबह-सुबह उनके पूर्व पी.ए. का फोन आया।

'क्यों!'

'आने की अनुमति दीजिए मैडम।'

'कारण।'

'दो मिनट बात करना चाहता हूँ। मना मत करिए।'

'ठीक शाम पाँच बज आओ।'

क्या बात करना चाहता है? क्यों मिलना चाहता है। मन में सवालों की झड़ी सी लग गयी थी। पी.ए. जिसका नाम विनायक था जब आया तो वे सतर्क होकर बैठ गयी। कोई भी बात टेप कर सकता था। अब उन्हें किसी पर विश्वास नहीं रहा था।

'बताओ। महिनों बाद हमारी याद कैसे आ गयी।'

'मैडम, सी.एम. को हटाने की चर्चा जोरों पर चल रही है।'

'तो। हटे या रहे। मुझे क्या लेना-देना?'

'आप पुनः आना चाहेंगी?'

'अपना अपमान करवाने के लिए!'

'पार्टी अपनी गलती सुधारना चाहती है।'

'अब उन्हें अपनी गलती का एहसास हो रहा है।'

'उनको लगता है आप ही प्रदेश की बागडोर मजबूती से सँभाल सकती हैं।'

'तब सँभाल सकती हूँ जब पूरा प्रदेश कर्ज में डूबा है। किसानों की राशि नहीं दी गयी है। बाढ़ ने तबाही मचा दी है और सबको लग रहा है कि बाबू सँभाल नहीं पा रहा है तब।' वे तैश में बोले जा रही थीं। उनका चेहरा क्रोध से लाल हो गया था।

'मैडम, बी.पी. बढ़ जायेगा।'

'मेरे बी.पी. की चिंता मत करो। तुमको किसने पट्टी पढ़ाकर भेजा है?' विनायक हड़बड़ा गया। इधर-उधर देखने लगा।

उसे मालूम था कि वे उसी पर बिफर पड़ेंगी!

'मैडम, आप अपनी माँ की सेवा क्यों करती है? क्यों जाती हैं वहाँ?'

'क्योंकि माँ को मेरी जरूरत है। हम एक-दूसरे को भली-भाँति समझते हैं।'

'वही तो मैडम, ये प्रदेश, यहाँ की जनता आपको और आप उसको ठीक से जानती-समझती हैं।'

'मेरे साथ रहकर तर्क करना सीख गये हो।'

'साहब आपसे बात करना चाहते हैं, इन्हीं कुछ महत्त्वपूर्ण बिंदुओं पर।'

वे विनायक की चाल समझ गयी थीं। वह अपनी जुगाड़ बैठाने के चक्कर में था। 'तो क्या इतनी परिस्थितियाँ बदल गयी हैं! हालात बिगड़ गये हैं?' इसलिए नहीं कि वे पुनः राजनीति में आना चाहती थीं, इसलिए नहीं कि उनके पास संसाधनों की कमी थी। इसलिए कि उन्हें अपना खोया वजूद पाना था, अपना सम्मान पाना था, अपने किए गये कामों का हिसाब माँगना था।

'चाय पियो।' मन ही मन उनके भीतर गहरी उथल-पुथल चल रही थी। एक-एक दृश्य, छल-छद्म आँखों के सामने दिखाई दे रहे थे। चाय खत्म हो चुकी थी। विनायक बैचेनी के मारे कभी उठता, कभी बैठता तो कभी उनके चेहरे की तरफ देखता। कभी बोलते-बोलते ठहर जाता। उसकी इस गोपनीय भेंट पर भी सबकी निगाहें टिकी हुई थीं।

'मैडम।'

'सोचने का मौका दो।'

'साहब से भेंट करने में क्या हर्ज है?'

'वो चालाक आदमी है। मिलेगा यहाँ, मीडिया में कुछ और कह देगा।'

'ये मेरी तरफ से गारंटी रही वो आपकी अनुमति के बिना एक शब्द नहीं कहेंगे।'

'कल शाम का समय रखो। और साफ-साफ सुन लो, समझ लो मेरे साथ किसी भी तरह की चालाकी झूठ और धोखेबाजी की तो यहाँ से लेकर ऊपर तक ताण्डव मचा दूँगी मैं अब वो राजरानी नहीं रही जो विरोध में शांति पदयात्रा निकाल रही थी। समझ रहे हो न।'

'जी।' विनायक खुशी के मारे उछल सा पड़ा। उसे लगा मैडम बहुत जल्दी राजनीति में पुनः प्रवेश करके सब सँभाल लेंगी और वह फिर से मैडम का पी.ए. बन जायेगा। या हो सकता है इससे भी ज्यादा कुछ!

'क्या तुम दुबारा राजनीति में जा रही हो?' माँ फोन पर थीं। 'ऐसा कुछ भी नहीं है माँ! मिलने वाले तो आते ही रहते हैं।'

'पुराने दिन भूल गयी? कैसा व्यवहार किया था सबने!'

'माँ, उस दिन आपने मुझे पूजा में शामिल नहीं होने दिया था आप सोच नहीं सकतीं कि मुझे कितनी तकलीफ हुई थी और बाहर के बाबू ने भी वही किया था माँ...। हम चाहते हैं कि बेटियों को भी बाबू की पूजा में शामिल किया जाये.....।'

माँ ने कुछ सुना या नहीं उन्हें नहीं मालूम, हाँ बाहर के बाबू की पूजा अलबत्ता बंद होने जा रही थी। क्योंकि उन्होंने अपने कदम आगे बढ़ाने का निर्णय ले लिया था बिना यह सोचे कि वे हारेंगी या जीतेंगी?

503, ऑर्चिड, रुचिलाइफ स्केप,
जाटखेड़ी, होशंगाबाद रोड,
भोपाल-462047 (म.प्र.)
मो. - 9303132188

उर्मिला शिरीष : आत्मीयता का कथा राग

– रमेश दवे

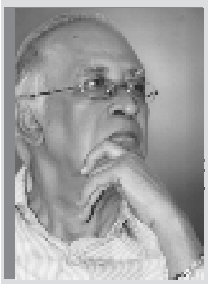

वरिष्ठ साहित्यकार एवं शिक्षाविद।

जन्म – 8 जून 1936।

रचनाएँ – पचास से अधिक पुस्तकें प्रकाशित।

सम्मान – कुसुमांजलि साहित्य सम्मान, सहित अनेक सम्मानों से सम्मानित।

संस्मरण विधा गद्य की आत्मीय शैली है। संस्मरण में व्यक्ति, व्यक्तित्व हो जाता है और उसकी सृजनात्मक अस्मिता उसका संवेदनशील अस्तित्व का रूप ले लेती है। अनेक बार संस्मरण अपनी वस्तुनिष्ठ सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं और व्यक्तित्व से जुड़े प्रसंग प्रशंसापत्र की तरह लगने लगते हैं। संस्मरण, जीवनी साक्षात्कार और रेखाचित्र जहाँ सर्जनात्मक गद्य हैं, वही वे न केवल व्यक्ति बल्कि उसके रचना–कर्म से भी जुड़े होते हैं। विश्वभर के साहित्य में संस्मरण, जिन्हें अंग्रेजी में मेमवाज (Memoirs) कहा जाता है, लिखे गये हैं। कई उत्कृष्ट संस्मरण राजनैतिक नेताओं, महापुरुषों, सभायें, सैन्य शौर्य पुरुषों और सामाजिक कार्यकर्ताओं पर लिखे गये। फिल्मी हस्तियाँ भी संस्मरण की अत्यन्त पठनीय सामग्री बनीं। यदि हम साहित्य में स्त्री रचनाकर्मियों का स्मरण करते हैं, तो वह केवल परिचय नहीं बल्कि उनके अपने साहित्यिक अवदान से अर्जित व्यक्तित्व की जीवंत कथा है। कई बार तो ऐसा लगता है जैसे संस्मरण स्वयं चरित्र प्रधान कहानी या उपन्यास बन गये हों।

कथाकार उर्मिला शिरीष मेरे लिए मात्र परिचय नहीं है बल्कि वे एक ऐसा व्यक्तित्व है, जिसकी तीन छटाएँ हैं। एक वे आत्मीय स्तर पर पारिवारिकता के माधुर्य एवं समरसता की प्रतीक हैं, दूसरे वे एक कल्पनाशील और समन्वयकारी प्राध्यापक एवं साहित्यिक गतिविधियों की श्रेष्ठ संयोजिका हैं और तीसरे वे एक ऐसी कथाकार हैं, जिसके पास एक ओर बुन्देलखण्ड की आत्मीय देशज एवं लोकधर्मी चेतना है तो दूसरी ओर कहानी की आधुनिक एवं प्रयोगशील ऐसी भूमि है, जिसे वे अपनी भाषा की सादगी और शिल्प की कसावट से उर्वर करती हैं। कथा का एक विस्तृत अनुभव लोक उनके पास है जो उनके लिये कथा विषय का कच्चा माल मुहैया कराता है।

मेरा उर्मिला से परिचय तो शायद अस्सी के दशक में डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय के निवास पर ही हुआ था और तब वे हिन्दी साहित्य की छात्रा एवं शोधार्थी थीं। श्रोत्रिय जी ने उर्मिला से परिचय कराते हुए कहा था कि ये एक होनहार, संभावनावान कथाकार हैं और सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उर्मिला सदैव नया–नया सीखने को तत्पर रहती है। श्रोत्रिय की उर्मिला को अपनी बेटी की तरह मानकर उनके शोध की अनेक धाराएँ बताते थे। मेरा परिचय भी श्रोत्रिय जी ने एक कवि, समीक्षक और नई दुनिया अखबार के पत्र एवं शैक्षिक एवं साहित्यिक लेखक के रूप में दिया था। उर्मिला के पिता स्व. आदरणीय डॉक्टर गोस्वामी जो आयुर्वेदिक दवाओं के उद्योगपति थे, उनसे परिचय तो हिन्दी भवन में दादा कैलाशचन्द्र पंत के माध्यम से हुआ था। उन्होंने पूछा था कि क्या यह वही रमेश दवे हैं, जो नई दुनिया में लिखते हैं? धीरे–धीरे उनसे परिचय प्रगाढ़ हुआ और आगे चलकर उनके भाई से दिल्ली में तृतीय

हिन्दी विश्व सम्मेलन में भी परिचय हुआ। जब मेरा परिचय उर्मिला से नहीं था तो उनके दो-चार बार फोन किसी कार्यक्रम को लेकर आये तो मैंने पूछा क्या आप गोस्वामी जी की बेटी हैं? उर्मिला के हाँ कहने पर वे मेरी भी बेटी बन गईं। उनके विवाह समारोह में भी मैं श्रोत्रिय जी के साथ शामिल हुआ था।

मेरे अपने साहित्यिक जीवन में परिचय तो मेरी समकालीन महान हस्तियों से हुआ। अज्ञेय जी से कम मुलाकातें हुईं मगर मेरे अफ्रीकी साहित्य के लेखन को लेकर वे मुझे जानते थे और मेरे अफ्रीकी साहित्यि के लेखन को लेकर वे मुझे जानते थे और मैंने अपनी अफ्रीकी साहित्य की पुस्तक उन्हें नरेश मेहता सारस्वत सम्मान में भोपाल प्रवास के दौरान भेंट की थीं, तब उन्होंने कहा था कि क्या आय 'वत्सल निधि' कार्यक्रम में आना पसंद करेंगे। आदरणीय नरेश मेहता, शमशेर जी, भवानी प्रसाद मिश्र, नामवर सिंह, कुँवरनारायण, केदारनाथ सिंह और तत्कालीन अनेक अन्य साहित्य के दिग्गजों से संक्षिप्त परिचय तो अवश्य हुआ। लेकिन जिन विशेष व्यक्तित्वों से परिचय आत्मीय और पारिवारिक हो गया, उनमें उर्मिला शिरीष तो हैं ही, साथ ही राजी सेठ, ज्योत्सना मिलन, चित्रा मुद्गल, रमेशचन्द्र शाह, नंद किशोर आचार्य, कृष्णदत्त पालीवाल, मृदुला गर्ग, मालती जोशी, केदारनाथ सिंह अत्यन्त विशिष्ट हैं। उर्मिला, ज्योत्सना मिलन, राजी सेठ, चित्रा मुद्गल तो मेरे लिए ऐसी थीं और हैं जैसे वे मेरी सगी बहनें ही हों। उनका असीम स्नेह एवं सहयोग मुझे मिला। हिन्दी की सुप्रसिद्ध कथाकार कृष्णा सोबती का मुझ पर विशेष स्नेह मुझे समीक्षाओं पढ़कर हुआ था। मेरे लिए उनका स्नेह उसी प्रकार एक उपलब्धि था, जिस प्रकार ज्योत्सना मिलन, राजी सेठ और उर्मिला का आज तक कायम है। ज्योत्सना और कृष्णा जी अब हैं नहीं मगर उनका अभाव उर्मिला की आत्मीयता से राजी सेठ और चित्रा के विशेष स्नेह से मैं भरा-भरा अनुभव करता हूँ।

हम आज जिस कथा समय में हैं, वह स्त्री-कथाकारों के वर्चस्व और महत्व का समय है। एक समय था जब केवल सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा से लेकर शिवानी, मालती जोशी, ऊषा प्रियंवदा के नाम ही कथाकारों में स्थापित थे लेकिन अब ऊषा प्रियंवदा, कृष्णा सोबती, राजी सेठ, मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्गल, अनामिका, चन्द्रकान्ता, ममता कालिया, कुसुम अंसल, तेजी ग्रोवर, गगनगिल, अल्पना मिश्र से लेकर अनेक युवतम एवं प्रौढ़ ऐसी कथाकारों की प्रतिष्ठा है, जिनके पास अकूट प्रतिभा, नव्यतम विषय और आधुनिक से उत्तर आधुनिक तक की भाषा और शिल्प है। इन सबके बीच जब उर्मिला शिरीष का कथा-पाठ देखते हैं, तो उनके कथाकार की अनेक मुद्राएँ स्पंदित करती हैं। वे आधुनिक, उत्तर-आधुनिक, नई कहानी, अकहानी, सचेतन कहानी, समकालीन कहानी आदि आंदोलनकारी नामों से प्रभावित हुए बिना, कहानी को कहानी की तर्ज पर इस प्रकार रचती हैं कि उनका हर विषय कथा बनकर या कुछ कहने लगता है, उनकी मूल संवेदना तो देशज ही है लेकिन वे वैचारिक आग्रहों या पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर कथा में जो प्राण-तत्व रचती हैं, उससे लगता है कि उर्मिला के पास कहानी का ऐसा फलक है, जिसे वे अपनी आँखों से निहारती हैं या यों कहें कि कहानी उनकी चेतन-संज्ञा बन कर उनकी आँखों में तैरती है।

मैंने उनसे जितना भी संवाद किया, वह उनके कथाकार बनने की प्रेरणा या उनके कथा परिवेश से जुड़ा संवाद न होकर कहानी के भाषा-संयोजन, चरित्र निरूपण और उनकी विषय चेतना या विषय की प्रासंगिकता को लेकर था एक तत्व उनकी कथा में मुझे ऐसा लगा जो यह सिद्ध करता है कि उर्मिला किसी स्त्रीवाद की जगह स्त्री के अस्तित्व की ही कथाकार हैं। वे स्त्री का स्वाभिमानी अस्तित्व तो रचती हैं। लेकिन स्त्री के विगलित अश्रुओं को कथा नहीं बनाती। उनके पास स्त्रीत्व का स्वाभाविक संवेदन तो है, लेकिन स्त्रीवादी अतिवाद नहीं। वे कथा में व्यर्थ की बौद्धिकता या वैचारिकता की प्रतिबद्धता भी नहीं अपनातीं इसलिये उनकी कहानियाँ

सहज स्वाभाविक मानवीय अभिव्यक्ति की छटा में छा जाती हैं।

उर्मिला ने जिस 'स्पन्दन' कला-साहित्य संस्था की स्थापना की, वह उनके जीवनगत स्पंदन और संवेदन की ही उपज है। उन्होंने 'स्पन्दन' के मंच से मेरा कविता पाठ, कथा पाठ तो करवाया ही तथा अनेक 'स्पंदन-संगोष्ठियों' में कभी अध्यक्ष, कभी विशेष वक्ता के रूप में आदर से आमंत्रित किया। महारानी लक्ष्मीबाई महाविद्यालय में तो अनेक बार कभी रमेशचन्द्र शाह, कभी विजय बहादुर सिंह तो कभी भोपाल या भोपाल से बाहर से आमंत्रित अतिथियों के बीच मुझे भी सम्मानजनक प्रतिष्ठा दी। उस समय मैंने न केवल उनकी संयोजन क्षमता, अपनी फेकल्टी के सदस्यों से सामंजस्य एवं समन्वय, प्राचार्य से प्रोत्साहन आदि तो देखा ही, साथ ही यह भी देखा कि वे अकेली मंच आग्रह से ग्रस्त न होकर अपने सहयोगी प्राध्यापकों एवं अन्य संकायों के सदस्यों से कितनी उदारता से जुड़कर उन्हें भी उचित अवसर देती हैं।

उर्मिला की एक विशेषता यह भी है कि वे जिस पर या जिन पर विश्वास करती हैं, उनके साथ पारिवारिकता पैदा कर लेती हैं। डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय यों तो उनके गाइड थे मगर उनके जीवन में उनके मेण्टर या अभिभावक भी थे। जब उर्मिला ने कथाकार के रूप में संगोष्ठी या आयोजनों में दस्तक दी तो डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय ने उन्हें जो सलाह दी थी, वह यह थी कि जहाँ कहीं भी जाओ, किसी भी आयोजन में जाओ तो अपने पति के साथ ही जाओ। उससे पति-पत्नी के बीच का संबंध विश्वसनीय बना रहेगा। इस सूत्र को अपने जीवन का व्रत मानकर आज तक वे अपना रही हैं फिर चाहे वह उनकी ही संस्था 'स्पन्दन' का आयोजन हो या अन्य किसी संस्था का।

मैंने उर्मिला के साथ जो व्यवहार रखा, वह एक ऐसे व्यक्ति की तरह था, जिसमें एक प्रकार का निस्पृह पितृत्व था और अब भी है। कई बार उनके घर भोजन किया तो कई बार जब वे मेरे घर अपने पति या पुत्र के साथ आईं, तो ऐसा लगा जैसे उर्मिला प्राध्यापक का चेहरा हटा कर बेटी की शक्ल में आकर मेरी खैरियत पूछ रही हो। संस्मरण अनेक प्रकार से लिखे गये। महान व्यक्तित्व, राजनेता, संत-महात्मा, सामाजिक कार्यकर्त्ता सैनिक आदि पर अनेक संस्मरण हैं। अंग्रेजी में इन्हें मेमवाज या मेमायर्स कहा जाता है। हिन्दी में विनय मोहन शर्मा की पुस्तक 'वे-दिन-वे लोग' से संस्मरणों की सुन्दर पुस्तक है। इस प्रकार संस्मरण साहित्यिक विधा ही नहीं बल्कि एक बहुपठनीय विद्या भी है।

स्व. ज्योत्सना मिलन मेरे लिये बहन इसलिये थीं कि उनके पिता कवि, कथाकार, दार्शनिक वीरेन्द्र कुमार जैन (जिन्हें मैं वीरेन्द्र दादा कहता था) मुझसे पुत्रवत् स्नेह रखते थे और उनके उपन्यास 'अनुत्तर योगी' की मैंने जो समीक्षा की थी उस पर वीरेन्द्र जी ने बताया था कि तुम्हारी समीक्षा तो जैनेन्द्र जी को भी पसंद आई। तुमने अनुउत्तर योगी को एक कालजयी कृति कहा था, उसके बाद जैनेन्द्र जी ने भी उसे कालजयी कहा। यहाँ यह थोड़ा विषयांतर तो है, मगर यह मैं इसलिये कह रहा हूँ कि उर्मिला को पढ़कर मुझे लगा था कि यह ऐसी कथाकार है जो ज्योत्सना बहन की शृंखला रचती है। ज्योत्सना कहती थी रमेश भाई पढ़े बिना या फ्लेप या क्लर्ब पर लिखी टिप्पणी के आधार पर समीक्षा नहीं करते। वे पूरी पुस्तक पढ़कर ही लिखते वे इस बात का सबूत हैं कि मैंने उर्मिला को पढ़कर ही लिखा है।

मैंने उनके कथा-संग्रह 'केंचुली' और 'निर्वासन' पर समीक्षा लिखी थी। चूँकि मैं अपने लिखे हुए का हिफाजत के साथ संग्रह नहीं करता, तो पूरी तरह याद नहीं, मगर मेरी समीक्षा पढ़कर उर्मिला का कहना था, जिस गहराई से आपने पढ़कर लिखा है, वैसी मेहनत कौन करता है।

एक वाकया यह है कि सुप्रसिद्ध कथाकार गोविन्द मिश्र के कुछ उपन्यास-जैसे हुजूर-दरबार, लाल-पीली, जमीन मैंने

शिमला में पढ़े थे, मगर जब भोपाल में उनका एक सद्य: प्रकाशित उपन्यास 'फूल, इमारत और बन्दर' पढ़ा तो मैंने उसकी कटु आलोचना कर दी, जिससे गोविन्द जी रुष्ट भी हुए। तब उर्मिला ने गोविन्द जी को कहा–दवे साहब ने आपके उपन्यासों की प्राय: प्रशंसा की है और 'फाँस' कहानी तो वे हमेशा कोट करते हैं। आप केवल एक समीक्षा को लेकर नाराज क्यों हो गए। इसके बाद गोविन्द जी मुझसे पुन: आत्मीय हो गये। उर्मिला का ही यह बड़प्पन है कि उसने मेरे और गोविन्द जी के बीच की इस गलतफहमी को दूर किया और उन्हें मेरे प्रति पुन: आत्मीय बना दिया।

उर्मिला को जितना मैंने जाना, उससे मुझे लगा कि वे अपने लेखकीय जीवन को स्वाभाविक, सामाजिक एवं पारिवारिक ढंग से जीती हैं। न व्यर्थ की बौद्धिकता का दंभ करती हैं न अपनी प्राध्यापकीय छात्र प्रिय छवि का बखान करती हैं और न स्पंदन संस्था की संस्थापक के रूप में अपने वर्चस्व या प्रभाव का इस्तेमाल करती हैं। सहजता उनका मानवीय गुण है, सरलता उनका स्वभाव है और कथाकार–लेखक होना उनकी प्रतिभा के साथ उनकी भाषा शिल्प की समझ से युक्त एक रचनाकार की विनम्रता है। यद्यपि उनके अन्दर थोड़ी समाजवादी–मार्क्सवादी धड़कने हैं, तथापि वे उनके कठोर कट्टर–प्रतिबद्ध आचरण से मुक्त होकर लोकतांत्रिक उदार संस्कार और व्यवहार को प्रकट करती हैं।

उर्मिला को कहानी पाठ करते जब–जब भी सुना तो उनकी आत्मविश्वास से भरी, शुद्ध–उच्चारण से परिमार्जित भाषा और अनावश्यक टिप्पणी से मुक्त अंदाज को देखकर लगा कि उनमें एक संवेदनशील रचनाकार की छवि प्रकट होती है। मैंने अनेक बड़े और कम विख्यात या अन्तरमुखी रचनाकारों को हर रचना पर इस प्रकार आत्म–मुग्ध होते देखा है, जैसे जो उन्होंने लिखा वही सर्वश्रेष्ठ है। ऐसी कृत्रिम या असली आत्म मुग्धता उर्मिला में मैंने कभी नहीं देखी बल्कि मुझे लगा कि वे अत्यन्त संतुलित, विवेकशील और एक ऐसी कथाकार हैं जो अपने लिये कथाकारों की पंक्ति में किसी स्थान का दावा नहीं करती।

उर्मिला जब कथाकार या रचनाकार है तो अपना आत्म केन्द्र रचना को बनाकर उसी में निमग्न रहती है, जब अपने कार्य स्थल या अध्ययन स्थल पर हैं तो वहाँ जितनी कुशल प्राध्यापक हैं, उतनी ही कुशल संस्था के कार्यक्रमों की सफल संयोजक हैं। इसलिये मैंने कई बार कालेज में उन्हें अपने प्राचार्यों, वरिष्ठ प्राध्यापकों, फेकल्टी के साथियों के बीच अत्यन्त प्रिय पाया। अपने कार्य एवं अपने व्यवहार से, अपनी वाणी एवं अपनी कर्त्तव्य–निष्ठा से विश्वास जीतने की कला उनका स्वाभाविक गुण हैं।

उर्मिला ने अपने गुरु प्रभाकर श्रोत्रिय का गुरुऋण चुकाने की दक्षिणा उन पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के संयोजन से दी। मैंने देखा कि वे न केवल प्रभाकर श्रोत्रिय को गुरु के रूप में बल्कि अपने मानस पिता के रूप में जब भी उनसे मिलतीं तो प्रणम्य भाव से ही मिलतीं। इसी प्रकार मैंने यह भी देखा कि अपने बुंदेलखण्डी मन से जब वे एवं उनके पति के साथ कथाकार गोविन्द मिश्र से मिलतीं तो आंचलिक मिठास के साथ एक पवित्र बंधुत्व की सुगंध वे पैदा कर देती थीं। उनमें एक विशेषता यह भी है कि कई परिवारों या सहकर्मियों के बीच अगर कोई विवाद होते वे देखतीं, तो अपनी मनोवैज्ञानिक संवेदना के साथ उस विवाद या विरोध को वे सामंजस्य एवं सहिष्णुता में बदल देतीं।

एक और विशेषता उनमें मैंने यह भी देखी कि उन्होंने एक प्रसिद्ध कथाकार के रूप में स्थापित हो जाने के बावजूद कभी मुझसे किसी पुरस्कार के लिये अनुशंसा करने को नहीं कहा न कभी अपने किसी कहानी संग्रह की समीक्षा या समालोचना के लिये आग्रह किया। जब वे डी. लिट्. कर रहीं थीं तो एक–दो बार मुझसे उनका संवाद अवश्य हुआ लेकिन अपनी डी. लिट् का कभी ढिंढोरा नहीं पीटा। एम.एल.बी. कॉलेज में वैसे

तो में कई बार उनके द्वारा आमंत्रित हुआ लेकिन जब उन्होंने 'दिक् काव्य' को लेकर सेमिनार किया तो मुझे विशेष रूप से आमंत्रित किया, यद्यपि मेरा पेपर कुछ ज्यादा ही लम्बा होने और तकनीकी कारणों से हिट तो नहीं हुआ तथापि उर्मिला ने कहा कि आपका पर्चा जिस स्तर का था, उसके लिये उस समय की आडियंस नहीं थी। वह एक गंभीर आलेख है, जो उन्होंने बाद में सेमिनारों के आलेखों के संग्रह में प्रकाशित किया।

उनके दो बेटे हैं। दोनों का उनकी आकांक्षा के अनुरूप एयर पायलट का करीयर बनाने के लिए उन्होंने किसी से कोई सहायता माँगने के बजाय अपना अत्यन्त भव्य मकान बेच दिया और जिसका परिणाम है कि दोनों बेटे अमेरिका में अन्तरराष्ट्रीय एयर-पायलेट हैं। इसी प्रकार उनकी आँखों में जब गंभीर समस्या पैदा हो गई तो उन्होंने अपने डॉक्टर पति के साथ मिलकर अपना महँगा इलाज स्वयं ही करवाया बिना किसी का अहसान लिये। मैंने देखा भोपाल के अन्य साहित्यकार अपनी-अपनी प्रतिबद्धता या शिविरबद्धता के कारण, निरपेक्षभाव से कई साहित्य एवं कला आयोजनों में नहीं जाते लेकिन उर्मिला ने ऐसा कोई पूर्वाग्रह नहीं पाला। इसी प्रकार वे अपनी संस्था से स्पन्दन सम्मान प्रतिवर्ष देती हैं लेकिन पुरस्कार या सम्मान के बदले किसी अन्य सरकारी या गैर सरकारी संस्था से उन्होंने कोई विनिमय नहीं किया है और अपनी संस्था से भी पात्रता के अनुसार स्थापित और युवा रचनाकारों को निष्पक्ष भाव से सम्मानित भी किया। इसलिये स्पंदन सम्मान निर्विवाद रहे।

वे हिन्दी भवन, भोपाल की अनन्य सहयोगी हैं बल्कि एक प्रकार से उसका अभिन्न अंग हैं। दादा कैलाशचन्द्र पन्त उनके पिता के अत्यन्त आत्मीय और सम्मानीय मित्र थे। इस नाते वे पंत जी को भी पिता तुल्य मानती हैं। पिता की मृत्यु के बाद मैं जब पंत जी साथ शोक-संवेदना के लिये गया तो हम दोनों से चिपट कर वे इस कदर रोईं मानों वे अपने पिता की छवि में हमें देखकर अपने आगामी जीवन का आश्वासन चाहती हों।

एक और घटना का स्मरण आता है। उन्होंने प्रभाकर श्रोत्रिय पर जो ग्रंथ संयोजित किया उसका नाम है 'प्रभाकर श्रोत्रिय आलोचना की तीसरी परंपरा'। कुछ प्रतिष्ठित साहित्यकारों ने 'दूसरी परम्परा' के बाद 'तीसरी परंपरा' का गणित अंक के आधार पर मजाक उड़ाया। यदि 'दूसरी परंपरा' शुक्ल जी के आचार्य हजारी प्रसाद जी अन्य परम्परा या विकल्प डॉ. नामवर सिंह ने कहा है तो दूसरी का अर्थ दो नहीं है। इसी प्रकार तीसरी का अर्थ भी तीन नहीं क्योंकि वह एक दक्षिण पंथ और दूसरी वामपंथी पूर्वाग्रह से मुक्त तीसरी परंपरा है और वह उन दो परम्पराओं से विचलन कर अपना विचारधारा मुक्त विकल्प रचती हैं। वह न तो दूसरी परम्परा का अनुकरण है न दो के बाद तीन का अंक।

उर्मिला शिरीष और शिरीष उर्मिला ये एक दम्पत्ति जोड़ा ही नहीं बल्कि साहित्यबद्ध जोड़ा भी है। डॉ. शिरीष जब भी मेरे घर आये साथ उर्मिला भी आईं और डॉ. शिरीष जब हिन्दी साहित्य और साहित्यकार पर यह चर्चा करते तो मुझे लगता उर्मिला ने अपने प्रभाव से दवाई के डॉ. को भी साहित्य-प्रेमी या साहित्य का पाठक डॉक्टर बना दिया। उर्मिला का जो अपनत्व और अनन्य भाव अपने पारिवारिक एवं साहित्यिक संबंधों से मैंने देखा, उससे मुझे लगा कि किसी भी लेखक को चाहे वह कितना भी विख्यात क्यों न हो, विनम्र शालीनता का स्वभाव उर्मिला से सीखना चाहिए। साहित्य अहंकार का क्षेत्र नहीं, वह तो वाणी या भाषा के साथ व्यवहार की मृदुल, मधुरता और शालीनता की सृजन-भूमि है।

एक प्रसंग ऐसा है जिससे मुझे लगा कि उर्मिला अपेक्षितों के प्रति विशेष संवेदनशील हैं। सुपरिचित विचारक लेखक एवं 'शब्दयोग' पत्रिका के संरक्षक, संपादक संस्थापक भाई आर.के. पालीवाल से मेरा कोई परिचय नहीं था, लेकिन उर्मिला ने जब उनसे मुझ पर अंक संयोजित करने को कहा तो

स्वयं उर्मिला को अतिथि सम्पादक बना कर उन्होंने अंक प्रकाशित किया और यह भी कहा कि मैं रमेश दवे से उनके लेखन के माध्यम से परिचित हूँ। वे जब वरिष्ठ इनकम टैक्स कमिश्नर बन कर भोपाल में पदस्थ हुए तो उनसे फोन पर तो चर्चा होती रही। लेकिन मैं उनके रूबरू हुआ। गाँधी के डेढ़ सौवें वर्ष में उनके हिन्दी भवन में आगमन पर मेरी मुलाकात का श्रेय भी उर्मिला को ही है।

एक और ऐसा ही प्रसंग है। हिन्दी भवन के मंत्री संचालक और मेरे समवय भाई कैलाशचंद्र पंत ने मुझ पर 'सृजन-यात्रा' का निर्णय लिया और इसका दायित्व संपादक के रूप में उर्मिला को सौंपा। हिन्दी भवन का यह प्रतिष्ठित प्रकाशन है 'सृजन यात्रा' जिसमें नरेश मेहता, शैलेश मटियानी, रमेशचन्द्र शाह, गोविन्द मिश्र एवं कई और विख्यात व्यक्तित्व कृति-यात्री बने। इस शृंखला में मेरा एक कड़ी बानकर जुड़ना मेरे लिये गौरव की बात थी। उर्मिला ने तत्परता से कार्य प्रारंभ किया, लेखकों से सम्पर्क भी किया किन्तु कोरोना महामारी के संक्रमण काल में मेरी सृजन यात्रा लगभग विस्मृति की शिकार हो गई और उर्मिला जी एवं पंत जी ने मिलकर विस्मृति को पुन: स्मृति बनाकर वर्ष 2022 में मेरी सृजन-यात्रा प्रकाशित कर दी। इसके लिये मैं दोनों का कृतज्ञ हूँ।

उर्मिला से जुड़े प्रसंग तो अनेक हैं मगर संस्मरण को लेकर मेरी यह धारणा है कि व्यक्ति से अधिक उसका सृजन, उसका कार्य, आचरण या व्यवहार अधिक स्मरणीय हो जाता है। उर्मिला एक विदुषी लेखक है। उर्मिला विचारों में अत्यन्त उदार है। उससे अगर ईर्ष्या है तो ईर्ष्या भी एक गुण है क्योंकि जो ईर्ष्या कर रहे हैं, वे उर्मिला के उत्कर्ष को अपने कद से नापने की कोशिश में स्वयं बौने हो जाते हैं।

साहित्य-सृजन तो विधाओं की वसुधा है। यहाँ कल्पना की उर्मियाँ लहराती हैं लेकिन उर्मियों को सर्जन में रूपांतरित कर देने का कला-सौष्ठव उर्मिला जैसी कथाकारों के पास होता है। मेरा उर्मिला के प्रति स्नेह दो कारणों से है-एक तो उसने मुझे अपने परिवार का हिस्सा मानकर वरिष्ठता का बड़प्पन दिया और दूसरे उसने मुझमें छोटा-मोटा लेखक और अध्येता पाठक देखकर मुझे महत्व दिया। जहाँ प्रभाकर श्रोत्रिय उर्मिला के लिए एक प्रकार की पितृ-संज्ञा थे, वहीं उनके रहने और उनके बाद मुझे उसी स्तर से सम्मान देने का जो संस्कार उर्मिला के पास है, वैसा तो आत्म-केन्द्रित, स्वार्थ केन्द्रित और अहंकार केंद्रित बड़े कहलाने वाले लेखकों के पास भी कम ही होता है।

अंत में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि संस्मरण ऐसी विधा है जो व्यक्ति की अनेक स्मृतियाँ जाग्रत कर देती है। मेरी संज्ञा अथवा प्रज्ञा में उर्मिला के जीवन-प्रसंग, साहित्य-प्रसंग और संस्था प्रसंग तो अनेक बार ऐसे उपजे जो उनके लेखन की माँग करते थे लेकिन हिन्दी भवन ने मेरी सुषुप्त स्मृतियों को जगाकर उर्मिला शिरीष जैसी प्रतिष्ठित कथाकार पर मुझे संस्मरण के लिये कहा, यह मेरे लिए इसलिये गर्व की बात है कि मातृ-ऋण, पितृ-ऋण, मित्र-ऋण, तो हमारी परंपरा में हैं लेकिन बेटी या शास्त्रों में कहा गया है-'शत पुत्रो: समो कन्या'। इसलिये उर्मिला गोस्वामी परिवार के साथ मेरे और मेरे परिवार की मानस पुत्री के रूप में गौरवमयी है और उनका साहित्यिक उत्कर्ष भी संस्मरण की सार्थकता है।

एस. एच. 8/19 सहयाद्रि परिसर,
भदभदा रोड, भोपाल-462003 (म.प्र.)
मो.- 07554244064

उर्मिला जी प्रथम भेंट में ही व्यक्ति की रचनात्मकता को भाँप लेती हैं

– अशोक मनवानी

विशेष – लेखक सिंधी एवं हिंदी दोनों ही भाषाओं के विद्वान हैं।

रचनाएँ – ग्यारह पुस्तकें प्रकाशित।

सम्मान – म.प्र. साहित्य अकादमी सहित अन्य संस्थाओं द्वारा सम्मानित।

एक अच्छा रचनाकार कई बार बहुत अच्छा मनुष्य भी होता है और इस कारण वह अपने इर्द-गिर्द अपनी ही अभिरुचि के लोगों को पहचान लेता है। इसके विपरीत आत्ममुग्ध वरिष्ठ लेखक साहित्यिक अभिरुचि के लोगों को पहचान कर भी उसे एक किनारे या अपने हाल पर छोड़ देता है। इस तरह दोनों प्रवृत्तियों के व्यक्ति हम समाज में देखा करते हैं।

मुझे सागर विश्वविद्यालय से ग्रेजुएशन और पत्रकारिता की डिग्री लेने के बाद पत्रकारिता क्षेत्र में अनेक लोगों ने मार्गदर्शन दिया। साहित्यिक लेखन की बात करूँ तो सागर में शिव कुमार श्रीवास्तव, भुवन भूषण देवलिया और रमेश दत्त दुबे मेरे लेखन के गुरु रहे। शासकीय सेवा में आने के बाद लेखन की अपनी सीमाएँ हो जाती हैं। लेकिन ऐसे विषय जो धर्म और राजनीति आदि से परे हों उन पर लिखने की संभावनाएँ सदैव विद्यमान रहती हैं। इसके साथ ही शासकीय सेवा में आने के पूर्व मैंने जो लेखन किया उसमें कहीं साहित्य से जुड़ी पत्रकारिता के उदाहरण भी मौजूद थे। अक्सर हम पुराने कार्यों को विस्तृत कर देते हैं। एक दिन भोपाल में उर्मिला जी से भेंट हुई तो उन्होंने सागर शहर का जिक्र निकलने पर कहा कि वहाँ आपको याद होगा मुंशी प्रेमचंद जी की बेटी भी रहती थी। मैंने कहा जी हाँ, उर्मिला जी, मैंने तो वर्ष 1986 में उनसे साक्षात्कार भी लिया था जो नई दुनिया इंदौर में प्रकाशित हुआ था।

उर्मिला जी की बाँछें खिल गईं। वे कहने लगीं प्रेमचंद जी की जयंती आ रही है। मैं चाहूँगी आप हमारे कॉलेज आएँ और उनसे मुलाकात का संस्मरण सभी को सुनाएँ। यह शिक्षक-शिक्षिकाओं और विद्यार्थियों के लिए उपयोगी रहेगा। नियत तिथि और बताए गए समय पर मैं एम.एल.बी. महाविद्यालय भोपाल पहुँच गया। कॉलेज के हिंदी विभाग में मेरा औपचारिक स्वागत हुआ। उर्मिला जी ने भी आयोजक संस्था की ओर से मेरा स्वागत किया। मैं अभिभूत हो रहा था लेकिन तभी मेरी नजर मंच पर मुकेश वर्मा जी पर पड़ी। वे भी मंच पर विराजित थे तो मुझे काफी संकोच हो रहा था। वर्मा जी मुझसे काफी वरिष्ठ हैं। मैं स्वयं को सहज महसूस नहीं कर पा रहा था। इसे भाँपते हुए उर्मिला जी ने कहा आप आराम से बैठ जाएँ। मुकेश वर्मा जी के पहले आपको बोलना है। जैसा आप से बन पड़े आप कहिएगा। हृदय के उद्गार व्यक्त कीजिएगा। उर्मिला जी के इस कथन और प्रोत्साहन से मेरा भय भी समाप्त हो गया और बाद में भारत भवन भोपाल में निरंतर दो साल प्रेमचंद जी की जयंती पर नाट्य मंचन के अवसर पर मुझे यही संस्मरण प्रस्तुत करने का अवसर मिला।

मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूँ कि एक व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति में मौजूद रचनात्मक संभावनाओं को जानता और समझ लेता है। ऐसे लोग जब यह अनुभव कर लेते हैं और उस व्यक्ति को अभिव्यक्ति का अवसर भी प्रदान करते हैं, तो यह साधारण घटना नहीं होती। ऐसे लोगों का आपके जीवन में बहुत महत्व होता है। मैं उर्मिला जी के रचना कर्म के बारे में कुछ न कह कर सिर्फ उनकी इस विशेषता को रेखांकित कर रहा हूँ जिसमें उन्होंने एक ऐसे व्यक्ति को मंच पर आकर अपनी बात कहने का अवसर दिया जो इस क्षेत्र का विशेष अनुभव नहीं रखता।

उर्मिला जी का आभारी हूँ जो उन्होंने मेरी हिम्मत बढ़ाई मेरा हौसला बढ़ाया।

9425680099

◆ 'अक्षरा' के जनवरी 2023 अंक में 21 कहानियाँ दी गई हैं। उससे यह अंक कहानी अंक बन गया है। सम्पादकीय दावा है कि चयनित कहानियाँ विशिष्ट हैं। उनके इस दावे की अधिकांश कहानियाँ पुष्टि करती हैं। ये कहानियाँ एक बने बनाये ढर्रे पर चलने वाली कहानियाँ न होकर बहुआयामी और जिंदगी की मार्मिक स्थितियों का साक्षात्कार कराती हैं। कई कहानियाँ इतनी प्रभावशाली हैं कि उन्हें पढ़कर मन-मस्तिष्क झनझनाता रहता है। पलाश के फूल, कोई परिचित, मन नहीं मानता, लोटा, पानी उतर गया, समोसे वाले का ठेला आदि कहानियाँ अविस्मरणीय हैं।

'पलाश के फूल' में एक गाँव की दयनीय दशा, ग्रामीणों की मानसिकता, स्कूल की दरिद्रता और शासन की अव्यवस्था का सचाई से रूबरू कराने वाला चित्रण है, जहाँ एक ईमानदार व्यक्ति अपनी ईमानदारी और कर्मनिष्ठा से माहौल को बदलता है। 'कोई परिचित' कहानी में कोरोनाकाल में श्मशान व शवदाह ग्रह का अत्यंत हृदय विदारक चित्रण है। ऐसी भीषण विषम स्थितियाँ और अमानवीय दृश्य अकल्पित हैं। 'लोटा' शीर्षक से छोटा किंतु कथ्य में सागर सा विस्तार और गंभीरता है। मानवीय परिस्थितियाँ और मानवता का मनोवैज्ञानिक चित्रण अंतर्मन को विचलित करने वाला तथा अंत अकल्पित है। 'समोसे वाले का ठेला' विषम और अभावग्रस्त परिवार की पीड़ादायक अकल्पित परिस्थितियों की कहानी है जहाँ मनुष्यता के जिन्दा रहने की झलक है। 'पानी उतर गया' अवसरवादी स्वार्थी मानसिकता और धार्मिक सोच के पाखंड को सामने लाता है। धर्म पालन भी परिस्थितियों से चलता है। 'गंध' कहानी प्रवासी होकर भी अंतरात्मा से देशी है। 'लांछन' बेबसी और प्रेम की विवश रूप। इस प्रकार की कहानियाँ मन-मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डालती हैं। कहानियों का चयन चयनकर्ता के साहित्यिक दृष्टिकोण का परिचायक है। संवेदना का गहन संसार इन कहानियों में है।

गंगा प्रसाद बरसैंया, सतना (म.प्र.)
मो.-9425376413

◆ 'अक्षरा' अंक 215 नरेश मेहता विशेषांक फरवरी 2023 प्राप्त हुआ। आभारी हूँ, कृतज्ञ हूँ। 'अक्षरा' का यह अंक श्री नरेश मेहता के व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व का समग्र मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। 'अक्षरा' के इस अंक में जहाँ मुख पृष्ठ के बायें तरफ श्री नरेश मेहता का सचित्र परिचय है, वहीं अंतिम पृष्ठ पर सुभद्रा कुमारी चौहान की कहानी 'होली' मानवीय संवेदना का अद्‌भुत यथार्थ प्रस्तुत करती है।

'अक्षरा' का यह अंक जहाँ श्री नरेश मेहता के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के हर पहलुओं का मूल्यांकन प्रस्तुत करता है, वहीं श्री नरेश मेहता की कविताओं का पुनर्पाठ और उनकी कहानी 'चाँदनी' भी अंक को विशिष्ट बनाती है। श्री नरेश मेहता से साक्षात्कार और उन पर संस्मरण भी अद्‌भुत है। इस अंक में ललित निबंध, शोध आलेख, रिपोर्ताज, अनुवाद जहाँ महत्त्वपूर्ण हैं, वहीं कहानी 'जीवंत कविता' आज के तथाकथित लेखकों, कवियों के चरित्रों के पतन और झूठे मुखौटे पाखंड को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करती है।' पत्रिकाओं का संसार में 'विश्व में हिंदी' नयी सूचनाएँ जया केतकी जी देती हैं एवं विश्व में हिंदी की स्थिति प्रस्तुत करती हैं, जो अंक को विशिष्ट बनाती है। 'अक्षरा' समकालीन परिदृश्य में एक अनिवार्य पत्रिका है। मेरा यह सौभाग्य है कि मैं तीन दशकों से अधिक समय से 'अक्षरा' से भावात्मक एवं रचनात्मक रूप से जुड़ा हुआ हूँ।

विवेक सत्यांशु, इलाहाबाद (उ.प्र.),
मो.- 8957804144

◆ यह तो अब सुविज्ञात है कि अक्षरा का विगत वर्ष का प्रस्थान गहन, गंभीर, सुविचारित और नवनमोन्मेषपूर्ण था। इसके भाव और विचार बोध की आरम्भिक केन्द्रिक मनोभूमि से कुछ पारम्परिक पाठक वर्ग में प्रकट-अप्रकट बेचैनी झलकी थी किन्तु इसका अब प्राय: परिहार हुआ/ हो रहा है। वास्तव में इस समूह की कुल आशंका निर्मूल ही थी क्योंकि जिन्होंने इसके प्रधान संपादक श्री मनोज श्रीवास्तव को कालांतर में प्रत्येक छोटे-बड़े मंच पर परिपूर्ण आत्मीय निकटता से देखा, समझा है, उससे उसके निवारण के साथ ही अक्षरा के 'क्षरो' भाव की निवृत्ति हुई होगी। मैं तो आशा करता हूँ कि इस पत्रिका का वर्तमान इसकी परंपरा के विस्तार के साथ ही हिन्दी भाषा, साहित्य, संस्कृति और भारतीय लोक चेतना को वैश्विक पटल की ओर ले जाने में अवश्य सफल होगा।

प्रभुदयाल मिश्र, भोपाल (म.प्र.)
मो. - 9425079072

छायाचित्रों में डॉ. उर्मिला शिरीष

नरेन्द्र मोदी
प्रधानमंत्री

3 साल विकास के

शिवराज सिंह चौहान
मुख्यमंत्री, मध्यप्रदेश

अन्नदाताओं के हित में समर्पित मध्यप्रदेश सरकार

- गेहूं निर्यात में 46% की भागीदारी (21 लाख मीट्रिक टन से अधिक निर्यात) के साथ **मध्यप्रदेश देश में नं. 1**
- फसलों के उपार्जन के लिए **₹ 94 हजार 394 करोड़** किसानों को दिए गए
- 0% ब्याज दर पर किसानों को **₹ 47 हजार 745 करोड़** से अधिक का ऋण वितरण
- किसानों को खेती के लिए बिजली कनेक्शन में **₹ 37 हजार 522 करोड़** का अनुदान
- पीएम किसान सम्मान निधि एवं सीएम किसान कल्याण योजना के तहत किसानों को प्रतिवर्ष **₹ 10 हजार** की मदद
- 1 लाख 86 हजार हेक्टेयर क्षेत्र में प्राकृतिक खेती हेतु 60 हजार से अधिक किसान रजिस्टर्ड
- मध्यप्रदेश सरकार ने **₹ 17 हजार करोड़** से अधिक के बीमा दावों का किया भुगतान
- प्रदेश के 4 लाख से अधिक पशु और मछली पालकों को केडिट कार्ड जारी
- मध्यप्रदेश को लगातार 7 बार निला कृषि कर्मण अवॉर्ड

पिछले तीन वर्षों में विभिन्न योजनाओं के अंतर्गत
₹ 2 लाख 25 हजार 837 करोड़ के हितलाभ किसानों को वितरित

राहुल सांकृत्यायन

जन्म 9 अप्रैल 1893
प्रयाण 14 अप्रैल 1963

...सरस्वती हिंदी साहित्य के सारे अंगों का प्रतिनिधित्व करती थी। गद्य में कहानियाँ, निबंध, यात्राएँ आदि सभी होते। पद्य में स्फुट कविताएँ ही हो सकती थी क्योंकि विस्तृत काव्य को कई अंकों में देने पर वह उतना रुचिकर न होता। मालूम ही है कि हिंदी मातृभाषा तो हम में बहुत थोड़े से लोगों की है। मातृभाषाएँ लोगों की मैथिली, भोजपुरी, मगही, अवधी, कन्नौजी, ब्रज, बुंदेली, मालवी, राजस्थानी आदि भाषाएँ हैं। इनमें से कौरवी छोड़कर बाकी सभी हिंदी से काफी दूर हैं। इस कारण हिंदी व्याकरण शुद्ध लिखना बहुतों के लिए बहुत कठिन है। इन 22 भाषाओं के बोलने वालों को शुद्ध भाषा लिखने, बोलने, पढ़ने का काम सरस्वती ने काफी सिखाया और सबमें समानता कायम की। सरस्वती का यह काम प्रचार की दृष्टि से ही बड़े महत्व का नहीं था, बल्कि इससे व्यवहार में बहुत लाभ हुआ।

सरस्वती युग से पहिले यह बात विवादास्पद चली आती थी कि कविता खड़ी बोली (हिंदी) में की जाए या ब्रजभाषा में। गद्य की बोली हो, इसे लोगों ने मान लिया था। लेकिन पद्य के लिए खड़ी बोली को स्वीकार कराना सरस्वती और उसके संपादक पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी का काम था। बीसवीं सदी की प्रथम दशाब्दी में अब भी उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल में लोग ब्रजभाषा में कविता करते थे। उनकी ब्रजभाषा कैसी होती थी, इसे बतलाना कठिन है, क्योंकि भोजपुरी भाषाभाषी ब्रजभाषा को 'इतै', 'उतै' जैसे कुछ शब्दों को छोड़कर अधिक नहीं जानते थे। बहु-प्रचलित महाकाव्य रामचरित मानस था, जो अवधी का था, जिसका ज्ञान कुछ अधिक हो सकता था। ब्रजभाषा की कविताएँ बहुत कम प्रचलित थीं। तो भी आग्रह ब्रजभाषा में ही कवित्त और सवैया कहने का था। सरस्वती ने यह भाव मन में बैठा दिया कि यदि खड़ी बोली में गद्य, कहानी, निबंध लिखे जा सकते हैं और खड़ी बोली में उर्दू वाले अपनी शायरी कर सकते हैं, तो कविता भी उसमें हो सकती है। श्री मैथिलीशरण गुप्त खड़ी बोली के आदि कवियों में हैं। उनको दृढ़ता प्रदान करने वाले द्विवेदी जी थे।

प्राय: चार दशकों तक 'सरस्वती' का संपादन ही द्विवेदी जी ने नहीं किया, बल्कि इस सारे समय में साहित्यिक भाषा निर्माण के काम में द्विवेदी जी ने चतुर माली का काम किया। आगे आने वाली पीढ़ियाँ 'सरस्वती' और द्विवेदी जी के इस निर्माण कार्य को शायद भूल जाएँ। किसी भाषा के बारे में किसी एक व्यक्ति और एक पत्रिका ने उतना काम नहीं किया, जितना हिंदी के बारे में इन दोनों ने किया।

bob World

आज़ादी का अमृत महोत्सव

एक ऐसा बचत खाता जो है पूरी तरह से डिजिटल.

खाते के साथ पाएं आकर्षक उपहार

B3 | प्लस खाता शून्य शेष | एज खाता न्यूनतम ₹ 25,000/- | अल्ट्रा खाता न्यूनतम ₹ 50,000/-

एक खाता जो आपकी तरह रहता है ऑनलाइन.

क्यूआर कोड स्कैन करें
bobworld.com पर जाएं

बैंक ऑफ़ बड़ौदा
Bank of Baroda
विजया VIJAYA | देना DENA

प्रेषक, प्रकाशक, मुद्रक कैलाशचन्द्र पंत, भोपाल द्वारा, स्वत्वाधिकारी मध्य प्रदेश राष्ट्र भाषा प्रचार समिति, हिन्दी भवन, श्यामला हिल्स, भोपाल से प्रकाशित एवं श्रेया ऑफसेट, 4 लाजपत भवन, जोन-1, एम.पी.नगर, भोपाल से मुद्रित।